www.vitragvani.com

ॐ

श्री परत्मामने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय-पुष्प नं. २२

# प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि

भाग - ३

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित नियमसार परमागम पर हुए
**पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के
गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
**व्यवहारचारित्र अधिकार**
गाथा ५६ से ७६ तक

**हिन्दी अनुवाद व सम्पादन :**
**पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन**
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज०)

**प्रस्तुतकर्ता :**

**श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
**302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.**
**वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056**
**फोन : (022) 26130820**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

**प्रथम संस्करण :** 1000 प्रतियाँ
वीर निर्वाण 2536 विक्रम संवत् 2065 ईस्वी सन् 2009
(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 29 वें समाधि दिवस के अवसर पर)

**ISBN No. : 978-81-907806-3-6**

**न्यौछावर राशि :** 20 रुपये मात्र

**प्राप्ति स्थान :**

— **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्ण-कुंज, वी. एल. मेहता मार्ग
विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई - 400 056
e-mail - vitragva@vsnl.com

— **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट**
**तीर्थधाम मङ्गलायतन,**
अलीगढ़-आगरा मार्ग,
सासनी - 204216 (महामायानगर), उत्तरप्रदेश।
e-mail - info@mangalayatan.com

— **श्री टोडरमल स्मारक भवन**
ए-4, बापू नगर, जयपुर - 302015

टाइप सैटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

## प्रकाशकीय

श्री समयसार आदि परमागमों के गम्भीर रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री तीर्थङ्कर भगवान के शुद्धात्मानुभव प्रधान आध्यात्मिक शासन को जीवन्त रखनेवाले आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं और इस प्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्ता कर आपने असाधारण महान् उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्मविद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है, वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावनायोग का अद्भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशन करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तद्नुसार भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'नियमसार' पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का सङ्कलन '**प्रवचन-रत्न चिन्तामणि**' **भाग-३** के रूप में प्रकाशित करते हुए कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अति भक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

इस 'नियमसार' के प्रवचनकार परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी शुद्धात्मदृष्टिवन्त, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव-गुरु-धर्म के परम भक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के पारगामी, स्वानुभवरचंदी भावश्रुतलब्धि के धनी, सततज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासह सम्यक्अनेकान्तरूप अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम प्रवचनकार और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युगसृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्ययेता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूपसन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग-भक्ति के रंग से रंगा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्म नवनीत पूर्ण इस 'नियमसार' की प्रत्येक गाथा एवं कलश को सर्व ओर से छानकर, विराट अर्थों को इन प्रवचनों में खोला है। अतिशय सचोट, पर सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और प्रकृत विषयसंगत अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा पूज्य गुरुदेव ने 'नियमसार' के अर्थ गम्भीर सूक्ष्म भावों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाये हैं। जीव को कैसे भाव सहज रहें, तब जीव पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन समझा कहा जाए; कैसे भाव रहें, तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा गिना जाए; भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुव तत्त्व का (अनेकान्त सुसंगत) कैसा आश्रय हो तो द्रव्यदृष्टि यथार्थ परिणमी मानी जाए; कैसे-कैसे भाव रहें, तब स्वावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप, वीर्यादि की प्राप्ति हुई कहलाये - इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषयों को मनुष्य जीवन में बनते अनेक प्रसङ्गों के सचोट दृष्टान्तों से ऐसे स्पष्ट किये हैं कि आत्मार्थी को उस-उस विषय का स्पष्ट भाव भासन होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं और वह शुभभावरूप बन्धमार्ग में मोक्षमार्ग की मिथ्या कल्पना छोड़कर शुद्धभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक् पुरुषार्थ में जुड़ता है। इस प्रकार 'नियमसार' के स्वानुभूति दायक गम्भीर भाव हृदय में सीधे उतर जाएँ - ऐसी असरकारक भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाकर गुरुदेव ने आत्मार्थी जगत् पर अनहद उपकार किया है। 'नियमसार' में छिपे हुए अनमोल तत्त्वरत्नों का मूल्य स्वानुभव विभूषित कहान गुरुदेव ने जगत् विदित किया है।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षु जीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं - ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार 'नियमसार' शास्त्र में निहित अध्यात्म तत्त्वविज्ञान के गहन रहस्य अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्म-रुचि जागृत करके पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी खड़ी करानेवाले ये प्रवचन, जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष सत्समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं को अनन्य आधारभूत है। निरावलम्बन पुरुषार्थ समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ 'नियमसार' के सर्वाङ्ग स्पष्टीकरणरूप इन प्रवचनों में समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानों श्रुतामृत का सुख सिन्धु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्मतत्त्व की रुचि उत्पन्न करके पर के प्रति रुचि नष्ट करनेवाली

परम औषध है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटि के सभी आत्मार्थियों का अत्यन्त उपकारक है। पूज्य गुरुदेवश्री ने यह अमृतसागर समान प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदन के लिये अमोघ शस्त्र है; जो डाली और पत्रों को छुए बिना ही मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायु मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत है।

इस प्रवचन ग्रन्थ में जो नियमसार व्यवहार चारित्र अधिकार की गाथा ५६ से ७६ तक के प्रवचन सङ्कलित हैं।

इस प्रसङ्ग पर मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है, उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवन्दन करके भावना भाते हैं कि मुमुक्षुजन अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत् परमानन्द को पायें।

इस प्रवचन ग्रन्थ के प्रकाशन प्रसङ्ग पर इनके गुजराती सङ्कलनकार बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़ का हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने टेप अवतीर्ण करुणासागर गुरुदेवश्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध कर सङ्कलित कर जीवन्त रखा। इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद व सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन, बिजौलियाँ, राजस्थान ने किया है। लेजर टाइप सेटिंग का कार्य विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ एवं मुद्रण कार्य दिनेश जैन शास्त्री, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर द्वारा सम्पन्न हुआ है; अतः उक्त सभी के आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षु निज कल्याण साधें – ऐसी भावना हैं।

**ट्रस्टीगण**
**श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**

# सम्पादकीय

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम नियमसार पर हुए परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस भरपूर '**प्रवचन-रत्न चिन्तामणि**' **भाग-३** साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द सम्पूर्ण दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा के सिरमौर सन्त हैं। भगवान महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् स्मरण किये जानेवाले आचार्यश्री दिगम्बर परम्परा की पहचान हैं। आचार्यश्री के द्वारा रचित पञ्च परमागमों में नियमसार परमागम की रचना आचार्यश्री ने निजभावना के निमित्त की है। जैसा गम्भीर भावनाप्रधान ग्रन्थ है, उसके टीकाकार मुनि पद्मप्रभमलधारिदेव भी वैराग्य एवं अध्यात्म रस से सराबोर वीतरागी सन्त हैं। टीका में समागत कई विषय प्राय: अन्यत्र स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, उनमें कारणशुद्धपर्याय एक ऐसा ही विषय है।

समयसार की भाँति ही पूज्य गुरुदेवश्री नियमसार से भी काफी प्रभावित रहे और इस परमागम पर भी उन्होंने कई बार भाव-विभोर होकर प्रवचन किये हैं। उनके द्वारा प्रदत्त प्रवचन सद्गुरु प्रवचन प्रसाद तथा कैसेट्स/सी.डी. में उपलब्ध हैं। सन् १९७२ तथा ८० में हुए उनके प्रवचनों का गुजराती सङ्कलन '**प्रवचन-रत्न चिन्तामणि भाग-३**' के रूप में श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट, मुम्बई से प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दी भाषा में अभी तक इन प्रवचनों की अनुपलब्धता एवं साधर्मीजनों की माँग को दृष्टिगोचर रखते हुए इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद इस ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नियमसार के चौथे व्यवहारचारित्र अधिकार की गाथा ५६ से ७६ तक के प्रवचन संकलित हैं। यद्यपि यह अधिकार व्यवहारचारित्र का है, तथापि इसमें टीकाकार ने

निश्चय की बात को मुख्य रखकर भूमिकानुसार व्यवहार का ज्ञान कराया है। यह सम्पूर्ण वर्णन मूलरूप से पठनीय तो है ही, साथ ही बिना सम्यग्दर्शन के मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड या शुभभाव में धर्म माननेरूप मिथ्याबुद्धि का भी प्रक्षालन करने योग्य है।

इन प्रवचनों का अनुवाद करते हुए परमपूज्य आचार्यश्री के साथ-साथ गुरुदेवश्री के प्रति भी अहो भाव जागृत होता है कि यदि गुरुदेवश्री अपनी सरल-सुबोध शैली में इन आचार्यश्री के हृदय को स्पष्ट नहीं करते तो हम अज्ञजन तत्त्वज्ञान के इन रहस्यों को कैसे समझ पाते? इस उपकार के लिए आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव के चरणों में नमोस्तु करता हुआ इस ग्रन्थ के रहस्योद्घाटक पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीचरणों में वन्दन करते हुए अपनी विनयांजली समर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल गाथा, हिन्दी टीका व कलश के साथ-साथ गाथाओं का बाबू युगलजी कृत पद्यानुवाद एवं कलशों का पण्डित अभयकुमारजी कृत पद्यानुवाद भी सम्मिलित किया गया है। प्रवचनों में समागत ग्रन्थ के मूल अंश को भी बोल्ड टाइप में दिया गया है।

इस अनुवाद के मूल प्रेरक मेरे तत्त्वज्ञान प्रदाता विद्यागुरु पण्डित कैलाशचन्दजी जैन, अलीगढ़ हैं। उनके द्वारा प्राप्त संस्कार ही इस कार्य में निमित्तभूत हैं – इसके लिए आपश्री का चिरऋणी हूँ।

इन प्रवचनों के प्रूफ संशोधन के लिए श्री पवन जैन, अलीगढ़ एवं प्रकाशन का अवसर प्रदान करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन गंगा में स्नान कर भवताप का शमन करें – यही भावना है।

**देवेन्द्रकुमार जैन**
बिजौलियाँ,
जिला-भीलवाड़ा (राज.)

# अनुक्रमणिका


| | | |
|---|---|---|
| गाथा – ५६ | ........ | १ |
| गाथा – ५७ | ........ | २१ |
| गाथा – ५८ | ........ | २७ |
| गाथा – ५९ | ........ | ३२ |
| गाथा – ६० | ........ | ३८ |
| गाथा – ६१ | ........ | ६० |
| गाथा – ६२ | ........ | ९९ |
| गाथा – ६३ | ........ | ११६ |
| गाथा – ६४ | ........ | १३७ |
| गाथा – ६५ | ........ | १५२ |
| गाथा – ६६ | ........ | १७२ |
| गाथा – ६७ | ........ | १८६ |
| गाथा – ६८ | ........ | १९७ |
| गाथा – ६९ | ........ | २०१ |
| गाथा – ७० | ........ | २०७ |
| गाथा – ७१ | ........ | २१९ |
| गाथा – ७२ | ........ | २४५ |
| गाथा – ७३ | ........ | २६२ |
| गाथा – ७४ | ........ | २७५ |
| गाथा – ७५ | ........ | २८२ |
| गाथा – ७६ | ........ | २९१ |

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

# प्रवचन-रत्न चिन्तामणि

( नियमसार प्रवचन भाग-३ )

## ४

## व्यवहारचारित्र अधिकार

### गाथा ५६

अब, व्यवहारचारित्र अधिकार कहा जाता है।

**कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।**
**तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं॥ ५६॥**

**कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम्।**
**तस्यारम्भनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम्॥ ५६॥**

(हरिगीत)

**रे जानकर कुल योनि, जीवस्थान मार्गण जीव के।**
**आरम्भ इनके से विरत हो प्रथम व्रत कहते उसे॥ ५६॥**

**गाथार्थ :** जीवों के कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि जानकर, उनके आरम्भ से निवृत्तिरूप परिणाम, वह पहला व्रत, अर्थात् अहिंसा महाव्रत है।

www.vitragvani.com



**टीका :** यह, अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है।

कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान के भेद और मार्गणास्थान के भेद पहले ही (४२ वीं गाथा की टीका में ही) प्रतिपादित किये गये हैं; यहाँ पुनरुक्तिदोष के भय से प्रतिपादित नहीं किये हैं। वहाँ कहे हुए उनके भेदों को जानकर, उनकी रक्षारूप परिणति ही अहिंसा है। उनका मरण हो या न हो, [१]प्रयत्नरूप परिणाम बिना, सावद्यपरिहार (दोष का त्याग) नहीं होता; इसीलिए प्रयत्नपरायण को हिंसापरिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री समन्तभद्रस्वामी ने (बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में श्री नमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए ११९ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(शिखरिणी)

**अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परम**
**न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।**
**ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थसुभयं**
**भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥**

(वीरछन्द)

**जग प्रसिद्ध यह सत्य, अहिंसा परम ब्रह्म है जीवों की।**
**जिस आश्रम में आरम्भ अणु भी, वहाँ अहिंसा नहीं रही॥**
**अतः अहिंसा सिद्धि हेतु, हे प्रभु तुमने द्वय-ग्रन्थ तजे।**
**विकृत वेष तथा परिग्रह में, करुणानिधि तुम नहीं रमे॥**

**श्लोकार्थ :** जगत् में विदित है कि जीवों की अहिंसा, परम ब्रह्म है। जिस आश्रम की विधि में लेश भी आरम्भ है, वहाँ (उस आश्रम में, अर्थात् सग्रन्थपने में) अहिंसा नहीं होती। इसलिए उसकी सिद्धि के हेतु, (हे नमिनाथ प्रभु!) परम करुणावन्त ऐसे आपश्री ने दोनों ग्रन्थ को छोड़ दिया (द्रव्य तथा भाव, दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़कर, निर्ग्रन्थपना अङ्गीकार किया) विकृत वेष तथा परिग्रह में रत न हुए।

---

*१. मुनि को (मुनित्वोचित) शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) देहचेष्टादिकसम्बन्धी शुभोपयोग, वह व्यवहार प्रयत्न है। [शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहार-प्रयत्न भी नहीं कहलाता।]*

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

और, (५६ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) —

(मालिनी)

**त्रसहतिपरिणामध्वांतविध्वंसहेतुः**
**सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः।**
**स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां**
**विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः॥ ७६॥**

(हरिगीतिका)

**त्रसघात परिणतिरूप तम के नाश का जो हेतु है।**
**जो लोक के सम्पूर्ण जीवों के लिए सुखरूप है॥**
**एकेन्द्रियों के विविध वध से जो बहुत ही दूर है।**
**जिनधर्म नित जयवंत जो आनन्द सागर पूर है॥**

**श्लोकार्थ :** त्रसघात के परिणामरूप अन्धकार के नाश का जो हेतु है, सकल लोक के जीव समूह को सुखप्रद है, स्थावर एकेन्द्रिय जीवों के विविध वध से जो बहुत दूर है और सुन्दर सुखसागर का जो पूर है, वह जिनधर्म जयवन्त वर्तता है।

## गाथा ५६ पर प्रवचन

**अब, व्यवहारचारित्र अधिकार कहा जाता है।**

यह नियमसार शास्त्र का व्यवहारचारित्र नामक चौथा अधिकार है। निश्चयसहित; अर्थात्, स्वभाव के आश्रय से वीतरागभावरूप शुद्धपरिणति हो, वहाँ होनेवाले व्यवहार का इसमें वर्णन है।

**प्रश्न –** व्यवहार तो दोष है, तब उनका वर्णन किसलिए किया है?

**उत्तर –** दोष को भी समझना चाहिए न! दोष है, उसका अस्तित्व है – ऐसा ज्ञान तो कराना चाहिए न! इसीलिए यहाँ उसका वर्णन किया है। दोष का ज्ञान कराने के लिए यहाँ बतलाया है कि ऐसे भाव होते हैं। जहाँ स्वद्रव्य का उग्र; अर्थात्, गुणस्थान के योग्य आश्रय है, वहाँ उस भूमिका में पराश्रित / परावलम्बी कषाय की मन्दता इस जाति की होती है – ऐसा यहाँ

www.vitragvani.com



बतलायेंगे। साथ ही यह भी कहेंगे कि ज्ञानी, व्यवहार प्रयत्न करता है क्योंकि यहाँ तो व्यवहार से बात की गयी है न!

**यह अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है।**

यह अहिंसाव्रत; अर्थात्, व्यवहार अहिंसाव्रत, क्योंकि यह तो व्यवहारचारित्र का अधिकार है न! अत: कहते हैं कि यह व्यवहार अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है; अर्थात्, व्यवहार अहिंसाव्रत की बात है।

**प्रश्न –** क्या अहिंसाव्रत दो जाति / प्रकार का है?

**उत्तर –** हाँ; अहिंसा दो प्रकार की है – (१) निश्चय अहिंसा, और (२) व्यवहार अहिंसा। निश्चय अहिंसा, वीतरागी परिणाम है और व्यवहार अहिंसा, रागरूप मन्दकषाय के परिणाम हैं। इस प्रकार वस्तुस्थिति है।

**कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान के भेद और मार्गणास्थान के भेद पहले ही (४२ वीं गाथा की टीका में ही) प्रतिपादित किये गये हैं; यहाँ पुनरुक्तिदोष के भय से प्रतिपादित नहीं किये हैं। वहाँ कहे हुए उनके भेदों को जानकर, उनकी रक्षारूप परिणति ही अहिंसा है।**

कुलभेद; अर्थात्, जीव की उत्पत्ति के (जीव के उत्पन्न होने योग्य) शरीरों के भेद; अर्थात्, योनि में उत्पन्न होनेवाले जीवों के शरीरों की विविधता को कुलभेद कहते हैं। वे सब मिलाकर एक सौ साढ़े सत्तानवें लाख करोड़ है।

जो उत्पत्तिस्थान हैं, उन्हें योनिस्थान कहते हैं। वे सब मिलाकर चौरासी लाख हैं। जीवस्थान के चौदह भेद हैं तथा मार्गणास्थान के भी चौदह भेद हैं। इन कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान तथा मार्गणास्थान का वर्णन पूर्व में ४२ वीं गाथा में आ गया है; इसलिए यहाँ उनकी पुनरावृत्ति करने का कोई कारण नहीं है। इन भेदों को जानकर... देखो, यही गाथा में भी कहा है कि **जाणिऊण –ज्ञात्वा;** अर्थात्, जीव के कुलभेद कैसे हैं? जीव की उत्पत्ति कहाँ-कहाँ होती है? जीव के भेद कितने हैं और मार्गणा के भेद कितने हैं? – इन्हें जानना, ऐसा कहते हैं।

**प्रश्न –** यह जानना तो अप्रयोजनभूत है?

**उत्तर –** परन्तु ऐसा जानने का व्यवहार है या नहीं? और वह एक न्याय से प्रयोजनभूत भी

है। अहिंसा; अर्थात्, राग की मन्दता के परिणामों के लिये उन जीवस्थानादिवाले जीवों को जानना प्रयोजनभूत है। किस-किस प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं? (कुलभेद)। कहाँ-कहाँ जीव उत्पन्न होते हैं? (योनिभेद)। किस-किस प्रकार की जीव की जाति है और मार्गणा की जाति में कहाँ-कहाँ जीव है? - यह जानना प्रयोजनभूत है।

**प्रश्न** – यह तो बहुत विकल्प हुए?

**उत्तर** – तो भी वे होते हैं न! ऐसा जानने का व्यवहार है या नहीं? है; इसलिए ये भेद जानने के लिए प्रयोजनभूत है; अर्थात्, इन्हें जानना तो चाहिए कि ऐसे भेद हैं, बस इतना! क्योंकि इन्हें जाने बिना जीवों की हिंसा का त्याग किस प्रकार करेगा? जीवों के स्थान कहाँ-कहाँ हैं - इसके ज्ञान के बिना जीवहिंसा के परिणाम का त्याग किस प्रकार करेगा? और व्रत की बात कहकर, किसी को एकदम मोक्ष नहीं हो जाता - यह कहना है। आशय यह है कि मुनिराज, अन्दर / आत्मा में स्थिर हैं तो भी अभी उनको परावलम्बी रागभाव रहता है - यह कहना है।

अहा! जो सर्वथा वीतरागी हो गये हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है परन्तु जिन्हें स्वरूप का उग्र अवलम्बन है, प्रचुर स्वसंवेदन है, उनकी भूमिका में हिंसा के त्यागरूप अहिंसा के ऐसे परिणाम होते हैं - यह कहना है। वे, कहाँ-कहाँ जीव हैं, उन्हें जानकर, उनकी हिंसा के पाप-परिणाम का त्याग करते हैं और उन्हें अहिंसाव्रत होता है।

**प्रश्न** – यह अहिंसाव्रत तो मुनि के लिये है न?

**उत्तर** – हाँ, यहाँ तो मुनि की बात है परन्तु दूसरों को भी तो यह जानना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को भी मुनि होने के पूर्व मुनिपना कैसा है, चारित्र कैसा है - क्या यह नहीं जानना चाहिए? चारित्र कैसा होता है, चारित्र में व्रत कैसे होते हैं, व्रत में भी अहिंसा के परिणाम कैसे होते है और कैसी हिंसा का त्याग होता है? - इसका ज्ञान समकिती को भी होता है। उसे चारित्र नहीं है तो क्या चारित्र का ज्ञान भी नहीं होता है? ज्ञानी को केवलज्ञान नहीं है तो क्या केवलज्ञान का ज्ञान भी नहीं है; इसी प्रकार उसे अहिंसाव्रत नहीं है तो क्या अहिंसाव्रत का ज्ञान भी नहीं है? यह तो योगसार में भी आता है कि छह द्रव्यों को प्रयत्न से जानना चाहिए। यही बात यहाँ भी है। वहाँ जो प्रयत्न की बात की है, वही बात यहाँ भी की है। अहा! यह तो सब एक ही लाईन है; अर्थात्, समस्त सन्तों की एक ही बात है।

यहाँ कहा है कि **उनके भेदों को जानकर...** यह जानना, चौथे गुणस्थान में भी होता है और छठवें गुणस्थान में भी होता है। तथा देखो! **उनकी रक्षारूप परिणति...** – ऐसा कहा है, वह भी व्यवहार कथन है। उनकी रक्षारूप परिणति का यह अर्थ नहीं है कि उन दूसरे जीवों को बचा सकते हैं। वस्तुतः यह तो व्यवहार की भाषा है। अन्य को न मारनेरूप परिणति / रक्षा का अर्थ यह है कि हिंसा के परिणामों का त्याग, और यही अहिंसा है। यह अहिंसाव्रतपरिणति, शुभपरिणाम है; अर्थात्, अभी इतना विभावभावरूप मन्दराग होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि समिति में रक्षा करना कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि अन्य जीवों को दुःख न हों – ऐसे प्रयत्न परिणाम है और उन्हें ही 'रक्षा की' – ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः तो अन्दर में अपने परिणाम का ही हिंसा के परिणाम से बचाव है; पर की रक्षा का कथन तो व्यवहार है।

**उनका मरण हो या न हो, प्रयत्नरूप परिणाम बिना सावद्यपरिहार / दोष का त्याग नहीं होता।**

यहाँ प्रयत्न; अर्थात्, व्यवहारप्रयत्न की बात है। अन्य जीव मरें या न मरें, उसके साथ हिंसा अथवा अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अन्य जीवों का मरण अथवा जीवन तो परद्रव्य की स्वतन्त्र पर्याय है, तथापि व्यवहारप्रयत्नरूप परिणाम के बिना, हिंसा के दोष का त्याग नहीं होता। देखो, हिंसा के परिणाम का त्याग, प्रयत्नरूप परिणाम के बिना नहीं होता – ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अशुभभाव से / सावद्य से बचने के लिए शुभभावरूप प्रयत्न होता है। इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में किया है कि —

*मुनि को (मुनित्वोचित) शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) देहचेष्टादिक सम्बन्धी शुभोपयोग, वह व्यवहारप्रयत्न है। [शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहारप्रयत्न भी नहीं कहलाता।]*

मुनित्वोचित = मुनित्व + उचित, अर्थात् मुनिपने के योग्य; मुनि जो कि छठवें गुणस्थान में हैं, उनके योग्य। जिन्हें उग्ररूप से अन्तर्मुख परिणाम प्रगट हुए हैं – ऐसे मुनि को तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्ध अवस्था प्रगट हुई है और वही मुनिपने के योग्य शुद्धपरिणति है। (मुनित्वोचित शुद्धपरिणति; अर्थात्, मुनिपने के योग्य तीन कषाय चौकड़ी के

अभावपूर्वक होनेवाली शुद्ध अवस्था।) मुनिराज को त्रिकाली ज्ञायकभाव का उग्ररूप से अवलम्बन करके जो शुद्धपरिणति; अर्थात्, वीतराग अवस्था प्रगट हुई है, वह चारित्र है, अर्थात् मुनि के योग्य शुद्धपरिणति है और उसके साथ देखकर चलना इत्यादि सम्बन्धी अन्दर में जो हठरहित शुभोपयोग है, वह व्यवहारप्रयत्न है; जबकि निजस्वरूप में स्थिर होना, निश्चयप्रयत्न है। लो, इसमें तो प्रत्येक पर्याय की सम्भाल ली है। कहो, ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कहाँ हो सकती है ?

**प्रश्न –** पर्याय का क्या काम है ?

**उत्तर –** क्या पर्याय वस्तु नहीं है ? पर्याय की अस्ति है या नहीं ? भले ही शुभपरिणाम, वैभाविक / विकारीपर्याय है, तथापि उसकी अस्ति है या नहीं ? इसलिए उसे भी जानना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि कुलभेद, योनिभेद; अर्थात्, जीव की उत्पत्ति स्थानों के भेद, जीवस्थानों के भेद और मार्गणास्थानों के भेद को जानकर, सावद्य के परिणामों को व्यवहारप्रयत्न से त्याग करने को अहिंसाव्रत कहते हैं। भाई ! ऐसी बात है। अहो ! शुभोपयोग, व्यवहारप्रयत्न है और अन्दर में शुद्धोपयोग; अर्थात्, स्वाश्रय से उत्पन्न हुई शुद्धपरिणति, वह निश्चयप्रयत्न है।

**प्रश्न –** क्या, दोनों प्रयत्न एक साथ होते हैं ?

**उत्तर –** हाँ, दोनों प्रयत्न एक साथ होते हैं, तथापि राग की रचना करना, वह नपुंसक वीर्य है और स्वरूप की रचना करना, वह सच्चा वीर्य है। देखो, यहाँ व्यवहारप्रयत्न शब्द आया है, उससे यह इतनी बात चलती है।

अहा ! जो शुद्धपरिणति की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं और उस स्वरूप रचना करनेवाले वीर्य को निश्चयप्रयत्न कहते हैं, जबकि शुभभाव को व्यवहारप्रयत्न कहते हैं परन्तु वह व्यवहारप्रयत्न, अर्थात् नपुंसकता, तथापि अस्तिरूप से (होनेरूप से) वर्णन करते हुए मुनि को व्यवहारप्रयत्न होता है – ऐसा यहाँ कहना है। वस्तुतः तो अपने अस्तित्व का जो वास्तविक वीर्य है, वह तो शुद्धपरिणति की ही रचना करता है और उसे ही वीर्य कहते हैं।

आत्मा में एक वीर्य नामक गुण है, उसका धारक द्रव्य (आत्मद्रव्य) है; जहाँ उस अनन्त गुणों के एकरूप द्रव्य का आश्रय लिया, वहाँ वीर्यगुण, अनन्त गुणों की शुद्धपरिणति की रचना करता है और उसे ही सच्चा वीर्य व सच्चा–निश्चयप्रयत्न कहा जाता है। इस प्रयत्न के साथ

सावद्ययोग के परिणाम के त्यागरूप व्यवहारप्रयत्न होता है, तथापि वह व्यवहारप्रयत्न वीर्यगुण का सम्यक्; अर्थात्, वास्तविक कार्य नहीं है क्योंकि गुण का कार्य तो निर्मलरूप ही आता है, जबकि यह व्यवहारप्रयत्न तो शुद्ध सम्यक्परिणतिवाली भूमिका में मात्र शुभरागरूप होता है। कहो, ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त और वस्तुस्थिति को बतलानेवाले सन्तों के सिवाय कहाँ है ? कहीं नहीं है। यहाँ तो पर्याय-पर्याय की सम्भाल ली है।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ शुद्धपरिणति न हो; अर्थात्, जहाँ स्वरूप का आश्रय ही नहीं है, जहाँ पूर्णानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा का पर्याय में स्वीकार ही नहीं है, जहाँ आनन्दादि अनन्त-अनन्त गुणस्वभावमय पूर्णस्वरूप का 'वह इतना महातत्त्व है' – ऐसा पर्याय में स्वीकार ही नहीं है और जहाँ स्वद्रव्य की प्रतीति और उसका ज्ञान नहीं है, वहाँ शुभोपयोग, हठसहित होता है; अर्थात्, वहाँ अहिंसा के परिणामरूप शुभोपयोग हठसहित होता है और उसे तो व्यवहारप्रयत्न भी नहीं कहा जाता, क्योंकि व्यवहारप्रयत्न तो वहीं होता है, जहाँ पूर्ण शुद्धस्वरूप का स्वीकार होकर परिणति शुद्ध हुई है।

भाई ! शुद्धपरिणति में पूर्णस्वभाव का स्वीकार होता है; अर्थात्, शुद्धपरिणति में स्वीकार होता है कि यह स्वभाव पूर्ण है और इससे वह शुद्ध होता है। इस परिणतिरहित जो अकेला शुभपरिणाम है, उसे तो यहाँ व्यवहारप्रयत्न भी नहीं कहते। जिसे स्वभाव के आश्रय से निश्चयप्रयत्न है, जिसे त्रिकाली आत्मा की स्वीकृति की प्रसिद्धि पर्याय में प्रगट हुई है, उसे व्यवहारप्रयत्न होता है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

जिसकी पर्याय में पूर्ण स्वरूप प्रसिद्ध हुआ है, उस जीव की उस पर्याय को निश्चयप्रयत्न कहते हैं और वैसे जीव को होनेवाले शुभराग को व्यवहारप्रयत्न कहते हैं – यह वस्तु की स्थिति है। इसमें कुछ भी कम-ज्यादा करने जाएगा तो वस्तुस्थिति नहीं रहेगी – ऐसा मार्ग है।

अहा ! एक ओर तो ज्ञानी को कर्तृत्त्वबुद्धि छूट गयी है, तथापि शुभपरिणाम का परिणमनरूप कर्तृत्त्व है। क्या कहा यह ? कि प्रवचनसार में ४७ नयों में एक कर्तृत्त्वनय आता है। ज्ञानी को, शुभराग करने योग्य है – ऐसी कर्तृत्त्वबुद्धि तो छूट गयी है और इसलिए उसे शुद्धपरिणति हुई है परन्तु अभी परिणति एकदम शुद्ध नहीं हुई है; इसलिए शुभपरिणति होती है – इस कारण 'परिणमता है, वह कर्ता' – इस अपेक्षा से, शुभपरिणतिरूप परिणमनेरूप कर्तापना ज्ञानी को होता है तथा वह कर्तापना ज्ञानी को ज्ञान में जाननेयोग्य भी है। देखो, शुभपरिणाम करनेयोग्य नहीं है –

www.vitragvani.com



ऐसा मानने पर भी ज्ञानी को शुभपरिणति होती है और उसे यहाँ व्यवहारप्रयत्न कहा गया है। भाई! यह तो सम्यग्ज्ञान का धर्मकाँटा है कि जिसमें कुछ भी फेरफार; अर्थात्, कम-अधिक अथवा विपरीत नहीं चलता - ऐसी अद्भुत बात है।

यहाँ कहते हैं कि अन्य का मरण हो अथवा न हो, उसके साथ व्यवहारप्रयत्न का सम्बन्ध नहीं है तथा उस प्रयत्नरूप परिणाम के बिना दोष का त्याग नहीं होता; इसलिए व्यवहारप्रयत्न का ज्ञान करना चाहिए। इसीलिए तो छहढाला में कहा है कि '**बिन जानें तें दोष -गुणन को, कैसे तजिये-गहिये**' (छहढाला, ३/११) अर्थात्, बिना जानें, दोषों को कैसे त्यागा जा सकता है और गुणों को कैसे ग्रहण किया जा सकता है? इस प्रकार ज्ञानी को दोष जानना होता है, तथापि 'समयसार' में तो कहते हैं कि ज्ञानी, मुख्यरूप से शुद्धात्मा को जानता है और शुद्धरूप परिणमित होता है। **शुद्धं तु वियाणंतो शुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो;** अर्थात्, शुद्धात्मा को जानता-अनुभव करता हुआ जीव, शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है और **जाणंतो दु असुध्धं;** अर्थात्, शुद्धस्वरूप को छोड़कर जो अकेली अशुद्धता को जानता है, उसे **अशुद्धमेवप्पयं लहइ;** अर्थात्, अशुद्धता ही प्राप्त होती है। 'व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है' - ऐसा समयसार की १२ वीं गाथा में कहा है, उसका अर्थ यह है कि शुद्धस्वभाव को जानते हुए व्यवहार जाना जाता है - ऐसा व्यवहार होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है कि निश्चयसहित शुभराग हो तो उसे व्यवहार कहते हैं और कदाचित् निश्चय न हो तो भी वह जीव, निश्चय प्राप्त करेगा - इस अपेक्षा से उसके शुभराग को व्यवहार कहा जाता है। जो जीव, निश्चय प्राप्त करनेवाला है, उसके शुभोपयोग को परम्परा से, वर्तमान में व्यवहाराभास होने पर भी, व्यवहार कहा जाता है। भाई! मोक्षमार्गप्रकाशक में तो एक-एक बात को छानकर बहुत स्पष्ट किया है, एकदम स्पष्ट बात की है परन्तु जिसे सम्यक् प्रकार से जानना हो, उसके लिए यह बात है; जिसे हठ करके अपना असत्य रखना हो अथवा स्वयं ने जो विपरीत मान रखा है, उसका कुछ तो रखो - ऐसी हठ जिसे करनी हो, उस जीव के लिए यह बात नहीं है। भाई! शास्त्र में जो कहा है, उसे माननेवाला जीव ही आत्मा में रहेगा।

अहा! जिस पर्याय में पूर्णस्वरूप आत्मा का स्वीकार हुआ है, वह पर्याय कितनी महान है! अनादि से निमित्त, राग और पर्याय को मानते हुए 'भगवान आत्मा नहीं है' - ऐसा माना था। अस्तिरूप से / सत्तारूप से / होनेरूप से आत्मा होने पर भी उसे नास्तिरूप माना था, परन्तु अब

www.vitragvani.com



उसने पूर्ण परमेश्वर का स्वीकार किया तो वह शुद्धपर्याय कितनी महान! निमित्त, राग और एक समय की पर्यायरूप अंश के अस्तित्व का अभिप्राय छोड़कर, जिसने अभिप्राय में पूर्ण स्वभाववान भगवान आत्मा लिया / स्वीकार किया, वह शुद्धपर्याय कितनी महान! ऐसी शुद्धपर्याय की भूमिका में वर्तनेवाला शुद्धतारूप प्रयत्न, वह निश्चयप्रयत्न है और उस समय सावद्ययोग के परिणाम के त्याग के लिए वर्तनेवाला शुभोपयोग, वह शुभप्रयत्न / व्यवहारप्रयत्न है।

**प्रश्न** – दोनों प्रयत्न एक साथ वर्तते होंगे?

**उत्तर** – हाँ, एक साथ वर्तते हैं; यही बात तो यहाँ चल रही है। जहाँ अकेला शुभभाव है, वहाँ निश्चयप्रयत्न नहीं होने से, व्यवहारप्रयत्न भी नहीं है और जहाँ पूर्ण शुद्धता हो गयी है, वहाँ भी व्यवहार नहीं है। जबकि यहाँ तो जो साधकरूप से अन्तरस्वरूप को साधता है, ऐसे जीव को अभी पूर्ण साध्यदशा नहीं हुई है; इसलिए बाधकपना भी होता है – ऐसा कहते हैं। इसका कारण यह है कि यदि उसे बाधकपना हो ही नहीं तो पूर्ण हुआ कहलाए। अहा! भाई! यह तो निरन्तर स्वाध्याय करने का काल है।

अहा! स्वयं पूर्ण परमात्मस्वरूप है, उसका स्वीकार करने से जो परिणति प्रगट हुई, उसे निश्चयप्रयत्न कहते हैं और यह निश्चयप्रयत्न भी, पूर्ण प्रयत्न / वीर्यस्वरूप भगवान आत्मा की अपेक्षा तो अनन्तवें भाग कहा है। सम्पूर्ण वस्तु / आत्मा प्रयत्नस्वरूप ही है और उसमें से प्रगट होनेवाली निश्चयपरिणति है, वह तो अनन्तवें भाग का प्रयत्न है, जिसे कि शुद्धप्रयत्न / निश्चयप्रयत्न कहा जाता है।

दूसरे प्रकार से कहें तो त्रिकाली आत्मा तो प्रयत्नस्वरूप ही है, उसे जिस प्रयत्न ने स्वीकार किया, उस प्रयत्न को शुद्धप्रयत्न कहते हैं और उसके साथ होनेवाले सावद्ययोग के परिणाम के त्यागरूप परिणामों को शुभप्रयत्न कहते हैं।

देखो, एक पर्याय के दो भाग हैं – (१) शुद्धपरिणतिरूप भाग, (२) शुभपरिणतिरूप भाग। चारित्रगुण की एक समय की पर्याय में शुद्धस्वभाव के आश्रय से जितनी परिणति है, वह शुद्धपरिणति है और उस चारित्रपर्याय का जो अंश / भाग, शुभरागरूप परिणमित होता है, वह शुभपरिणति है। इस प्रकार चारित्रगुण की एक समय की पर्याय के कालभेद अपेक्षा दो भाग नहीं हैं, अपितु भावभेद से दो भाग हैं। कालभेद कहने से तो पहले शुद्धप्रयत्न / शुद्धपरिणति हो और बाद में शुभप्रयत्न / शुभपरिणति हो – ऐसा नहीं है, अपितु शुद्धप्रयत्न के / शुद्धपरिणति के काल

www.vitragvani.com



में ही उस पर्याय का एक अंश / भाग, पूर्ण वीतरागपरिणति नहीं होने से सावद्य से बचनेरूप होता है, जो कि शुभप्रयत्न है – ऐसा ही सहजस्वभाव है। देखो न! ऐसी बात सर्वज्ञ के अलावा अन्य कहाँ हो सकती है?

देखो, भाषा ऐसी ली है कि 'प्रयत्नपरायण को'; अर्थात्, व्यवहारप्रयत्नपरायण को अहिंसाव्रत होता है क्योंकि राग की मन्दतारूप प्रयत्न के बिना तीव्रराग का / सावद्य का त्याग नहीं होता है। इसी कारण जिसे हिंसा के परिणाम के त्यागरूप प्रयत्न वर्तता है, उस प्रयत्नपरायण को अहिंसाव्रत होता है – ऐसा यहाँ कहते हैं। लो, यह व्यवहार अहिंसाव्रत की बात की और फिर भी उसमें कितनी बात कर दी है।

अहा! जैसे, एक के बिना बिन्दु की क्या गिनती है? कुछ भी नहीं है; वर के बिना बारात की क्या कीमत है? कुछ भी नहीं और वर के बिना बारात किसकी? किसी की नहीं, क्योंकि वर होने पर ही बारात कहलाती है, वरना तो वह मनुष्यों का झुण्ड कहलाता है। इसी प्रकार पूर्ण स्वरूप के आश्रय से पूर्णता का स्वीकार होने पर भगवान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान की जो परिणति / दशा प्रगट हुई, उसके साथ स्वरूप की रमणता भी है और वैसी दशावन्त को, उसी काल में, उसी भूमिका के साथ हिंसा के परिणाम के अभावरूप प्रयत्न परिणाम होते हैं, उन्हें अहिंसाव्रत कहा जाता है। अरे! किन्तु अज्ञानी को तो व्रत क्या है? परिणाम क्या है? द्रव्य क्या है और गुण क्या है? इत्यादि का कुछ भी भान नहीं होता और 'हम व्रतधारी हैं' – ऐसा वह मानता है।

श्रीमद् में भी आता है न —

**लहा स्वरूप न वृत्ति का, ग्रहा व्रत अभिमान।**
**ग्रहे नहीं परमार्थ को, लेने लौकिक मान॥** *(आत्मसिद्धि, काव्य-२८)*

**प्रश्न** – व्यवहार, साधन और निश्चय, साध्य – क्या ऐसा शास्त्र में नहीं आता?

**उत्तर** – यह तो व्यवहार से 'व्यवहारसाधन की अस्ति है' – ऐसा बताया है। वस्तुतः तो साध्य, अर्थात् निश्चय प्रगट होता है, वह तो व्यवहारसाधन की अपेक्षा रखे बिना अपने आत्मद्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है।

**प्रश्न** – फिर भी पञ्चास्तिकाय में तो कहा है न कि व्यवहार, साधन और निश्चय, साध्य है। क्या वहाँ भेद / भिन्न साधन-साध्य नहीं कहा है?

www.vitragvani.com



**उत्तर –** सब कहा है, सुन तो! यह अहिंसाव्रत के परिणाम, साधन हैं और निश्चय, उसका साध्य है – ऐसा जो भिन्न साधन–साध्य कहा है, वह तो व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए कहा है। निश्चयपरिणतिरूप साधकपने में ऐसा व्यवहार का परिणाम होता है – ऐसा उसका ज्ञान कराया है। शुद्धपरिणतिरूप निश्चयसाधन है, उसका आरोप करके शुभपरिणति को व्यवहारसाधन कहा है; वस्तुत: तो वह साधन नहीं है। निश्चयसाधन और व्यवहारसाधन – ऐसा शास्त्र में कहा है परन्तु दो प्रकार का साधन है ही नहीं; हाँ, साधन का कथन दो प्रकार से है। साधन तो एक निश्चय ही है और वही यथार्थ साधन है, जबकि दूसरा व्यवहारसाधन, साधन नहीं है, तथापि जो साधन नहीं है, उसे व्यवहारनय साधनरूप से निरूपण करता है क्योंकि साधक की भूमिका में वैसा शुभभाव होता है – ऐसा बतलाने के लिए व्यवहार को भी आरोप से / उपचार से साधनरूप से कहा जाता है।

यहाँ कहा है कि हिंसा के परिणाम के त्यागरूप प्रयत्न में परायण को अहिंसाव्रत होता है।

**प्रश्न –** मुनिराज, निश्चय में प्रयत्नपरायण तो है ही, परन्तु उन्हें व्यवहारप्रयत्नपरायण भी क्यों कहा?

**उत्तर –** मुनि, हिंसा के परिणाम के अभाव करनेरूप प्रयत्न में परायण हैं; इसलिए वे व्यवहारप्रयत्नपरायण / व्यवहारप्रयत्न में तत्पर हैं – ऐसा कहा है। इस प्रकार उन्हें हिंसा के परिणाम को छोड़नेरूप / अभाव करनेरूप व्यवहारप्रयत्नपरायण कहा जाता है।

इस प्रकार यह व्यवहार अहिंसाव्रत की व्याख्या हुई।

अब, यहाँ स्वयंभूस्तोत्र का श्लोक ११९ द्वारा कहा गया है कि भगवान को विकृत वेष भी नहीं है और उपधि / परिग्रह भी नहीं है।

**जगत् में विदित है कि जीवों की अहिंसा, परम ब्रह्म है।**

यह निश्चय अहिंसा की बात है। वह अहिंसा, आत्मा का परम ब्रह्म / परम शुद्ध आत्मधर्म है। राग की उत्पत्ति हिंसा है और राग की अनुत्पत्ति अहिंसा है। स्वभाव के आश्रय से रागरहित वीतरागपरिणति की उत्पत्ति अहिंसा है और वह परम ब्रह्म है।

यही कहते है – जगत् में विदित है / प्रसिद्ध है, क्योंकि अहिंसा परमोधर्म – ऐसा कहा जाता है न! परन्तु वह अहिंसा कौनसी? जैसा पूर्णानन्द भगवान आत्मा है, वैसा श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार करके उसमें स्थिर होना, निश्चय परम अहिंसा है और वह परम ब्रह्म है।

दूसरे प्रकार से कहें तो अतीन्द्रिय आनन्द के साथ जो वीतरागदशा प्रगट होती है, उसे अहिंसा और परम ब्रह्म कहा जाता है।

**जिस आश्रम की विधि में लेश भी आरम्भ है, वहाँ ( उस आश्रम में, अर्थात् सग्रन्थपने में ) वह अहिंसा नहीं होती।**

जिस आश्रम की विधि में लेश भी आरम्भ है; अर्थात्, गृहस्थाश्रम में वस्त्र-पात्र आदि का राग होता है; इसलिए वहाँ रागसहितपना है। भले ही सम्यग्दृष्टि, दृष्टि और स्थिरता के अंश की अपेक्षा से रागसहित नहीं है, तथापि अभी उसकी पर्याय में राग वर्तता है - ऐसा यहाँ कहते हैं। देखो, एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव, राग, शरीर और कर्म से रहित है क्योंकि वह स्वयं को रागसहित नहीं मानता, जबकि यहाँ कहते हैं कि पाँचवें गुणस्थानवाला जीव भी सग्रन्थ है। इसका कारण यह है कि अभी उसकी भूमिका में राग है। हाँ, उसके त्रिकाली तत्त्व में और उसकी दृष्टि में भले ही राग न हो तथा पर्याय का जितना अंश / भाग निर्मलरूप प्रगट है, उसमें भी राग नहीं है, तथापि अभी चौथे और पाँचवें गुणस्थान में रागरूप कर्मधारा साथ है। अहो! अटपटा मार्ग है!

अहा! एक ओर पाँचवें गुणस्थानवाला आत्मा, स्वयं को रागरहित अनुभव करता है — ऐसा कहते हैं और दूसरी ओर उसे सग्रन्थ कहते हैं, क्योंकि उसकी भूमिका में राग है, उसे गिनकर सग्रन्थ कहा जाता है, वरना दृष्टि-अपेक्षा से तो समकिती भी निर्ग्रन्थ ही है। सम्यग्दृष्टि जीव, दृष्टि और ज्ञान में आत्मा को रागवाला नहीं मानता-जानता है। व्यवहारवाला आत्मा है - ऐसा धर्मी नहीं मानता, तथापि उसकी दशा में थोड़ा राग है, उसे गिनकर सग्रन्थ / रागवाला कहा जाता है।

अहा! एक ओर आत्मा, कर्मकृत शरीर और रागादि से रहित होने पर भी, उसके सहित मानना, वह मिथ्यात्व है - ऐसा कहते हैं और एक ओर ज्ञानी को पूर्ण ज्ञानधारा प्रगट नहीं है और अभी अन्दर में राग की कणिका / व्यवहारधारा है; इसलिए उसे सग्रन्थ जीव कहते हैं। अहो! ऐसी अद्भुत, अर्थात् बहुत अटपटी बात है। एक बोल में भी दूसरे बहुत प्रकार पड़ते हैं और यह शैली जानना चाहिए - ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि जिस आश्रम की विधि में / रीति में लेश भी आरम्भ है / राग है, उस

www.vitragvani.com



आश्रम में; अर्थात्, सग्रन्थपने में-गृहस्थपने में चौथे और पाँचवें गुणस्थान में भी यह अहिंसा नहीं होती, क्योंकि अभी वहाँ राग है-आरम्भ है।

अहा! राग, आरम्भ है और सम्यग्दृष्टि को दृष्टि में आरम्भ / परिग्रह का त्याग है कि ये आरम्भ-परिग्रह मेरा नहीं है, तथापि उसकी पर्याय की निर्मलधारा अल्प है; इसलिए साथ ही एक रागधारा भी होती है और वही आरम्भधारा है – ऐसा कहते हैं।

देखो, आरम्भ और परिग्रह से निवृत्ति का अर्थ यह है कि रागरूपी आरम्भ और परिग्रह से निवृत्त होना; यही वास्तविकरूप से आरम्भ और परिग्रह का त्याग है। इसके अतिरिक्त कोई बाह्य से प्रवृत्ति छोड़ दे तो उसने आरम्भ छोड़ा ही कहाँ है? क्योंकि आरम्भदशा और अनारम्भदशा किसे कहना – इसका तो उसे भान ही नहीं है तथा अनारम्भदशा प्रगट हुए बिना आरम्भ का त्याग कहाँ से आया? जिसमें राग नहीं है, विकल्प का अभाव है – ऐसा जो पूर्ण परमात्मस्वभाव है, उसका; अर्थात्, अनारम्भी और अपरिग्रही आत्मवस्तु है, उसका आश्रय लेने पर पर्याय में अनारम्भपना और अपरिग्रहपना प्रगट होनेवाले ने ही आरम्भ-परिग्रह का त्याग किया है।

अब कहते हैं कि समकिती को चौथे गुणस्थान में और श्रावक को पाँचवें गुणस्थान में ऐसा त्याग, दृष्टि और ज्ञान में होने पर भी, पर्याय में जितना राग अवशेष रहा है, उतना आरम्भ है और जहाँ राग / आरम्भ है, वहाँ पूर्ण अहिंसा नहीं होती है।

**इसलिए उसकी सिद्धि के हेतु (हे नमिनाथ प्रभु!) परम करुणावन्त ऐसे आपश्री ने दोनों ग्रन्थों को छोड़ दिया; अर्थात्, द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़कर, निर्ग्रन्थपना अङ्गीकार किया; विकृत वेश और परिग्रह में रत न हुए।**

हे भगवान! नमिनाथ प्रभु! आप परम करुणावन्त / अहिंसावान हो, क्योंकि आपने अहिंसा की सिद्धि के लिए राग का त्याग किया है। देखो, भगवान की अहिंसा यह है कि उन्होंने गृहस्थाश्रम के राग का त्याग किया है और उसे ही यहाँ भगवान की परम करुणा कही गयी है। यदि कोई राग को नहीं छोड़े तो उसका अर्थ यह हुआ कि अभी आत्मा के प्रति इतनी अकरुणा है परन्तु भगवान ने तो वस्त्र-पात्र तथा उनके प्रति राग का भी परित्याग किया था और ऐसा अपरिग्रहीपना तथा अनारम्भपना अङ्गीकार किया था। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों / परिग्रहों को छोड़ना ही उनकी परम करुणा है। निमित्तरूप से द्रव्यग्रन्थ, अर्थात् वस्त्र-पात्र इत्यादि और भावग्रन्थ,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



अर्थात् रागादि; इन दोनों का त्याग, यह परम करुणा है। इसमें किस पर करुणा की ? अपने पर ही। देखो तो सही ! यह अपनी पूर्ण करुणा !!

**करुणा हम पावत हैं तुमकी,**
**यह बात रही सुगुरुगम की;**
**पल में प्रगटे मुख आगल से,**
**जब सद्गुरु चरण सुप्रेम बसे॥** *( – श्रीमद् राजचन्द्र )*

पहले भी अपने पर करुणा तो थी ही; अर्थात्, दृष्टि और ज्ञान तो सम्यक् थे ही, परन्तु अब अपने पर परम करुणा हुई; अर्थात्, गृहस्थाश्रम का राग था, उसे भी छोड़ दिया। लो, इसका नाम मुनिपना है – यह कहते हैं। अज्ञानी तो वस्त्रसहित निर्ग्रन्थ मुनिपना मानता है परन्तु भगवान ! वस्तु के स्वरूप में यह विपरीत मान्यता नहीं चल सकती।

अहा ! अन्दर अविकार, अकषाय, वीतरागस्वभावी और महा–अनारम्भी प्रभु आत्मा विद्यमान है। उसका आश्रय लेने से जितना अनारम्भीपना प्रगट हुआ, उतनी अहिंसा है और जितना राग शेष रहा, उतनी हिंसा है। भगवान ! आपने तो बाह्यग्रन्थ, ऐसे वस्त्र–पात्र आदि और अभ्यन्तर ग्रन्थ, ऐसे रागादि–दोनों को छोड़ा है। यही आपकी निज आत्मा पर बहुत परम करुणा है। यह परम करुणा है। लो, भगवान को आत्मा की दया प्राप्त हुई – ऐसा कहते हैं। भगवान को सम्यग्दर्शन–ज्ञानरूप दया तो प्रगट हुई ही थी, अब राग के त्यागरूप; अर्थात्, चारित्ररूप भी आत्मा की करुणा–दया प्रगट हुई – ऐसा कहते हैं। जिन्हें निमित्त–ग्रन्थ में; अर्थात्, बाह्य ग्रन्थ में / परिग्रह में वस्त्र का धागा भी नहीं रहे और अन्तरङ्ग में रागादि का कण भी नहीं रहे, वे परम निर्ग्रन्थ हैं और उन्हें ही यहाँ परम करुणावन्त कहा गया है। यह वस्तु तो देखो !

अहा ! परम ब्रह्म भगवान आत्मा, त्रिकाल अहिंसास्वरूप ही है। इस परम ब्रह्म भगवान आत्मा का अस्तित्व जिस दृष्टि और ज्ञान ने स्वीकार किया, वह अहिंसादृष्टि और अहिंसाज्ञान है तथा (चारित्र में) उसका जितना आश्रय / स्वीकार हुआ, उतना चारित्र का अहिंसाभाव भी है परन्तु उस समय जितना परद्रव्य के आश्रय का राग शेष रहा, उतना वहाँ आरम्भ और हिंसा है। प्रभो ! आपने तो राग और द्वेष के निमित्त, ऐसे वस्त्र–पात्रादिरूप दोनों परिग्रहों को छोड़ा है। अहो ! आपको अपने पर महा–करुणा है। लो, करुणा ऐसी होती है ! इसके अतिरिक्त पर की दया तो कौन पाल सकता है ? क्योंकि अन्य जीव तो उसकी आयुप्रमाण जीता है और आयु न हो तो

www.vitragvani.com



मरण को प्राप्त हो जाता है; उसमें इस जीव का कोई अधिकार है ही नहीं; अर्थात्, पर को बचाने का भी अधिकार नहीं है और पर को मारने का भी अधिकार नहीं है। इसे तो मात्र, पर को मारने अथवा बचाने का भाव आता है परन्तु ये दोनों भाव राग हैं और राग है, वह आरम्भ है। लो, पर की दया पालने का भाव भी आरम्भ है – ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी कहता है कि बाह्य का आरम्भ छोड़ना, वह दया कहलाता है, जबकि भगवान कहते हैं कि उसका नाम हिंसा है; दया नहीं। भाई! तुझे पता नहीं है। दया तो उसे कहते हैं कि आत्मा निजस्वरूप में लीन होकर निश्चय अनारम्भरूप परिणमित हो। आत्मा, रागरहित वीतरागभावरूप परिणमित हो, उसे दया और अहिंसा कहते हैं।

कितने ही कहते हैं कि यह तो अकेली निश्चय की बातें हैं?

परन्तु भाई! निश्चय के साथ व्यवहार होता है – यह बात क्या नहीं आती? आती है। क्योंकि जो पूर्ण नहीं हुआ, उसकी तो यहाँ बात है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' पुस्तक में एक पत्र में आता है कि प्रदेश में निर्ग्रन्थरूप रहने से कोटी-कोटी विचार आते हैं तो वह निर्ग्रन्थपना, अर्थात् रागरहित दृष्टि का निर्ग्रन्थपना; राग की पकड़रहित जो स्वभाव की पकड़वाला निर्ग्रन्थपना है, वह; परन्तु छठवें गुणस्थान का निर्ग्रन्थपना नहीं। जबकि यह निर्ग्रन्थपना तो गृहस्थाश्रम के राग का अभाववाला है। (अर्थात्, यहाँ जो निर्ग्रन्थपने की बात है, वह छठवें गुणस्थान की है।)

यहाँ कहते हैं कि वस्त्र आदि का वेष तो विकृत वेष है; वह मुनि का वेष नहीं है। हे भगवान! आप उस विकृत वेष और उपाधि में / बाह्य परिग्रह में लीन नहीं हुए, अपितु भगवान आत्मा में लीन होने के लिए आपने निर्ग्रन्थपना प्रगट किया और उसे परमार्थ अहिंसाव्रत कहते हैं तथा उस भूमिका में राग की मन्दतारूप सावद्य के त्याग का प्रयत्न वर्तता है, उसे व्यवहार अहिंसाव्रत कहते हैं। लो, यह निश्चय और व्यवहार अहिंसा का स्वरूप है।

## कलश ७६ पर प्रवचन

यह नियमसार का व्यवहारचारित्र अधिकार है। उसमें यह पहली (५६ वीं) गाथा का कलश है। इस गाथा में अहिंसाव्रत की व्याख्या हुई है, यह उसका कलश है।

कैसा है जैनधर्म – वीतरागधर्म?

www.vitragvani.com



**त्रसघात के परिणामरूप अन्धकार के नाश का जो हेतु है।**

त्रसघात के परिणामरूप जो अशुभभाव है, वह अज्ञान-अन्धकार है क्योंकि उसमें ज्ञानस्वभाव का अभाव है। ऐसे जो त्रसघात के परिणाम हैं / ऐसा जो अज्ञानरूपी **ध्वांत,** अर्थात् अन्धकार है, उसके नाश का हेतु जैनधर्म है। तात्पर्य यह है कि जैनधर्म, अशुभपरिणाम के नाश का कारण है। यहाँ अशुभपरिणाम में भी त्रसघात के परिणाम लिये हैं क्योंकि यह अहिंसाव्रत का अधिकार है न!

**सकल लोक के जीवसमूह को जो सुखप्रद है।**

जैनधर्म, सम्पूर्ण दुनिया के / जगत् के / लोक के जीवसमूह को; अर्थात्, समस्त जीवों को सुखप्रद है; सुख और शान्ति देनेवाला है। लो, वीतरागभाव, सुख और शान्ति को देनेवाला है — ऐसा कहते हैं और उसे ही जैनधर्म कहते हैं।

**स्थावर एकेन्द्रिय जीवों के विविध वध से जो बहुत दूर है।**

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति – ऐसे जो स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं, उनके विविध वध से; अर्थात्, अनेक प्रकार के हनन से जैनधर्म बहुत दूर है। जैनधर्म, अर्थात् वीतरागभाव, एकेन्द्रिय जीवों के बध के परिणामों से अति दूर है। देखो, यहाँ कहा है कि बध के परिणामों से जैनधर्म अति, अर्थात् बहुत दूर है। तात्पर्य यह है कि त्रस-स्थावर जीवों के बध के परिणाम, अशुभ हैं, उनसे शुभभाव दूर है और शुभभाव से शुद्धभाव दूर है; इसलिए अशुभभाव तो जैनधर्म है ही नहीं, परन्तु शुभभाव भी जैनधर्म नहीं है।

**और सुन्दर सुखसागर का जो पूर है,**

अपना त्रिकालीस्वभाव जिनस्वरूप है, उसके आश्रय से प्रगट हुआ वीतरागभाव, जो कि जैनधर्म है, वह सुन्दर सुखसागर का पूर है। देखो, परिणाम में परम आनन्द का प्रवाह बहना, वह जैनधर्म है – ऐसा कहते हैं। अहा! धर्म, सुन्दर सुखसागर का पूर है। जैनधर्म; अर्थात्, वर्तमान निर्मलपरिणति की बात है। दूसरे प्रकार से कहें तो त्रिकाली जीव तो सुखसागर का पूर है ही; अर्थात्, जीव का परमस्वरूप तो परम आनन्दमय है ही, परन्तु यह तो जैनधर्म; अर्थात्, वर्तमान वीतरागीपरिणाम भी परम सुन्दर सुखसागर का पूर है – ऐसा कहते हैं। जिसमें शान्ति और सुख बहता है, जो शान्ति और सुख का परिणमन है, वह जैनधर्म है परन्तु शुभाशुभराग का परिणमन, वह जैनधर्म नहीं है।

www.vitragvani.com



समयसार की १५ वीं गाथा में शुद्धपर्याय को जैनशासन कहा है न! क्योंकि जैनधर्म पर्याय में है न! जिसने अन्दर में अबद्धस्पृष्ट आत्मा को जाना है, उसे पर्याय में वीतरागता और आनन्द बहता है और उसे ही जैनशासन-जैनधर्म कहते हैं। लो, यह जैनधर्म की व्याख्या! त्रस-स्थावर को नहीं मारना, उनकी दया पालना, वह जैनधर्म – ऐसी व्याख्या नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय को मारने के अशुभपरिणाम से तो जैनधर्म बहुत दूर है और उन्हें नहीं मारने के शुभपरिणाम से भी दूर है। अहा! व्रत के परिणाम से भी जैनधर्म दूर है – ऐसा कहते हैं। लो, यह जैनधर्म!

**'मूलमारग साँभलो जिन नो रे.....'** – ऐसा श्रीमद् राजचन्द्र में आता है न! तो यह शुद्धता ही जिनमार्ग है। जिस परिणाम के द्वारा जिनस्वरूपी भगवान आत्मा का अवलम्बन लिया, वह परिणाम वीतरागी है और वह जैनधर्म है। तात्पर्य यह है कि जैनधर्म, धर्मी के परिणाम में होता है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है! धर्मी जीव ने / साधक ने धर्मी, ऐसे त्रिकाली आत्मा के आश्रय से जो परिणाम प्रगट किये, वे परिणाम जैनधर्म है; अर्थात्, शान्तरसरूप परिणमन करना – अकषायभावरूप होना, वह जैनधर्म है, ऐसा यहाँ कहते हैं, क्योंकि यहाँ प्रगटरूप जैनधर्म की बात है परन्तु त्रिकाली (शक्तिरूप) जैनधर्म की बात नहीं है।

**प्रश्न** – यह तो एकान्त हो जाता है?

**उत्तर** – भाई! यह सम्यक् एकान्त ही है।

**स जयति जिनधर्मः; अर्थात्, वह जिनधर्म जयवन्त वर्तता है।**

देखो, जैनधर्म नहीं, किन्तु जिनधर्म कहा है और वह 'जयति', अर्थात् जयवन्त वर्तता है – ऐसा कहकर मुनिराज अपने परिणाम की बात करते हैं कि उस जिनधर्म का भाव हमारे परिणाम में जयवन्त वर्तता है। वह जिनधर्म कहीं अन्यत्र रहता है – ऐसा नहीं है परन्तु जो सर्व जीव समूह को सुखदाता हे, त्रस-स्थावर के बध के परिणामों से अति दूर है और सुखसागर का पूर है, वह जिनधर्म हमारे परिणाम में जयवन्त वर्तता है – ऐसा मुनिराज कहते हैं।

पूर्ण जिनस्वरूप भगवान आत्मा का अवलम्बन करके / आश्रय करके / उसके सन्मुख होकर जो परिणाम हुए, वह परिणाम हमें वर्तमान में वर्तते हैं और इसीलिए हमारे परिणाम में जिनधर्म जयवन्त वर्तता है। त्रस और स्थावर जीवों के बध के परिणाम से अति दूर – ऐसे हमारे परिणाम वीतरागभावरूप वर्तते हैं; इस कारण जैनशासन हमारे पास है, जिनधर्म हमारे परिणाम में

www.vitragvani.com



वर्तता है – ऐसा मुनिराज कहते हैं। तदुपरान्त वे यह भी कहते हैं कि उसका हमें पता है; इसीलिए तो कहते हैं न कि जिनधर्म जयवन्त वर्तता है। भाई! धर्म ऐसा अद्भुत है।

अहा! भगवान ने कहा और मैंने मात्र सुना कि जैनधर्म ऐसा होता है – यह नहीं कहा, परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि हमारे परिणाम में जैनधर्म, वर्तमान में वर्तता है और इसीलिए वह जयवन्त है, जीवित-जीवन्त है। अहा! मुनिराज को धर्म का जोश चढ़ गया है। वे कहते हैं कि हमें त्रिकाली वीतरागीस्वभाव में से प्रवाहरूप जो वीतरागीपरिणति उत्पन्न हुई है, वह जैनधर्म है। लो, ऐसा जैनधर्म है और ऐसे-ऐसे अनन्त परिणामों का पिण्ड जो जिनस्वरूप है, वह जीव का स्वरूप है। दूसरे प्रकार से कहें तो जैनधर्म जिस परिणाम में वर्तता है, वैसे-वैसे अनन्त परिणाम आत्मा में हैं – ऐसा वीतरागस्वरूप आत्मा है, उसके आश्रय से वीतरागधर्म प्रगट हुआ है और वर्तता है, ऐसा कहते हैं।

देखो, मुझे जैनधर्म है या नहीं – इसका स्वयं को पता चलता है। तात्पर्य यह है कि धर्म एक वीतरागपर्याय है और वह वीतरागपर्याय स्वयं को वर्तती है – ऐसा अपने को पता पड़ता है – यह कहते हैं। 'यह प्रीतिभोज है' – जैसे, विवाह के पश्चात् उत्साह से भोजन कराना प्रीतिभोज कहलाता है; इसी प्रकार यह जैनधर्म भी आत्मा के आनन्द का प्रीतिभोज है – ऐसा कहते हैं। देखो, यह वास्तविक जैनधर्म की व्याख्या!

**प्रश्न –** जैनधर्म कहाँ रहता है, मन्दिर में या पुस्तक में?

**उत्तर –** जैनधर्म जहाँ से प्रगट होता है, वहाँ रहता है। त्रिकाली भगवान आत्मा, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीतरागता, पूर्ण शान्त-शान्त-शान्त रसस्वरूप है; वहाँ से प्रगट होनेवाला शान्तरसमय अकषायभाव जैनधर्म आत्मा में रहता है और जयवन्त वर्तता है। ऐसा कहकर, धन्य रे मुनि धन्य! कि जिन्हें जैनधर्म जयवन्त वर्तता है और उन्होंने जीवन जीना जाना है – ऐसा कहते हैं। अपने स्तवन में भी आता है न कि '**जीवि जान्यों नेमनाथे जीवन**' – इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि 'जीवि जान्यो मुनिए जीवन जैनधर्म ना परिणाम थी' – जैनधर्म ऐसा अद्भुत है।

अहा! जैनधर्म कोई सम्प्रदाय अथवा बाड़ा नहीं है, अपितु वह तो वस्तु का स्वरूप है। जिनवीतरागस्वरूप परमात्मस्वरूप आत्मा के आश्रय से वीतरागता प्रगट होती है, वह जैनधर्म है और वह तो वस्तु की स्थिति है; इसलिए जैनधर्म कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं है। यहाँ मुनिराज

ने कहा है कि मेरी पर्याय में जैनधर्म जयवन्त वर्तता है; वह कहीं अन्यत्र वर्तता है, ऐसा नहीं है। मेरा भगवान आत्मा प्रसन्न होकर मेरी पर्याय में आया है। मेरा भगवान आत्मा कृपा करके वीतरागरूप होकर परिणाम में आया है; इसलिए वह जयवन्त वर्तता है; अर्थात्, मुझे अनुभव में आता है। मैं प्रत्यक्ष आनन्द और वीतरागभाव के वेदन में हूँ और वह जैनधर्म है – ऐसा मुनिराज कहते हैं।

ऐसा वीतरागधर्म है तो फिर यह सब मन्दिर बनाना इत्यादि किसलिए?

भाई! यह सब तो उस काल में होना हो तो उसके कारण होता है। हाँ, उस काल में जीव को शुभभाव हो तो उसे निमित्त कहा जाता है, तथापि वह शुभराग, धर्म नहीं है और फिर भी वह आता है। यह बात अद्‌भुत है! गजब है!

अहो! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा के समीप में गणधर और सन्त निज अन्तर के परिणाम में वर्तते हैं। ऐसे उस नित्यानन्दी के अनुभवी को यहाँ जैनधर्मी कहते हैं और उस (निज अन्तर) परिणाम को जैनधर्म कहते हैं किन्तु छह काय की – एकेन्द्रिय और त्रस की दया पालन करना, वह जैनधर्म है – ऐसा नहीं है क्योंकि उस परिणाम से जिनधर्म दूर है। छह काय के घात के परिणाम से और उनकी दया के परिणाम से भी जैनधर्म दूर है। लो, ऐसा ही उसका सहज स्वभाव है और जो ऐसा स्वीकार करता है, उसने जैनधर्म सुना – ऐसा कहते हैं, वरना उसने जैनधर्म सुना नहीं है।

देखो न! यह व्यवहारचारित्र अधिकार चलता है तो भी उसमें यह कहते हैं कि हम व्यवहार में नहीं वर्तते; हम तो वीतरागभाव में / निश्चय में वर्तते हैं। हाँ, व्यवहार का ज्ञान कराया है कि सावद्य के त्याग के परिणाम हों, उसे अहिंसाव्रत कहते हैं, तथापि (टीकाकार) कहते हैं कि उसमें हम नहीं वर्तते, हम तो अपने स्वभाव में वर्तते हैं। उसमें वर्तते-वर्तते जो व्यवहार होता है, उसका ज्ञान होता है।

अहा! ऐसा वीतरागमार्ग जयवन्त वर्तता है। धन्य मार्ग! जैसे, आत्मतत्त्व त्रिकाल जयवन्त है, वैसे ही यह वीतरागपरिणाम भी जयवन्त वर्तते हैं – ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार व्यवहारचारित्र अधिकार की यह पहली – ५६ वीं गाथा तथा इसका यह (७६ वाँ) कलश भी पूर्ण हुआ – यह तो अकेला मक्खन है! ●●

## गाथा ५७

**रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।**
**जो पजहदि साहु सया बिदियवदं होइ तस्सेव॥ ५७॥**

**रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा मृषाभाषापरिणामं।**
**यः प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव॥ ५७॥**

**जो राग, द्वेष रु मोह से परिणाम हो मृष–भाष का।**
**छोड़े उसे जो साधु, होता है उसे व्रत दूसरा॥ ५७॥**

**गाथार्थ :** राग से, द्वेष से अथवा मोह से होनेवाले मृषाभाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है, उसी को सदा दूसरा व्रत, अर्थात् सत्यमहाव्रत है।

**टीका :** यह, सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है।

यहाँ (ऐसा कहा है कि) सत्य का प्रतिपक्ष; अर्थात्, सत्य से विरुद्ध परिणाम, वह मृषापरिणाम है; वे (असत्य बोलने के परिणाम) राग से, द्वेष से अथवा मोह से होते हैं। जो साधु –आसन्नभव्य जीव, उन परिणामों का परित्याग करता है; अर्थात्, समस्त प्रकार से छोड़ता है, उसे दूसरा व्रत होता है।

अब, ५७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :–

(शालिनी)

**वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः**
**स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात्।**
**अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः**
**सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम्॥ ७७॥**

(हरिगीतिका)

**स्पष्टता से जो पुरुष, नित सत्य वाणी बोलता।**
**स्वर्ग की बहु देवियों को, एक वह ही भोगता॥**

**इस लोक में भी सर्वदा वह, सज्जनों से पूज्य हो।**
**सत्य से बढ़कर कहो सच, कौन जग में व्रत अहो।**

**श्लोकार्थ :** जो पुरुष, अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक भागी होता है (अर्थात, वह परलोक में अनन्यरूप से देवाङ्गनाओं के बहुत से भोग प्राप्त करता है) और इस लोक में सर्वदा सर्व सत्पुरुषों का पूज्य बनता है। वास्तव में क्या सत्य से अन्य कोई (बढ़कर) व्रत है ?

### गाथा ५७ पर प्रवचन

अब, सत्यव्रत की गाथा है।

**यह, सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है।**

**यहाँ (ऐसा कहा है कि) सत्य का प्रतिपक्ष; अर्थात्, सत्य से विरुद्ध परिणाम, वह मृषापरिणाम है; वे (असत्य बोलने के परिणाम) राग से, द्वेष से अथवा मोह से होते हैं। जो साधु-आसन्नभव्य जीव, उन परिणामों का परित्याग करता है; अर्थात्, समस्त प्रकार से छोड़ता है, उसे दूसरा व्रत होता है।**

यहाँ असत्यभाषा बोलने की बात नहीं है परन्तु असत्य बोलने के परिणाम की बात है। वे असत्य बोलने के परिणाम या तो राग से या द्वेष से या मिथ्याभ्रम से-मोह से होते हैं। जिसका मोक्ष निकट है / जिसे पूर्ण पर्यायरूप मोक्ष का परिणमन निकट है - ऐसा आसन्न भव्य जीव, झूठ बोलने के परिणाम को छोड़ता है। देखो; वह जीव, भव्य तो है, तदुपरान्त आसन्न भव्य है - ऐसा कहते हैं। भव्य जीव, मोक्ष प्राप्त करनेयोग्य तो है परन्तु वह तो पुरुषार्थ करेगा, तब मोक्ष प्राप्त करेगा। जबकि यह (सत्यव्रतवाला) जीव तो आसन्न भव्य है; मोक्ष प्राप्त करने की तैयारीवाला है, मोक्ष के अत्यन्त निकट है - ऐसा कहते हैं। देखो, यह भगवान सर्वज्ञ द्वारा कथित सत्यव्रत का स्वरूप!

अहा! कहते हैं कि राग-द्वेष और मोह से होनेवाले (असत्य बोलने के) अशुभपरिणामों को, जिसका मोक्ष; अर्थात्, सिद्धपद अब निकट है - ऐसा आसन्न भव्य जीव, अपने में वीतराग परिणामरूप वर्तता हुआ छोड़ता है। तात्पर्य यह है कि उसे ऐसा सत्य बोलने का विकल्प होता है।

दूसरे प्रकार से कहें तो उसे मृषाभाषा बोलने के परिणाम को छोड़नेरूप परिणाम होते हैं और उन्हें व्यवहारसत्यव्रत कहा जाता है। उसे यह दूसरा सत्यव्रत होता है।

जिसे अन्दर में पूर्ण वीतरागस्वभाव का साक्षात्कार हुआ है, जिसके परिणाम में पूर्ण जिनस्वभाव का साक्षात्कार हुआ है, जिसे परम सत्यस्वरूप त्रिकाली आत्मा का परिणाम में साक्षात्कार हुआ है, उसके वे परिणाम, वीतरागीपरिणाम हैं और वह निश्चयधर्म है। उस चारित्र की भूमिका में राग-द्वेष और मोह से होनेवाले झूठ बोलने के परिणामों का त्याग होता है; अर्थात्, सत्य बोलने का शुभविकल्प होता है और उस शुभविकल्प को व्यवहारसत्यव्रत कहा जाता है।

## कलश ७७ पर प्रवचन

**जो पुरुष अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक स्वामी होता है; अर्थात्, वह परलोक में अनन्यरूप से देवाङ्गनाओं के बहुत से भोग प्राप्त करता है।**

जो पुरुष अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है; अर्थात्, जिसे सत्य बोलने का भाव है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के पुष्कल / अनेक भोगों का एक भागी होता है। देखो, यह कहकर स्पष्ट किया है कि सत्यव्रत का जो शुभभाव है, वह तो संयोग देनेवाला है। वह शुभभाव है न! इसलिए उसके फलरूप में तो देवाङ्गनाओं इत्यादि का संयोग प्राप्त हो – ऐसा वह भाव है। देखो, यहाँ स्पष्ट किया है कि व्रत, शुभभाव है और उस शुभभाव से शुद्धता हो – ऐसा नहीं है।

**प्रश्न –** 'शुभभाव से शुद्धता होती है' – ऐसा बाद में तो कहेंगे?

**उत्तर –** यह बात तो 'परम्परा से' कहेंगे, क्योंकि व्यवहार में परम्परा से कहने की रीत है न!

यहाँ कहते हैं कि जो अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है; अर्थात्, जैसा सत्स्वरूप है, वैसा कहता है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक भागी होती है। देखो, यहाँ **'स्वर्गस्त्रीणा'** – ऐसा कहा है परन्तु वह सत्यव्रतवाला स्वर्ग में से मनुष्यपने में आयेगा – ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि वह यहाँ से / मनुष्यपने में से स्वर्ग में जाता है न! इसलिए स्वर्ग की स्त्रियों की बात की है। तात्पर्य यह है कि उसे स्वर्ग का संयोग प्राप्त होगा और वह इन्द्राणी के भोगों में; अर्थात्, कषाय के अङ्गारों से जलेगा – ऐसा कहते हैं।

www.vitragvani.com



सत्यव्रतवाला शुभभाव के फलरूप में इन्द्राणी / देवियों के भोगों को प्राप्त करेगा; अर्थात्, उस ओर का अशुभराग होगा और वह तो कषायभाव है। (इसलिए कषायरूपी अङ्गारों से जलेगा।) समयसार की ७४ वीं गाथा में आया है कि आस्रव दुःखरूप हैं तथा दुःखफलरूप हैं। आस्रव का फल दुःख है, जो आस्रवपरिणाम हैं, उनसे पुद्गलकर्म बँधता है, उस पुद्गलकर्म से संयोग प्राप्त होते हैं और उन पर लक्ष्य जाने से राग उत्पन्न होता है; इसलिए आस्रवरूप हैं। यद्यपि वहाँ तो शुभभाव से देवाङ्गनाओं के भोगों की प्राप्ति होना कही है क्योंकि (टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव) स्वयं मुनि हैं, इसलिए स्वर्ग में ही जाएँगे। यहाँ कहा है कि सत्य बोलने के शुभभाव से पुण्य बँधता है; इसलिए अनुकूल संयोग देनेवाला – ऐसा जो पुण्यबन्ध है, उसका वह निमित्त है और उस शुभभाव का फल दुःख है।

**प्रश्न** – इस श्लोक में तो सत्य की (शुभराग की) महिमा की है कि इससे बढ़कर दूसरा कौन है ?

**उत्तर** – यह तो अन्य व्रत की अपेक्षा से सत्य से बढ़कर दूसरा कौन है – ऐसा कहा है। इन्दौर के काँच मन्दिर में लिखा है कि —

**चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।**
**कागवीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥**

अरे! मनुष्य की विष्ठा तो अभी खाद में भी काम आती है और सूअर भी खाता है; जबकि कौए की विष्ठा तो खाद में भी काम नहीं आती। अतः धर्मी जीव, प्राप्त होनेवाले संयोगों को 'कागवीट सम' मानते हैं; अर्थात्, मानो कौए की विष्ठा प्राप्त हुई हो – ऐसा मानते हैं।

देखो, यहाँ व्रत के फल में स्वर्ग की स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं – ऐसा कहते हैं, तो भी ज्ञानी उन्हें ऐसा मानता है कि मानों कौए की विष्ठा प्राप्त हुई है। मेरा आनन्द तो मेरे ही पास है और जिसकी तरफ जाने से, वह आनन्द दूर हो, वह दुःख है – ऐसा ज्ञानी मानते हैं।

अहा! यहाँ तो शुभभाव का फल बताना है; इसलिए यह कहा है कि शुभभाववाला स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक भागी होता है; वरना वस्तुतः तो शुभराग दुःखरूप ही है। शुभभाव, वर्तमान में दुःखरूप है और भविष्य में भी उसका फल दुःख है क्योंकि वह संयोग देता है। शुभभाव, कैसा भी संयोग दे, परन्तु देता तो संयोग ही है। यद्यपि यहाँ स्त्री का संयोग

कहा है परन्तु वीतराग की वाणी आदि का संयोग दे तो भी वह दुःखरूप है। क्यों? क्योंकि उस संयोग पर लक्ष्य जाएगा तो राग ही होगा। अरे! शुभराग हो तो भी वह दुःख है – ऐसी वीतराग-वाणी है।

अहा! इस शुभभाव के फल में दुःख है। इससे वर्तमान में भी दुःख है और बाद में भी दुःख है परन्तु यहाँ तो शुभभाव का फल संयोग प्राप्त होना है, मात्र इतना बताना है; इसलिए इस अपेक्षा से बात की है, वरना शुभभाव से देवाङ्गनाओं का संयोग प्राप्त होगा, उस पर लक्ष्य जाएगा तो अशुभराग होगा, जो कि दुःख है। अरे! शुभभाव के फल में पुण्योदयरूप से भगवान की वाणी प्राप्त हो, समवसरण प्राप्त हो और वहाँ भगवान का सुयोग प्राप्त हो – यह बात लो तो भी उस पर लक्ष्य जाएगा तो शुभराग होगा और वह शुभराग, दुःख है। अतः सत्य ही कहा है कि शुभराग दुःखरूप है और दुःखफल है। अरे! ऐसा वीतरागभाव सुनने को मिले और फिर उसकी रुचि हो – यह अलौकिक बात है। बापू! यह कोई कोरी बात अथवा वार्ता नहीं है।

**...... और लोक में सर्वदा सर्व पुरुषों का पूज्य बनता है।**

सर्वदा, अर्थात् सभी काल में और सर्व, अर्थात् समस्त; इस लोक में भी सभी धर्मात्मा ज्ञानी पुरुष उसका आदर करते हैं, उसे बहुमान देते हैं, अर्थात् वह सत्पुरुषों का पूज्य बनता है।

**वास्तव में क्या सत्य से अन्य कोई ( बढ़कर ) व्रत है ?**

यहाँ वीतरागभाव की बात नहीं है कि सत्य उससे बढ़कर है किन्तु अन्य व्यवहारव्रतों की अपेक्षा बात है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य इत्यादि व्रतों में सत्यव्रत से बढ़कर दूसरा क्या है? आगे ७८ वें कलश में आयेगा कि 'व्रत क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है' परन्तु ऐसे कथन तो व्यवहार से ही आते हैं न! ऐसी बात आने पर अज्ञानी कहता है कि अहो....! इस प्रकार उसे हर्ष हो जाता है।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ वीतरागपरिणाम वर्तते हों, शुद्धपरिणति वर्तती हो, उस भूमिका में होनेवाले व्रत के परिणामों को व्यवहारव्रत कहा जाता है परन्तु जहाँ द्रव्यस्वभाव का भान और वीतरागी निर्मलपरिणति ही नहीं है, वहाँ तो शुभराग को व्यवहार भी नहीं कहा जाता, क्योंकि शुभराग को / व्यवहार को जाननेवाला जागृत नहीं है तो शुभराग को व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? 'मैं शुद्ध हूँ और यह राग भिन्न है' – ऐसी भिन्नता को जाननेवाला जागृत नहीं

www.vitragvani.com



हुआ; अर्थात्, राग से भिन्न रही हुई आत्मवस्तु को जाननेवाला, जो राग से भिन्न पड़ा हुआ भाव है, वह जहाँ जागृत (प्रगट) न हुआ हो, वहाँ व्यवहार कहना कैसे? परन्तु यहाँ तो जागृत हुए की बात है।

जिसकी दृष्टि और ज्ञानपर्याय ने पूर्णानन्द पूर्णस्वरूप प्रभु चैतन्य भगवान आत्मा को कब्जे में कर लिया है, उसे; अर्थात्, जहाँ निर्दोष वीतरागपर्याय वर्तती है – ऐसी भूमिका में होनेवाले व्रत के भाव को व्यवहारव्रत कहा जाता है। इसलिए यह अकेले व्रत की / शुभराग की बात नहीं है। अहा! ऐसा सूक्ष्म है। ●●

## इस दशा के बिना मुक्ति असम्भव

अन्तर में स्वरूप लीनता के आनन्द में रागादि का अभाव तथा बाह्य में वस्त्र के एक धागेमात्र का भी अभाव – ऐसी वीतरागी मुनिदशा होती है। यदि वस्त्र का एक धागा भी ग्रहण करने का लक्ष्य हो तो वह मुनिदशा में बाधक है।

चारित्रदशा में ऐसा उदासीनभाव प्रगट होता है कि मात्र देह के अतिरिक्त किसी परिग्रह पर लक्ष्य नहीं जाता और देह भी संयम के हेतु से और मूर्च्छारहितरूप से ही होती होने से वह परिग्रह नहीं है। जिनका जन्मोत्सव इन्द्रों द्वारा मनाया गया है, उन भगवान को भी अन्तरङ्ग में ऐसी चारित्रदशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता – ऐसा स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित स्वभाव है, वैसी आत्मा की राग-द्वेषरहित दशा हो और बाह्य में माता ने जैसा जन्म दिया, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो गयी हो – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुनिदशा में होता है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हुआ होने पर भी, बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्रादिक का सम्बन्ध रहे – ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। भगवान ऐसी पवित्रदशा की भावना भाते थे और आज (दीक्षाकल्याणक में) ऐसी दशा अङ्गीकार की है। *( - पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ १४० )*

## गाथा ५८

**गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।**
**जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव॥ ५८॥**

**ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा प्रेक्षयित्वा परमर्थम्।**
**यो मुंचति ग्रहणभावं तृतीयव्रतं भवति तस्यैव॥ ५८॥**

**कानन, नगर या ग्राम में जो देख पर वस्तु उसे।**
**छोड़े ग्रहण के भाव, होता तीसरा व्रत है उसे॥ ५८॥**

**गाथार्थ :** ग्राम में, नगर में या वन में परायी वस्तु को देखकर, जो (साधु) उसे ग्रहण करने के भाव को छोड़ता है, उसी को तीसरा व्रत, अर्थात् अचौर्यमहाव्रत है।

**टीका :** यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है।

जिसके चौतरफ बाड़ हो, वह ग्राम (गाँव) है; जो चार द्वारों से सुशोभित हो, वह नगर है; जो मनुष्य के सञ्चाररहित, वनस्पतिसमूह, बेलों और वृक्षों के झुण्ड आदि से खचाखच भरा हो, वह अरण्य है। ऐसे ग्राम, नगर या अरण्य में अन्य से छोड़ी हुई, रखी हुई, गिरी हुई अथवा भूली हुई परवस्तु को देखकर उसके स्वीकार परिणाम का (अर्थात्, उसे अपनी बनाने-ग्रहण करने के परिणाम का) जो परित्याग करता है, उसे वास्तव में तीसरा व्रत होता है।

अब, ५८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं –

(आर्या)

**आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह।**
**स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यंगनायाश्च॥ ७८॥**

**उग्र अचौर्य जगत में रत्नों का समूह आकृष्ट करे।**
**परभव में सुर-कामिनी कारण क्रमशः लक्ष्मी-मुक्ति वरे॥**

**श्लोकार्थ :** यह उग्र अचौर्य इस लोक में रत्नों के सञ्चय को आकर्षित करता है और (परलोक में) स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है तथा क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है।

## गाथा ५८ पर प्रवचन

**यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है।**

अब, ग्राम इत्यादि की अलग-अलग व्याख्या करते हैं।

**जिसके चौतरफ बाड़ हो, वह ग्राम ( गाँव ) है....**

गाँव उसे कहते हैं कि जिसके थूहर आदि की बाड़ हो, गाँवों में कहाँ गढ़ आदि होते हैं? वहाँ तो बाड़ होती है, इसलिए थूहर आदि की बाड़ हो, उसे गाँव कहते हैं। ऐसे गाँव में कोई वस्तु पड़ी हो / कोई उसे भूल गया हो अथवा गिर गयी हो अथवा बाद में लेने आऊँगा – ऐसा विचारकर किसी ने उसे रखी हो तो उसे ग्रहण करने के परिणाम को मुनिराज छोड़ देते हैं – इसका नाम तीसरा व्रत (अचौर्यमहाव्रत) है, जो कि शुभभाव है।

**जो चार द्वारों से सुशोभित हो, वह नगर है।**

पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण – ऐसे चारों ओर जिसके चार दरवाजे हों, उसे नगर कहते हैं। उसमें भी अन्य की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई परवस्तु को देखकर उसके स्वीकारपरिणाम / ग्रहण करने के परिणाम को छोड़े, इसका नाम तीसरा (अचौर्य) व्रत है। चारित्रवन्त के ऐसे परिणाम को तीसरा व्रत कहा जाता है।

अब, अरण्य की व्याख्या करते हैं कि अरण्य किसे कहते हैं?

**जो मनुष्य के सञ्चाररहित, वनस्पतिसमूह, बेलों और वृक्षों के झुण्ड आदि से खचाखच भरा हो, वह अरण्य है।**

अरण्य में वनस्पति का समूह होता है, बेलें होती हैं और वृक्षों के विशाल झुण्ड होते हैं, क्योंकि वर्षा के कारण वृक्षों के झुण्ड समीप-समीप खड़े होते हैं और वहाँ मनुष्यों का सञ्चार नहीं होता; इसलिए उन्हें तोड़े भी कौन? देखो, टीका में कहा न कि 'मनुष्यों के सञ्चाररहित' – तो कहते हैं कि बड़ा अरण्य वनस्पति के झुण्डों, बेलों और वृक्षों के झुण्डों से खचाखच भरा

होता है, उसे ही अरण्य कहा जाता है। ऐसे अरण्य में भी अन्य के द्वारा छोड़ी हुई किसी वस्तु को – गहने, पैसे, हीरा, माणिक, वस्त्र इत्यादि किसी भी वस्तु को ग्रहण करने के परिणाम को मुनिराज तज देते हैं।

**ऐसे ग्राम, नगर या अरण्य में अन्य से छोड़ी हुई, रखी हुई, गिरी हुई अथवा भूली हुई परवस्तु को देखकर, उसके स्वीकार परिणाम का; अर्थात्, उसे अपनी बनाने-ग्रहण करने के परिणाम का जो परित्याग करता है, उसे वास्तव में तीसरा व्रत होता है।**

दूसरों के द्वारा रखी हुई; अर्थात्, किसी ने कोई वस्तु रखी हो कि यहाँ कोई मनुष्य नहीं है; इसलिए अभी रख दें और बाद में ले जाऊँगा तथा गिरी हुई; अर्थात्, चलते-चलते किसी की कोई वस्तु गिर गयी हो।

**प्रश्न –** परन्तु अरण्य में तो मनुष्यों का सञ्चार नहीं है न?

**उत्तर –** विशेष सञ्चार नहीं है परन्तु कोई मनुष्य अरण्य में आ गया हो और चीज गिर गयी हो – ऐसा आशय ग्रहण करना।

इसी प्रकार अरण्य में भूल गया हो; अर्थात्, कोई मनुष्य अरण्य में आ गया हो और वहाँ कोई वस्तु भूल गया हो; यद्यपि अरण्य है तो मनुष्यों के सञ्चाररहित, तथापि कोई मनुष्य कहीं से आया हो और वस्तु भूल गया हो – उसकी बात है। यहाँ कहते हैं कि कोई अरण्य में पाँच -पच्चीस हीरे भूल गया हो अथवा यहाँ कौन आता है? अतः बाद में ले लूँगा – ऐसा विचारकर कुछ हीरे रख गया हो तो हीरे पड़े दिखते हैं। मुनिराज उन्हें देख लेने पर भी ग्रहण करने के परिणाम को छोड़ते हैं।

**प्रश्न –** जहाँ मनुष्यों का सञ्चार नहीं है, वहाँ मुनि पहुँच जाते हैं?

**उत्तर –** (हाँ) देखो, मनुष्यों का सञ्चार नहीं है, वहाँ मुनि जाएँ – ऐसा नहीं कहा है। अहा! पहले तो यह कहा है कि अरण्य में मनुष्यों का सञ्चार नहीं होता और फिर भी वहाँ कोई वस्तु छूटी हुई, रखी हुई, पड़ी हुई अथवा भूली हुई हो – ऐसा कहते हैं। लो, 'चीज़ भूल गयी हो' – ऐसा कहा, तो वहाँ पशु की बात तो होगी नहीं, परन्तु मनुष्यों की ही बात है और उस अरण्य में मुनि आ गये हों, क्योंकि तभी तो परवस्तु को देखकर.... – ऐसा कहा है न!

यहाँ कहते हैं कि ऐसे गाँव, नगर अथवा अरण्य में दूसरों के द्वारा रखी हुई, छोड़ी

www.vitragvani.com



हुई, पड़ी हुई अथवा भूली हुई परवस्तु को-दूसरे की वस्तु को, हीरे दिखें तो उन्हें भी ग्रहण करने के परिणाम को मुनिराज त्यागते हैं। अहा! यहाँ मुनि की बात है कि वे 'वस्तु है' – ऐसा देखते तो हैं, तथापि उसे ग्रहण करने के परिणाम को छोड़ते हैं। 'लाओ न! ये हीरे ले जाऊँ, फिर किसी को दे दूँगा अथवा धर्म कार्यों में खर्च करुँगा अथवा गृहस्थ को दूँगा तो इनसे मन्दिर बनेगा' – ऐसे परिणाम मुनिराज को नहीं होते। जहाँ परवस्तु को लेने का परिणाम ही उन्होंने छोड़ दिया है तो फिर 'यह करूँगा या वह करूँगा' – यह प्रश्न ही कहाँ रहता है?

अरे! जिन्हें वस्त्र का धागा भी न हो, उन्हें ऐसे परवस्तु का परिग्रह हो अथवा वे परिग्रह को पकड़ें – ऐसा नहीं हो सकता। वे ऐसे परिणाम को छोड़ देते हैं – ऐसा मात्र यहाँ कहा है। इस कथन का यह आशय नहीं है कि उन्हें परवस्तु को ग्रहण करने के परिणाम आ जाते हैं और फिर उन्हें छोड़ देते हैं परन्तु वस्तुतः तो वे ऐसे परिणाम होने ही नहीं देते – यह बात यहाँ लेना है।

यहाँ कहा है कि सम्यग्दर्शनसहित स्वरूप की चारित्रदशा के योग्य वीतरागता / छठवें –सातवें गुणस्थान के योग्य चारित्रसहित जो मुनि हैं, उन्हें ऐसे तृतीय (अचौर्य) व्रत के परिणाम होते हैं, तथापि है वह पुण्यबन्ध का ही कारण।

## कलश ७८ पर प्रवचन

देखो न, कैसी बात करते हैं? कि '**आकर्षति रत्नानां**' अर्थात्, ऐसे शुभभाव, चैतन्यरत्न को आकर्षित करते हैं – ऐसा नहीं, परन्तु वे बाह्य रत्नों का ढेर देते हैं – ऐसे कहते हैं।

**यह उग्र अचौर्य इस लोक में रत्नों के सञ्चय को आकर्षित करता है और (परलोक में) स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है तथा क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है।**

उग्र, अर्थात् उत्कृष्ट शुभभाव के फल में इसके पास रत्न के ढेर आते हैं – ऐसा कहते हैं। जिसने रत्न लेने के परिणामों का त्याग किया है, उसे उस शुभभाव के फल में बाह्य में रत्न के ढेर प्राप्त होंगे, परन्तु चैतन्यरत्न की प्राप्ति होगी – ऐसा नहीं है।

यहाँ कहा है कि अचौर्यव्रत के परिणाम, मनुष्यपने में रत्नों के ढेर को आकर्षित करते हैं –खींचते हैं। तात्पर्य यह है कि उसके पास रत्नों के ढेर आयेंगे तथा वह (अचौर्यव्रत) स्वर्ग

की स्त्रियों के सुख का कारण है, परन्तु आत्मा के सुख का कारण नहीं है, क्योंकि व्रत के परिणाम शुभराग / पुण्य है।

अहा! सम्यग्दर्शन; अर्थात्, आत्मा के अनुभवसहित वीतरागपरिणति की भूमिका में जो अचौर्यव्रत का भाव हो, उसका फल इस लोक में / मनुष्यभव में रत्नों के समूह को आकर्षित करना है और परलोक में / स्वर्ग में स्त्रियाँ प्राप्त होने में निमित्त होता है। निश्चय के; अर्थात्, आत्मा के भानसहित व्रत का शुभराग है न, और उसमें उतना अशुभराग भी मिटा है न; इसलिए अब कहते हैं कि 'क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है।' समयसार के मोक्ष अधिकार में भी आता है कि 'क्रम-क्रम से मिटाने में....' (गाथा ३०६-३०७) क्रम-क्रम का अर्थ यह है कि अभी शुभभाव से अशुभभाव का अभाव हुआ है और फिर क्रम-क्रम से शुभभाव का भी अभाव करेगा।

देखो, तीन बातें ली हैं कि अचौर्यव्रत का शुभभाव (१) इस भव में रत्नों के सञ्चय को आकर्षित करता है, (२) परलोक में स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है, और (३) क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है, परन्तु यह मुनि के व्रत की बात है। इसका कारण यह है कि अज्ञानी के तो व्रत होते ही नहीं हैं और इस कारण यहाँ उसकी बात नहीं की है। यहाँ तो आत्मा के भानसहित उग्र आनन्द की परिणति की भूमिका में मुनि को जो यह व्रत होते हैं, उनकी बात है। जबकि अभी अज्ञानी की तो दृष्टि ही मिथ्या है, तब वहाँ व्रत कैसे? जहाँ त्रिकाली वस्तु का स्वीकार ही नहीं है और जहाँ स्वीकार ही अंश / पर्याय और राग का है, वहाँ, अर्थात् जहाँ दृष्टि और भूमिका ही विपरीत है, वहाँ व्रत कैसा? ऐसे व्रत और तप को तो बालव्रत और बालतप कहा जाता है। बालव्रत और बालतप; अर्थात्, मूर्खता से भरे हुए व्रत और तप।

अहा! कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि को व्रत कैसा? अज्ञानी को अन्दर में मिथ्यात्व से और मिथ्याभाव से महा-कषाय अग्नि सुलग रही है, इस कारण उसे ये अचौर्य आदि व्रत कैसे हो सकते हैं? ऐसे व्रत के परिणाम तो, आत्मस्वभाव के आश्रय में मुनि को वीतरागपरिणति प्रगट हुई है, परन्तु पूर्ण वीतरागता नहीं हुई; इसलिए होते हैं और वह व्रत क्रमानुसार मुक्ति का कारण है; अर्थात्, उस व्रत का राग छूटकर (वह मुनि) पूर्ण वीतराग होकर मुक्ति प्राप्त करेगा। ●●

## गाथा ५९

**दट्ठूण इत्थिरूवं वांच्छाभावं णियत्तदे तासु।**
**मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं॥ ५९॥**

**दृष्ट्वा स्त्रीरूपं वांच्छाभावं निवर्तते तासु।**
**मैथुनसंज्ञाविवर्ज्जितपरिणामोऽथवा तुरीयव्रतम्॥ ५९॥**

**जो देख रमणी रूप, वांछाभाव उसमें छोड़ता।**
**परिणाम मैथुन-संज्ञ-वर्जित, व्रत चतुर्थ यही कहा॥ ५९॥**

**गाथार्थ :** स्त्रियों के रूप देखकर, उनके प्रति वांछाभाव की निवृत्ति वह, अथवा मैथुनसंज्ञारहित जो परिणाम, वह चौथा व्रत, अर्थात् ब्रह्मचर्यमहाव्रत है।

**टीका :** यह, चौथे व्रत के स्वरूप का कथन है।

सुन्दर कामिनियों के मनोहर अङ्ग के निरीक्षण द्वारा उत्पन्न होनेवाली कुतूहलता के चित्तवांछा के परित्याग से अथवा पुरुषवेदोदय नाम का जो नोकषाय का तीव्र उदय, उसके कारण उत्पन्न होनेवाली मैथुनसंज्ञा के परित्यागस्वरूप शुभपरिणाम से ब्रह्मचर्यव्रत होता है।

अब, ५९ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(मालिनी)

**भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूति**
**स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम्।**
**सहज परमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय**
**व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम्॥ ७९॥**

(वीरछन्द)

**कामिनियों की तन-विभूति का कामी पुरुष यदि मन से।**
**करे स्मरण तो होगा क्या लाभ तुझे मम वचनों से॥**

www.vitragvani.com



**सहजस्वरूपी परम तत्त्व को क्यों त्यागे आश्चर्य अहो।**
**विपुल मोह को प्राप्त हुए हो किस कारण से तुम्हीं कहो॥**

**श्लोकार्थ :** कामिनियों की जो शरीरविभूति, उस विभूति का, हे कामी पुरुष! यदि तू मन में स्मरण करता है तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा? अहो! आश्चर्य होता है कि सहज परमतत्त्व को, निजस्वरूप को छोड़कर तू किस कारण विपुल मोह को प्राप्त हो रहा है!

## गाथा ५९ पर प्रवचन

**यह चौथे व्रत के स्वरूप का कथन है।**

चौथे व्रत (ब्रह्मचर्यव्रत) के स्वरूप का कथन है।

**सुन्दर कामिनियों के मनोहर अङ्ग के निरीक्षण द्वारा उत्पन्न होनेवाली कुतूहलता के चित्तवांछा के परित्याग से अथवा पुरुषवेदोदय नाम का जो नोकषाय का तीव्र उदय, उसके कारण उत्पन्न होनेवाली मैथुनसंज्ञा के परित्यागस्वरूप शुभपरिणाम से ब्रह्मचर्यव्रत होता है।**

निरीक्षण, अर्थात् देखना। ऐसा सुन्दर रूप! ऐसी कौतूहलता की वाँछा का परित्याग, अर्थात् सर्वथा त्याग, वह चौथा व्रत है अथवा अन्दर पुरुषवेद का उदय आने पर, उसके कारण उत्पन्न होनेवाली मैथुनसंज्ञा का परित्याग, वह चौथा व्रत है। देखो, यहाँ तो वेद का उदय होने पर परिणाम में मैथुन का भाव न होने देना और शुभभाव होना, उसे ब्रह्मचर्यव्रत कहा है। वेदकर्म का उदय होने पर भी, उस ओर का लक्ष्य छूटकर शुभभाव रहना, चौथा ब्रह्मचर्यव्रत है। यह व्रत, सम्यग्दर्शनसहित मुनिराज को होता है।

देखो, यहाँ वेद का तीव्र उदय लिया है कि वेद का तीव्र उदय होने पर भी, आत्मा में विषय-वासना के परित्यागस्वरूप शुभपरिणाम होने को यहाँ ब्रह्मचर्यव्रत चौथा व्रत कहा जाता है।

## कलश ७९ पर प्रवचन

**कामनियों की जो शरीरविभूति, उस विभूति का हे कामी पुरुष! यदि तू मन में स्मरण करता है तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा?**

स्त्री के शरीर की सुन्दरता आदि जो विभूति है, उस ओर तेरा झुकाव वर्तता है; अर्थात्, जड़

www.vitragvani.com



शरीर की सुन्दरता, उसके अङ्गों की मनोज्ञता इत्यादि पर तेरा मन बहुत जाता है; अर्थात्, यदि तू शरीर की विभूति को याद करता है तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा? अर्थात्, तुझे अन्तर स्वरूप में रमणतापूर्वक चौथे व्रतरूप ब्रह्मचर्य का शुभभाव कैसे होगा?

शरीर की सुन्दर विभूति पर लक्ष्य जाने पर कौतूहल होता है कि अहाहा! – जिसे ऐसी वाँछा होती है, उसे अथवा शरीर की विभूति का मन में स्मरण करता है कि अहाहा! ऐसा स्मरण करनेवाले को मेरे वचन से क्या लाभ होगा? तात्पर्य यह है कि उसे जो शुभभाव होना चाहिए, वह तो उसने किया नहीं, अपितु अशुभभाव किया; इस कारण मुनि की भूमिका के योग्य चौथा व्रत होना चाहिए, वह कैसे होगा? – ऐसा कहते हैं।

**अहो! आश्चर्य होता है कि सहज परमतत्त्व को–निजस्वरूप को छोड़कर, तू किस कारण विपुल मोह को प्राप्त हो रहा है।**

सहज परमतत्त्व, अर्थात् निजस्वरूप। देखो, पाठ में है न कि '**सहज परमतत्त्वं स्वस्वरूपं।**' कहते हैं कि अहो! स्वाभाविक परमतत्त्व, ऐसा जो आनन्द अमृत का सागर प्रभु आत्मा है; अर्थात्, त्रिकाली अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ऐसा जो अपना पूर्ण परमतत्त्व है, वह स्वस्वरूप है, अपना स्वरूप है, तथापि अरे! ऐसे आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा को रुचि–दृष्टि में से छोड़कर, तुझे पर का प्रेम होता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि तुझे आत्मा के आनन्द का प्रेम नहीं है।

अहा! आत्मा के स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत है, जिसके एक अंश के स्वाद के समक्ष इन्द्र का इन्द्रासन भी मरे हुए चूहे और कुत्ते के सड़े हुए मुर्दे जैसा लगता है। ऐसे निज परम स्वरूपमय आनन्द को भूलकर तू किसलिए विपुल मोह को प्राप्त होता है? तुझे किस कारण पर के प्रति प्रेम होता है? ब्रह्मानन्दस्वरूप भगवान आत्मा परम अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर प्रभु है, तथापि उसे छोड़कर तू किस कारण पर के प्रति मोह करता है? क्या तेरे पास आनन्द नहीं है कि जिससे तू पर में आनन्द की वाँछा करके वहाँ आनन्द शोधने जाता है? पर पर में सुख पाने के लिए जाता है? – ऐसा यहाँ कहते हैं।

कहते हैं कि तू किस कारण विपुल मोह को प्राप्त होता है? क्योंकि व्रतधारी को तो परम आनन्दमय स्वरूप में सावधानी चाहिए, तथापि उसके बदले तू पर में सावधानी / मोह किस कारण

पाता है ? क्या हुआ है तुझे ? क्या तुझे भ्रम का भूत लगा है ? परमतत्त्व / निजस्वरूप / स्वस्वरूप – ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दमय भगवान आत्मा का आश्रय अथवा अवलम्बन छोड़कर, तू पर में विपुल मोह करता है तो तुझे यह क्या हुआ ? किस कारण तू विपुल मोह को प्राप्त होता है ? इसका कारण यह है कि तुझे पर का प्रेम है, किन्तु स्व का प्रेम नहीं है।

अपना त्रिकाली स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय है, उसका तुझे प्रेम नहीं है; अर्थात्, उसकी रुचि नहीं है, वह पोषाता नहीं है – ऐसा कहकर यह कहना चाहते हैं कि स्वयं आत्मा, जो कि परमानन्दस्वरूप परमात्मा है, उसका; अर्थात्, स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द से छलाछल भरा हुआ तत्त्व है, उसका यदि स्वीकार हो तो पर में मोह होने का प्रसङ्ग ही नहीं रहता और यदि पर में मोह होता है तो उसे अपने परमानन्दस्वभाव की दृष्टि और रुचि ही नहीं है, उसने अपने परमानन्दमय निज स्वभाव को श्रद्धा में लिया ही नहीं है।

तात्पर्य यह है कि पर में / स्त्री के सुन्दर शरीर और उसके मनोज्ञ अङ्गों को देखकर उनमें यदि तुझे कौतूहलता अथवा वाँछा होती है तो तूने परमानन्दस्वभावी आत्मा का भाव / आदर छोड़ दिया है, तुझे परमानन्दमय आत्मस्वभाव का प्रेम, दृष्टि अथवा रुचि नहीं है; तूने अपना अनादर करके पर का–मोह का आदर किया है।

अहा! सहज परमतत्त्व कहने से वस्तु स्वाभाविक है; अर्थात्, तू (आत्मा) सहजस्वरूप से विद्यमान है, अतीन्द्रियज्ञान और आनन्दस्वभाववाला सहजतत्त्व है, तथापि तुझे ऐसे अपने स्वस्वरूप का आदर छोड़कर – प्रेम छोड़कर, इस सुन्दर स्त्री के अङ्ग–उपाङ्ग में कौतूहलता क्यों होती है ? तुझे परमानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की भावना होनी चाहिए, उसके बदले तूने यह पर की भावना क्यों की ? तुझे क्या हुआ है ? तुझे मिथ्यात्व का भूत लग गया लगता है।

**प्रश्न** – 'मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा' – इसका क्या तात्पर्य है ?

**उत्तर** – मुनि का आशय तो वीतरागभाव बतलाने का है और उस भूमिका में अशुभभाव टलकर शुभभाव रहें, वह चौथा व्रत है; अर्थात्, वीतरागभाव की भूमिका में चौथा व्रत होता है – ऐसा बतलाने का भाव है परन्तु वह वीतरागता तो तुझे है नहीं; इसलिए मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा ?

अहा! भगवान आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। निज परमतत्त्व अतीन्द्रिय

www.vitragvani.com



सुखस्वरूप है। इससे अहाहा! यह क्या है? (आत्मा कैसा है?) – इस प्रकार उसकी कौतूहलता करके उसमें लीन होना चाहिए – स्थिर होना चाहिए–रहना चाहिए, परन्तु इसके बदले उसकी कौतूहलता छोड़कर इस पर की सुन्दरता की कौतूहलता में तू क्यों गया? – ऐसा कहते हैं।

यदि पर की सुन्दरता – स्त्री की, उसके शरीर की और उसके शरीर के अङ्गोपाङ्गों की सुन्दरता देखकर तुझे वाँछा या कौतूहल होता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि तूने अपने भगवान आत्मा को छोड़ दिया है। यदि तुझे पर की / स्त्री के अवयवों की / सुन्दरता की कौतूहलता अथवा वाँछा है तो तू वहाँ चला गया है और तेरा भगवान आत्मा जो कि अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है, उसे तूने छोड़ दिया है। प्रभु! अद्भुत बात है।

जिसका मनोहर मधुर अतीन्द्रिय रस है – ऐसा भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् = शाश्वत् और चिदानन्द = अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द। तथापि अरे प्रभु! उसे तूने छोड़ दिया है। अरे! उसकी तो कौतूहलता होनी चाहिए कि यह क्या है? यह क्या है? यह क्या है? (आत्मा कैसा है?) और यदि उसका भान हुआ हो तो उसमें स्थिरता का भाव होता है परन्तु उसके बदले, अपने प्रभु के त्रिकाली आनन्दस्वभाव का स्वीकार नहीं करके, उसका अनादर करके तेरी वृत्ति इस पर की कौतूहलता में रुक गयी है, यह तूने अनर्थ किया है। अरे! छोटी बात में (कौतूहलता में) भी तू अपने प्रयोजन को भूल गया है – ऐसा कहते हैं।

अहा! यदि तुझे अपने आनन्दस्वभाव का दृष्टि में आदर हो; अर्थात्, तेरी दृष्टि में तेरा तत्त्व ही हो, यदि तेरा स्वभाव ही तेरे आश्रय या अवलम्बन में हो तो तुझे पर की कौतूहलता होने का प्रसङ्ग ही नहीं रहता, परन्तु यदि तू पर की सुन्दरता के मोह में / कौतूहलता में रुका तो तेरी सुन्दरता दृष्टि में से छूट गयी, तेरा सुन्दर आनन्दस्वभाव (श्रद्धा में से) छूट गया। तात्पर्य यह है कि आनन्दमूर्ति आत्मा, जो कि स्वयं प्रभु है, उसे तथा उसकी सुन्दरता को तूने छोड़ दिया और तू इस पर की सुन्दरता में लग गया है; इसलिए तुझे चौथा व्रत कैसे हो सकता है? – ऐसा कहते हैं। देखो न! वैराग्य की मस्ती चढ़ावे – ऐसी बात है न!

कहते हैं कि जो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के प्रेम में पड़ा है, उसका जिसने स्वीकार किया है, उसे 'पर में आनन्द है' – ऐसा भाव कैसे आ सकता है? पर में सुख है – ऐसा भाव, जो कि ज़हर है, वह कैसे आयेगा? अर्थात्, अमृत के स्वादी को ज़हर के स्वाद की कौतूहलता

कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती – ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई ! यह तो अद्‌भुत बात है ! परन्तु यदि तू पर की कौतूहलता अथवा वाँछा के स्वाद में गया तो तू अपने आनन्द की सुन्दरता को भूल गया, तू अपने भगवान को भूल गया।

इस प्रकार इस चौथे व्रत की व्याख्या करके पद्मप्रभमलधारिदेव, जीव को जागृत करके खड़ा करते हैं कि जाग रे जाग नाथ ! आनन्द तो तुझमें पड़ा है प्रभु ! तू जागकर देखेगा तो तुझे अपने में आनन्द भासित होगा, परन्तु बाहर में कहीं आनन्द भासित नहीं होगा। अरे ! इन्द्र का इन्द्रासन भी तुझे मरे हुए कुत्ते अथवा चूहे के सड़े हुए मुर्दे के समान लगेगा।

देखो, यहाँ तो चौथे व्रत की बात की है, तो भी उसमें आत्मदृष्टि को भूलकर अज्ञानी जीव, अशुभभाव करता है – इस प्रकार बात को कहाँ तक ले गये हैं ? क्योंकि अज्ञानी को पर की वाँछा होने से पर का प्रेम हो गया है न ! इस कारण उसने आत्मा को दृष्टि में से छोड़ दिया है – ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहा है कि जिसे आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव रुचिकर हुआ है; अर्थात्, जो आनन्दस्वभाव के सन्मुख हुआ है, उस जीव को स्वरूप में स्थिरता / भावनावाला चारित्र होता है और उस भूमिका में विषय के त्यागरूप महाव्रत का विकल्प होता है, जिसे शुभभावरूपी व्रत कहते हैं परन्तु ये व्रत ऐसे; अर्थात्, निश्चयचारित्रवन्त जीव को होते हैं; इसके अतिरिक्त अज्ञानी बाहर से ब्रह्मचर्य पालन करे और स्त्री का त्याग करे तो यहाँ उसकी बात नहीं है; अर्थात्, उसे व्रत नहीं होते। अभी उसे स्वरूप का आदर ही नहीं आया है; इसलिए व्रत के परिणाम के लिए अपेक्षित चारित्र की भूमिका है ही नहीं, इस कारण उसे व्रत के परिणाम नहीं हो सकते।

भाई ! यह तो अद्‌भुत बात है ! देखो न ! छोटी सी बात / व्रत की बात होने पर भी इसमें सारी बात भर दी है। अभी अधिक बात तो बाद में ६० वीं गाथा में लेंगे।

इस प्रकार चौथे व्रत की बात हुई। ●●

## गाथा ६०

**सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेखभावणापुव्वं।**
**पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स॥ ६०॥**

**सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागो निरपेक्षभावनापूर्व्वम्।**
**पंचमव्रतमिति भणितं चारित्रभरं वहतः॥ ६०॥**

**निरपेक्ष–भाव संयुक्त सब ही ग्रन्थ के परित्याग का।**
**परिणाम है व्रत पंचवां चारित्रभर वहनार का॥ ६०॥**

**गाथार्थ :** निरपेक्ष भावनापूर्वक[१]; अर्थात्, जिस भावना में पर की अपेक्षा नहीं है – ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावनासहित, सर्व परिग्रहों का त्याग; अर्थात्, सर्व परिग्रहत्याग सम्बन्धी शुभभाव, उस चारित्रभर[२] वहन करनेवाले को पाँचवाँ व्रत, अर्थात् अपरिग्रहमहाव्रत कहा है।

**टीका :** यहाँ (इस गाथा में) पाँचवें व्रत का स्वरूप कहा जाता है।

सकल परिग्रह के परित्यागस्वरूप निज कारणपरमात्मा के स्वरूप में अवस्थित (स्थिर हुए) परम संयमियों को–परम जिनयोगीश्वरों को–सदैव निश्चयव्यवहारात्मक सुन्दर चारित्रभर वहन करनेवालों को, बाह्य–अभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही परम्परा[३] से पञ्चम गति के हेतुभूत – ऐसा पाँचवाँ व्रत है।

---

१- मुनि को मुनित्वोचित निरपेक्ष शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) सर्व परिग्रहत्याग–सम्बन्धी शुभोपयोग, वह व्यवहार अपरिग्रहव्रत कहलाता है। शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहारव्रत भी नहीं कहलाता। [इस पाँचवें व्रत की भाँति अन्य व्रतों का भी समझ लेना।]

२- चारित्रभर = चारित्र का भार; चारित्रसमूह; चारित्र की अतिशयता।

३- शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत, शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु है – ऐसा मानकर यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा है। वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि को मुनियोग्य शुद्धपरिणति ही (शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करती है, इसलिए) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग का हेतु होती है और वह शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु होता है। इस प्रकार इस शुद्ध परिणति में रहे हुए मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप–उसके साथ रहनेवाले–शुभोपयोग में करके, व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा जाता है। जहाँ शुद्ध परिणति ही न हो, वहाँ वर्तते हुए शुभोपयोग में मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ मोक्ष का यथार्थ परम्पराहेतु प्रगट ही नहीं हुआ है – विद्यमान ही नहीं है, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका किया जाए?

इसी प्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री समयसार में (२०८ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि —

(आर्या)

**मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।**
**णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ॥**

(वीरछन्द)

**पर पदार्थ यदि मेरा हो तो अजीवत्व हो प्राप्त मुझे।**
**मैं तो ज्ञाता रहूँ सदा ही, अतः परिग्रह नहीं मुझे॥**

**गाथार्थ :** यदि परद्रव्य-परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त होऊँ। मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए (परद्रव्यरूप) परिग्रह मेरा नहीं है।

और, (६० वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक करते हैं) —

(हरिणी)

**त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं**
**निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि।**
**स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां**
**न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसताभिदम्॥ ८०॥**

(वीरछन्द)

**परिग्रहद्वय भवभय का कारण, भव्य जीव तुम अभी तजो।**
**निरुपम सुख-ग्रह प्राप्ति हेतु, निज में ही अविचल लीन रहो॥**
**यद्यपि जगत जनों को, दुर्लभ सुखस्वरूप है यह थिरता।**
**किन्तु असत् पुरुषों को अचरज, सत्पुरुषों को अचरज क्या॥**

**श्लोकार्थ** – भव्य जीव, भवभीरुता के कारण परिग्रहविस्तार को छोड़ो और निरुपम सुख के आवास[१] की प्राप्ति हेतु निज आत्मा में अविचल, सुखाकार (सुखमयी) तथा जगत्‌जनों को दुर्लभ ऐसी स्थिति (स्थिरता) करो और यह (निजात्मा में अचल सुखात्मक स्थिति करने का कार्य) सत्पुरुषों को कोई महा-आश्चर्य की बात नहीं है; असत्पुरुषों को आश्चर्य की बात है।

१- आवास = निवासस्थान; घर; आयतन।

## गाथा ६० पर प्रवचन

सबसे पहले अन्वयार्थ लेते हैं क्योंकि नीचे फुटनोट है न? देखो, गाथा में है कि **चारित्रं धर्म वहवं तस्स**; अर्थात्, चारित्र के भार को वहन करनेवाली की यह बात है। देखो, पहली बात तो यह ली है कि जिसे परमशुद्ध आनन्दमय भगवान आत्मा का अवलम्बन है, जिसे उसकी भावना है – ऐसे जीव को पाँचवाँ, अर्थात् अपरिग्रहव्रत होता है।

नीचे फुटनोट में है कि **मुनि को मुनित्वोचित निरपेक्ष शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो हठरहित सर्व परिग्रहत्यागसम्बन्धी शुभोपयोग, वह व्यवहारअपरिग्रहव्रत कहलाता है।**

मुनित्वोचित = मुनित्व + उचित, अर्थात् मुनिपने के योग्य और निरपेक्ष शुद्धपरिणति; अर्थात्, जिसे पर की, निमित्त की अथवा व्यवहार की अपेक्षा नहीं है – ऐसी भगवान आत्मा की वीतरागीदशा। सर्व परिग्रहरहित, ऐसा भगवान आत्मा का त्रिकाली स्वरूप है, उसके आश्रय से प्रगट हुई शुद्धपरिणति, वह निरपेक्ष शुद्धपरिणति है। देखो, यहाँ यह कहते हैं कि व्यवहार का; अर्थात्, राग की मान्यता का भाव है तो शुद्धपरिणति प्रगट होती है – ऐसा नहीं है। तात्पर्य यह है कि शुद्धपरिणति को राग की अपेक्षा नहीं है। अद्भुत बात है! अहा! शुभोपयोग को, अर्थात् शुभराग को–शुभविकल्प को व्यवहारव्रत कहते हैं परन्तु किस शुभोपयोग को? शुद्धपरिणति के साथ वर्तते शुभोपयोग को! परन्तु जहाँ शुद्ध परिणति ही नहीं है, पूर्णानन्दमय सम्यक् आत्मस्वरूप का स्वीकार होकर जहाँ शुद्धदशा ही जागृत / प्रगट नहीं हुई है, वहाँ व्रत नहीं होते।

यह सुनकर कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि यदि अज्ञानी को व्रत नहीं होते तो फिर उन्हें चौथे व्रत की / ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा किसलिए देते हैं? बाहर में लोग भी पूछते हैं कि तुम व्रत को हेय भी कहते हो और सबको व्रत भी देते हो?

भाई! यह ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा, व्रत नहीं है, वह व्रत कहाँ है? वह तो अशुभभाव के परिणाम से बचने का एक शुभभाव है, इतनी उसकी मर्यादा है। वस्तुतः अज्ञानी को व्रत होते ही नहीं, क्योंकि व्रत तो जिसे सम्यक् अनुभव हुआ हो, उसे होते हैं। सर्व परिग्रह के त्यागस्वरूप ऐसा निरपेक्ष तत्त्व भगवान आत्मा है, उसका आश्रय लेने पर प्रगट होनेवाली शुद्धपरिणति निश्चयव्रत है और उसके साथ होनेवाला व्रत का विकल्प, व्यवहारव्रत है।

***शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है, वह शुभोपयोग***

www.vitragvani.com



*तो व्यवहारव्रत भी नहीं कहलाता। [ इस पाँचवें व्रत की भाँति अन्य व्रतों को भी समझ लेना। ]*

जिसमें शुद्ध सहजस्वरूप परमानन्दमय प्रभु भगवान आत्मा को दृष्टि में नहीं लिया, जिसे निर्मलदशा / परिणति नहीं हुई – ऐसे जीव को हठयुक्त शुभभाव होता है किन्तु सहज शुभभाव नहीं होता, क्योंकि उसे शुद्धपरिणति नहीं है। अज्ञानी, हठ से ब्रह्मचर्य आदि शुभभाव पालता है परन्तु ब्रह्मानन्दस्वरूप आत्मा का स्वाद उसे नहीं आया है; इसलिए वह व्यवहार; अर्थात्, बाह्य से ब्रह्मचर्य पालन करता है तो भी उसे व्रत नहीं कहा जाता।

बापू! यह बात सुनने को मिलना भी महापुण्य का योग हो, तब होता है – ऐसी चीज है। उसे उस जाति का क्षयोपशम हो, उस जाति का विकल्प हो और उस जाति का पुण्य हो, तभी यह बात सुनने को मिलती है।

यहाँ कहते हैं कि जैसे, माल बिना वारदाना किसका? किसी का नहीं। अथवा खाली घड़ा हो, उसे घी का घड़ा कहना या तेल का घड़ा कहना या पानी का घड़ा कहना? परन्तु जब अन्दर कोई माल ही नहीं है तो अकेले घड़े को किसका घड़ा कहना? किसी का नहीं। इसी प्रकार निश्चय शुद्धपरिणति के बिना, व्यवहार किसे कहना? परम प्रभु परमेश्वर, ऐसे अपने आत्मा का स्वीकार होकर, जहाँ अभी शुद्धपरिणति नहीं हुई, जहाँ परिणति ने पूर्ण स्वभाव को स्वीकार नहीं किया, वहाँ शुद्धपरिणति से रहित शुभराग को व्यवहार भी नहीं कहा जाता। भाई! अद्‌भुत बात है।

अरे! अज्ञानी तो वस्त्र-पात्र आदि छोड़कर नग्न हो जाए, इसलिए मानो सब हो गया हो – ऐसा मानता है; अर्थात्, मैंने बाह्य परिग्रह छोड़ा है, इसलिए सब छूट गया है और इससे अब आरम्भ परिग्रह छोड़ने का क्या काम है? – ऐसा वह मानता है। अरे भाई! आरम्भ परिग्रह छोड़ना किसे कहते हैं? क्या तुझे इसका पता है? अज्ञानी को आत्मवस्तु की पकड़ नहीं है; इसलिए शुभराग का विकल्प उत्पन्न होता है, उसकी पकड़ होती ही है और वही आरम्भ परिग्रह है। अहा! त्रिकाली आनन्दभावरूप ज्ञायकभाव की पकड़ / दृष्टि अज्ञानी को नहीं है, इसलिए उसकी कहीं तो पकड़ रहेगी। अतः अज्ञानी की शुभभाव की पकड़ है और वही महा-आरम्भ तथा महापरिग्रह है। दूसरे प्रकार से कहें तो अज्ञानी ने राग को पकड़ा है किन्तु राग को अपने से भिन्न नहीं रखा है। वह राग को भिन्न रखे भी कैसे? क्योंकि यदि उसने आत्मा को पकड़ा हो, तभी तो राग को भिन्न रखेगा न!

यहाँ कहने का आशय यह है कि राग से भिन्न निरपेक्ष तत्त्व है, उसे नहीं पकड़ा / अनुभव नहीं किया, इस कारण राग की पकड़ होती ही है। इसलिए अज्ञानी को राग में एकत्व है ही। उसने आत्मा को पकड़ा नहीं है; इसलिए राग की पकड़ है ही। जबकि ज्ञानी तो राग की पकड़ से छूट गया है और उसे शुभभाव आवे, उसको व्यवहार कहते हैं – ऐसी अद्भुत बातें हैं।

अहा! ऐसी बातें साधारण मनुष्य को ऐसी लगती है कि मानो यह कोई ऊँचे दर्जे की बात है परन्तु भाई! यह तो अभी सम्यग्दर्शन की; अर्थात्, धर्म के पहली श्रेणी की बात है। यहाँ कहते हैं कि पाँचवें व्रत की तरह अन्य सभी; अर्थात्, पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे व्रत के लिये भी समझ लेना कि यदि शुद्धपरिणति हो तो अहिंसा व्रतादि के विकल्प को व्यवहारव्रत कहते हैं। शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा का अवलम्बन करके, जहाँ शुद्धता का प्रवाह बहता हो, उस ज्ञानधारा की भूमिका में होनेवाली रागधारा को व्यवहारव्रत कहते हैं परन्तु जहाँ अभी ज्ञानधारा ही प्रगट नहीं हुई, वहाँ व्रत नहीं होते।

ज्ञान से मोक्ष होता है; राग से नहीं – यह सुनकर अज्ञानी कहता है कि नहीं, ऐसा नहीं है; यह बात मिथ्या है। ज्ञान के साथ समकित और चारित्र भी चाहिए। भगवान् ने अकेले ज्ञान से मुक्ति नहीं कही है। उससे कहते हैं कि अरे सुन तो सही! ज्ञान, अर्थात् ज्ञान का ज्ञान; श्रद्धा, अर्थात् ज्ञान की श्रद्धा और चारित्र, अर्थात् ज्ञान में रमणता। यह सब (श्रद्धा, रमणता आदि) ज्ञान ही कहलाते हैं। यह बात खानियाँ तत्त्वचर्चा में बहुत ली है। अहा! ज्ञान से मोक्ष होता है, इसका अर्थ यह है कि आत्मवस्तु ज्ञानस्वभावी है; इसलिए उसका ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता – यह सब भी ज्ञानमय ही हैं, किन्तु रागमय नहीं हैं। यह 'ज्ञान से मोक्ष होता है' कहकर सिद्ध करना है।

देखो, समयसार के पुण्य-पाप अधिकार में आता है न कि ज्ञान से मोक्ष होता है। **(ज्ञानं हि मोक्षहेतुः... गाथा १५१)** किन्तु 'ज्ञान से मोक्ष होता है' का अर्थ क्या है? यही कि आत्मसम्मुख हुआ ज्ञान, श्रद्धान और स्थिरता – ये तीनों ही ज्ञान हैं और इस ज्ञान से मोक्ष होता है किन्तु ज्ञान; अर्थात्, मात्र बाह्य का जानपना – ऐसा इस कथन का अर्थ नहीं है तथा 'ज्ञान से मुक्ति होती है' – ऐसा कहने से व्यवहार व्रतादि के राग से मुक्ति नहीं होती, राग मुक्ति का कारण नहीं है – यह भी सिद्ध होता है। अहा! ज्ञानस्वरूपी, ज्ञानस्वभावी आत्मवस्तु है, उसमें ज्ञान के साथ श्रद्धा और आनन्दादि गुण भी विद्यमान ही हैं; इसलिए उसमें एकाग्र होने पर जो श्रद्धा और आनन्दादि प्रगट होते हैं, वे सब भी ज्ञानमय ही हैं; रागमय नहीं और इस ज्ञान से मुक्ति होती है – ऐसा कहना है।

www.vitragvani.com



**प्रश्न** – ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही हैं न?

**उत्तर** – हाँ, ज्ञानमय ही है। उसे तो राग का भी ज्ञान है क्योंकि राग मेरा है – ऐसी मान्यता ज्ञानी को कहाँ है? द्रव्य का ज्ञान, गुण का ज्ञान, पर्याय का ज्ञान, राग का ज्ञान और निमित्त का भी ज्ञान; इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान.... ही है।

यहाँ कहा है कि जहाँ शुद्धपरिणति नहीं है, वहाँ शुभोपयोग को व्यवहारव्रत भी नहीं कहा जाता। लो, अभी अज्ञानी को चौथा गुणस्थान का ठिकाना न हो और पाँचवें तथा छठवें गुणस्थान के व्रत लेकर मानता है कि हमें श्रावकपना और मुनिपना प्रगट हुआ है।

**यहाँ ( इस गाथा में ), पाँचवें व्रत का स्वरूप कहा गया है।**

देखो, पाठ में है न कि **सव्वेसिं गंथाणं चागो**; अर्थात्, उसमें से त्रिकाली द्रव्य की बात निकाली कि त्रिकाली तत्त्व प्रभु भगवान आत्मा, **सकल परिग्रह के परित्यागस्वरूप है** तथा **णिवेक्खभावणापुव्वं** – ऐसा भी शब्द है न! तो उसका अर्थ यहाँ टीका में यह किया है कि **निज कारणपरमात्मा के स्वरूप में अवस्थित होना**; अर्थात्, अपने पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के स्वरूप में अवस्थित होना, वह भावना है और ऐसी अवस्थितिपूर्वक व्रत होते हैं – ऐसा कहना है।

अहा! **णिवेक्खभावणापुव्वं**, अर्थात् निरपेक्षभावनापूर्वक – ऐसा शब्द गाथा में पड़ा है। इसलिए इसमें से आत्मा की निरपेक्षभावना, अर्थात् स्वरूप में अवस्थित – यह अर्थ तो टीका में कहा है परन्तु उससे पूर्व उसमें से यह भी निकाला कि त्रिकाली तत्त्व है, वह निरपेक्ष है। निरपेक्षभाव के कहने से वह वीतरागीपर्याय हुई। तदुपरान्त त्रिकाली तत्त्व भी निरपेक्ष है – ऐसा कहते हैं। उस निरपेक्ष त्रिकाली तत्त्व के स्वरूप की भावना को; अर्थात्, उसमें अवस्थिति को निरपेक्षभावना कहा जाता है। यह क्या कहते हैं? वह प्रथम तो याद रहना कठिन है – ऐसी सूक्ष्म बात है। अज्ञानी को यह बात ऐसी लगती है कि शरीर का करना, वाणी बोलना, विकल्प वाचन करने की बात नहीं, कुछ करने की बात नहीं और सीधी आत्मा की भावना की बात?

अहा! यहाँ पहले भगवान को / आत्मा को सम्हालते हैं। जैसे, कोई भी कार्य करने से पूर्व कहते हैं न कि **णमो अरिहंताणं**; उसी प्रकार यहाँ '**णमो परम निरपेक्ष परमात्मा**' – ऐसा कहते हैं। इस प्रकार जहाँ हो वहाँ पहले भगवान को–आत्मा को याद करते हैं। अरे! अज्ञानी तो राग के;

www.vitragvani.com



अर्थात्, पुण्य-पाप के प्रेम में रचा-पचा होता है। वह राग में ही पूर्ण अस्ति मानकर बैठा है; इसलिए उसे यह चीज क्या – कैसी है ? यह बात कान में पड़ते ही, मानो कि वह तो बम हो – ऐसी लगती है; अर्थात्, उसे लगता है कि क्या ऐसी अस्ति होगी ? परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि तेरे विकारीपरिणाम के पीछे महानिरपेक्ष; अर्थात्, सर्व परिग्रह के परित्यागस्वरूप महाप्रभु आत्मा विराजमान है।

देखो, यहाँ **सव्वेसिं गंथाणं चागो णिवेक्खभावणापुव्वं** कहकर, पर्याय की बात तो लेना है परन्तु उसमें से त्रिकाली द्रव्य की बात भी मुनिराज ने निकाली है; इसलिए सर्व परिग्रह के त्यागस्वरूप निरपेक्षभावना / स्थिरता – ऐसा जो शब्द है, उसमें से मुनिराज ने यह निकाला कि आत्मा त्रिकाली निरपेक्षभाव है। इस प्रकार पर्याय की बात में से द्रव्य की बात निकाली है। अहा ! आनन्दरूप अमृत से भरा हुआ, छलकता हुआ आत्मा है। यही बात सैंतालीस शक्तियों में आती है कि अनन्त शक्तियाँ, अनन्त गुण उछलते हैं; अर्थात्, पर्याय में अनन्त गुण प्रगट होते हैं; इसलिए ज्ञान उछलता है, उसके साथ आनन्द भी उछलता है – ऐसा वहाँ आता है न !

यहाँ कहते हैं कि एक समय में अनन्त... अनन्त... अनन्त... पवित्र गुणों का एक पिण्ड, ऐसा यह भगवान आत्मा स्वयं समस्त परिग्रह के त्यागस्वरूप है – ऐसा निजकारणपरमात्मा है... देखो '**निजकारणपरमात्मा**' कहकर अपना कारणपरमात्मा कहा है, जो कि त्रिकालीस्वरूप है, शक्ति का सम्पूर्ण सत्व है, पूर्ण अनन्त गुणों का एकरूप पिण्ड है और जो अभेद है, एक नित्य –शाश्वत् तत्त्व है – ऐसे अपने स्वरूप में जो अवस्थित है; अर्थात्, जिसे निजकारणपरमात्मा के स्वरूप की भावना है, उसमें जिसकी एकाग्रता है, वह परम संयमी है। अनादि से राग और पुण्य में अवस्थित था, वह अब अपने परमात्मस्वरूप में अवस्थित है और ऐसी भावना; अर्थात्, अवस्थितिसहित होनेवाले को पाँचवाँ व्रत होता है – यह सिद्ध करना है। देखो, पाठ में **भावणां** शब्द है न ! तो भावना, अर्थात् अवस्थित, यह अर्थ टीका में किया है। अवस्थित = अव + स्थित, अर्थात् निश्चय से स्थित।

अहा ! त्रिकाली ज्ञायक आत्मा आनन्दस्वरूप है और वह वस्तु तो सर्व परिग्रह के परित्यागस्वरूप ही है; इसलिए उसे कुछ छोड़ना भी नहीं है तथा कुछ ग्रहण भी नहीं करना है। ऐसा निज कारण परमात्मा... देखो निजकारणपरमात्मा; अर्थात्, अपना स्वभाव किन्तु दूसरा कोई भगवान अथवा ईश्वर नहीं। स्वयं ही निजकारणपरमात्मा है और ऐसे पूर्ण स्वरूप अपने भगवान

www.vitragvani.com



आत्मा में अवस्थित होने का नाम मोक्ष का मार्ग, अर्थात् स्वभावभाव की भावना है। तात्पर्य यह है कि त्रिकालीभाव की / त्रिकाल ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा की एकाग्रता ही त्रिकालीभाव की भावना है। भावना, अर्थात् एकाग्रता। अरे! ऐसा स्वरूप जिसके कान में भी नहीं पड़े और ऐसे स्वरूप को जो विचार में भी नहीं ले, वह अन्दर में प्रयोग करके निज परमात्मा में पहुँचेगा कैसे? ऐसे स्वरूप के अन्दर जाएगा किस प्रकार? – ऐसा कहते हैं।

कहते हैं कि निजकारणपरमात्मा के स्वरूप में अवस्थित; अर्थात्, आत्मा का जो स्वरूप है, आत्मा का जो भाव है, उसमें स्थित रहनेवाले ऐसे **परम संयमियों को...** देखो परम संयमी लिये हैं क्योंकि वर के बिना बारात किसकी? किसी की नहीं। इसी प्रकार जहाँ भगवान आत्मा जागृत नहीं हुआ, वहाँ व्रत के सभी विकल्प मृतक समान हैं, उन्हें व्रत नहीं कहा जाता। अहा! भाषा देखो न! कैसी ली है? कहते हैं कि **परम संयमियों को....** जिसमें विकल्प की तथा चार भावरूप पर्याय की भी गन्ध नहीं है – ऐसे परम भगवान में / आत्मा में जो अवस्थित है, वह परम संयमी है। यहाँ तो यद्यपि आत्मा को सर्व परिग्रह के परित्यागस्वरूप कहा है तो भी उसमें औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – यह चार प्रकार की पर्यायें नहीं हैं। अत: इन पर्यायों से रहित जिसका स्वरूप है – ऐसी अपनी वस्तु में जो अवस्थित / निश्चय से स्थिर है, वह चारित्रपर्यायवन्त परम संयमी है, वह अपने स्वरूप में अवस्थित हुआ, तब उसके साथ स्वरूप की श्रद्धा भी आयी, उसका ज्ञान भी आया और चारित्र भी आया; तीनों साथ ही आये, क्योंकि स्वरूप में अवस्थित कब हुआ? जब उसकी श्रद्धा होकर ज्ञान हुआ, तब उसमें अवस्थित हुआ, स्थिर हुआ।

अहा! **परम संयमियों को–परम जिनयोगीश्वरों को....** देखो दूसरा विशेषण आया। टीका में भी है कि **परमसंयमिनां परमजिनयोगीश्वराणां;** अर्थात्, परम + जिनं + योग + ईश्वर तात्पर्य यह है कि जिसने अपने परमात्ममय निज स्वरूप में जुड़ान किया है, अपने वीतरागभाव में योग जोड़ दिया है, वह योगी है और जो उसके भी ईश्वर हैं, वे परम जिनयोगीश्वर हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि ने भी अपने परमात्मा में योग जोड़ा है परन्तु मुनि तो परम जिनयोगीश्वर हैं – ऐसा कहते हैं। ऐसे मुनि को; अर्थात्, **सदैव निश्चय–व्यवहारात्मक सुन्दर चारित्रभर वहन करनेवालों को....** लो, निश्चय और व्यवहार यह दोनों साथ ही लिये हैं। निश्चय; अर्थात्, वस्तु में अवस्थित दशारूप सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और व्यवहार; अर्थात्, विकल्प – ऐसे निश्चय

www.vitragvani.com



–व्यवहारस्वरूप सुन्दर चारित्र है, उसके अतिशयपनेरूप / समूहपनेरूप चारित्रभर को **बाह्य –अभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही....** देखो; अब, **सव्वेसिं गंथाणं चागो** का अर्थ आया कि दस प्रकार का बाह्य और चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग – ऐसे समस्त चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग मुनि के होता है।

अहा! आत्मवस्तु तो परिग्रहरहित है ही; अब परिणाम में भी परिग्रह का त्याग हुआ है – ऐसा कहते हैं। ऐसा सर्व परिग्रह के परित्यागरूप परिणाम हैं, वह **परम्परा से पञ्चम गति के हेतुभूत ऐसा पाँचवाँ व्रत है।** देखो, व्रत को पञ्चम गति का परम्परा कारण कहा है।

देखो, चारित्रभर की व्याख्या फुटनोट में की है कि चारित्रभर, अर्थात् चारित्र का भार, चारित्र समूह, चारित्र की अतिशयता। यहाँ भार, अर्थात् बोझा – ऐसा अर्थ नहीं है किन्तु भार, अर्थात् समूह और चारित्र की अतिशयता, अर्थात् रमणता की विशेषता। तात्पर्य यह है कि स्वरूप में रमणता की विशेषता ही चारित्रभर है। जैसे, गाड़ी में 'भर' भरते हैं न! उसी प्रकार चारित्र का भर, अर्थात् शान्ति का भार, शान्ति का समूह; अपने स्वरूप में इतना स्थिर हो कि शान्ति का समूह प्रगट हो और उसके वहन करनेवाले के साथ शुभविकल्प होता है, उसे वास्तव में व्रत कहते हैं। लो, परम्परा से पञ्चम गति के हेतुभूत पाँचवाँ व्रत / अपरिग्रहमहाव्रत इसे कहते हैं।

**प्रश्न –** व्रत, बन्ध का कारणभूत है – ऐसा यहाँ नहीं कहा गया है परन्तु मोक्ष का कारण है, यहाँ तो ऐसा कहा है।

**उत्तर –** परन्तु इस व्रत को मोक्ष का कारण कहा है, वह तो व्यवहार से कहा है न! और उसका स्पष्टीकरण भी फुटनोट में किया गया है। व्रत को मोक्ष का परम्परा कारण कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि व्रत में उतना अशुभभाव टलता है और फिर शुभभाव भी टलेगा, तब मोक्ष होगा। धर्मी जीव, दृष्टि, अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित है न! इसलिए उसे शुभभाव में, आंशिक अशुभभाव टल गया है, तत्पश्चात् क्रम-क्रम से शुभभाव भी टलेगा। देखो! इस बात का स्पष्टीकरण फुटनोट में निम्न प्रकार किया गया है —

***शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत, शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु है – ऐसा मानकर यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा है।***

हेतु = निमित्त; उपचार से = व्यवहार से।

**प्रश्न** – बहुत मेहनत से ढूँढते-ढूँढते व्रत, मोक्ष का परम्परा कारण है – ऐसा शब्द आया है और आप कहते हो कि व्रत, मोक्ष का कारण नहीं है।

**उत्तर** – परन्तु राग कहीं मोक्ष का कारण होता है ? नहीं होता। यह तो वर्तमान शुभराग में अशुभराग का अभाव है और फिर शुभराग का भी अभाव करेगा; इस कारण शुभराग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है। राग तो विभाव / अधर्म है। क्या अधर्म, धर्म का कारण होता है ? नहीं। लोगों को कठिन लगे – ऐसी बात है। भाई ! यह शुभराग की मिठास तो जड़ की / अज्ञान की मिठास है। शुभराग का प्रेम मिटना; अर्थात्, उसकी मिठास मिटना बहुत कठिन बात है।

यहाँ यह कहते हैं कि पूर्ण भगवान आत्मा, शुभाशुभभाव / अज्ञानभावरहित ज्ञानस्वभाव से भरपूर तत्त्व है, स्वयं आत्मवस्तु भी ऐसी है; अत: उसका आश्रय लेकर प्रगट होनेवाली परिणति ही मुक्ति का कारण है।

***वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि को मुनियोग्य शुद्धपरिणति हो ( शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करती है, इसलिए ) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग का हेतु होती है और वह शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु होता है।***

देखो, क्या कहते हैं ? कि शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग का हेतु होती है; अर्थात्, छठवें गुणस्थान में जो शुद्धपरिणति है, वह सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का हेतु होती है। भाई ! वस्तुस्थिति तो ऐसी है। यद्यपि यह भी अभी अपेक्षित कथन है। वस्तुतः तो शुद्धोपयोग प्रगट होने का मूल कारण द्रव्य का विशेष / उग्र आश्रय है; अर्थात्, छठवें गुणस्थान में द्रव्य का जितना आश्रय है, उसकी अपेक्षा सातवें गुणस्थान में विशेष आश्रय है और इस कारण सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्रगट होता है परन्तु व्यवहार से वर्णन करना हो तो छठवें गुणस्थान में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति है, वह सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का कारण है – ऐसा कहा जाता है। भाई ! यह बात बहुत अद्भुत है।

यहाँ कहते हैं कि वास्तव में शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग का हेतु है परन्तु उस शुद्धपरिणति का आरोप शुभभाव में करके शुभभाव को शुद्धोपयोग का हेतु कहा गया है। दूसरे प्रकार से कहें तो छठवें गुणस्थान में कषायरहित शुद्धपरिणति है, वह सातवें गुणस्थान का हेतु है परन्तु उस शुद्धपरिणति को हेतु नहीं बताकर और उस शुद्धपरिणति का आरोप शुभभाव में करके शुभराग,

www.vitragvani.com



शुद्धोपयोग का हेतु है – ऐसा आरोपित कथन किया है। वस्तुतः तो उस शुद्धपरिणति को शुद्धोपयोग का हेतु कहना भी उपचार है क्योंकि उस पर्याय का व्यय होकर, शुद्धोपयोग प्रगट होता है। अद्‌भुत बात है भाई! अहा! छठवें गुणस्थान की शुद्धपरिणति का व्यय होकर, सातवें गुणस्थान का शुद्धोपयोग / विशेष शुद्धि प्रगट होती है; इस कारण शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग का कारण है – यह कहना भी उपचार है। वस्तुतः तो शुद्धोपयोग का कारण त्रिकाली द्रव्य है परन्तु अब जब शुद्धोपयोग का कारण कौन? शुद्धपरिणति या शुभपरिणति? – ऐसी उन दो परिणतियों के बीच की बात करनी हो, तब इस प्रकार कहते हैं कि शुद्धपरिणति ही शुद्धोपयोग का कारण है।

अहा! स्वयं भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध है, उसकी शुद्धपरिणति जो कि निर्मल वीतरागी, निर्विकल्पदशा है, वह बाद के शुद्धोपयोग का कारण है क्योंकि पूर्व पर्याय, वह उपादानकारण और बाद की पर्याय वह कार्य – ऐसा आता है न! शुद्धपरिणति का व्यय होकर शुद्धोपयोग उत्पन्न होता है; इसलिए शुद्धपरिणतिरूप पर्याय, उपादानकारण है और तत्पश्चात् जो शुद्धोपयोग आता है, वह उपादेय है, अर्थात् उसका कार्य है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि —

**पूर्वपरिणामयुक्तं कारणभावेन वर्तते द्रव्यं।**
**उत्तरपरिणामयुक्तं तत् च एव कार्यं भवेत् नियमात्।**

देखो, अकेले परिणाम भी कारण नहीं हैं और अकेला द्रव्य भी कारण नहीं है परन्तु **पूर्वपरिणामयुक्तं कारणभावेन वर्तते द्रव्यं** – ऐसा कहा है; अर्थात्, द्रव्य और पर्याय दोनों को साथ लेकर कारण कहा है।

यहाँ कहा है कि छठवें गुणस्थान की शुद्धपरिणति, सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का हेतु होती है और शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु होता है।

***इस प्रकार इस शुद्धपरिणति में रहे हुए मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप, उसके साथ रहनेवाले शुभोपयोग में करके व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा जाता है।***

देखो, शुद्धपरिणति में मोक्ष का परम्परा हेतु रहा हुआ है – ऐसा कहते हैं क्योंकि मोक्ष का कारण सीधा शुद्धोपयोग है और उस शुद्धोपयोग का कारण शुद्धपरिणति है; इसलिए शुद्धपरिणति, मोक्ष का परम्परा कारण भी है। क्या कहा? कि छठवें गुणस्थान की शुद्धपरिणति, शुद्धोपयोग का कारण है और शुद्धोपयोग, मोक्ष का कारण है; इसलिए शुद्धपरिणति, मोक्ष का

www.vitragvani.com



परम्परा कारण हुई और उस शुद्धपरिणति का, जो कि मोक्ष का परम्परा कारण है, उसका आरोप शुभोपयोग में आया है; अर्थात्, शुभोपयोग में मोक्ष के परम्परा कारण का मात्र आरोप आया है। वस्तुतः मोक्ष का यथार्थ परम्परा कारण तो शुद्धपरिणति है।

***जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो, वहाँ वर्तते हुए शुभोपयोग में मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ मोक्ष का यथार्थ परम्परा हेतु प्रगट ही नहीं हुआ है, विद्यमान ही नहीं है, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका किया जाए?***

अज्ञानी को शुद्धपरिणति नहीं है; इसलिए जिसे मोक्ष का यथार्थरूप परम्पराकारण कहते हैं, वह कारण भी नहीं है; अतः आरोप किसका करना? – ऐसा कहते हैं।

(अब, इस गाथा की टीका में आधारभूत प्रस्तुत समयसार की २०८ वीं गाथा में कहा है कि यदि परद्रव्य-परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त होऊँ। मैं तो ज्ञाता ही हूँ, इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है।)

मुनि को अन्तरङ्ग में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है और बाह्य में वस्त्र-पात्रादि का परिग्रह अथवा उसका राग नहीं होता – ऐसा अपरिग्रहव्रत का शुभोपयोग / राग उनकी अन्तर शुद्धपरिणति के साथ होता है। सर्व परिग्रहरहित, ऐसा भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यद्रव्य है, वीतराग स्वभावी वस्तु है; अब उसका आश्रय लेकर जो वीतरागी शुद्धपरिणति प्रगट हुई, वह मुनिपने की निश्चयदशा है और उस भूमिका में बाह्य परिग्रह के त्याग का विकल्प / शुभराग उत्पन्न हो, उसे व्यवहारव्रत कहा जाता है; तथापि वह व्रत भी मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा मुनि जानते हैं। देखो, यही बात अब कहते हैं। जरा सूक्ष्म बात है।

यहाँ परिग्रह की व्याख्या है न! इसलिए इस गाथा का आधार देते हैं।

परिग्रह = परि + ग्रह; अर्थात्, समस्त प्रकार से जिसमें स्वपना रहा है, वह। इस कारण भगवान आत्मा का परिग्रह अनन्त आनन्दादि हैं। ज्ञान, आनन्द आदि स्वरूप, वह आत्मा का परिग्रह है और ऐसा शुद्ध चैतन्य आनन्दघन वीतराग मूर्ति प्रभु आत्मा ही धर्मी का स्व है, धर्मी का परिग्रह है।

व्रत की बात पहले गाथा में (६० वीं गाथा में) आ गयी है। अब, यहाँ समयसार की गाथा का आधार लेते हैं कि यदि परद्रव्य-परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवपने को प्राप्त होऊँ।

देखो ! कैसा न्याय देते हैं ? शुभाशुभ विकल्परूप रागादि भी यदि मेरे हों तो राग मेरे स्वभाव से भिन्न चीज है; इसलिए अचेतन होने से मैं अजीवपने को प्राप्त होऊँ, परन्तु धर्मी की दृष्टि में सम्यक्त्व से लेकर पूर्णता तक अकेला शुद्ध आनन्दधाम चैतन्य आत्मा ही होता है, वही उसकी दृष्टि का विषय है, वही उसकी वस्तु है; इस कारण उसे ऐसी दृष्टि होने से राग का परिग्रह नहीं होता।

मुनि को परिग्रहरहितपना होता है और अभी यहाँ मुनि की प्रधानता से व्याख्या है कि मुनि ऐसा विचारते हैं कि रागादि का कण अथवा बाह्य रजकण भी मेरा हो तो क्योंकि वे अजीव हैं, इसलिए मैं अजीव हो जाऊँ। यदि विकल्प से लेकर परद्रव्य, परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवपने को प्राप्त होऊँ। यहाँ अभी निर्मलपर्याय परद्रव्य है – यह बात नहीं लेना है परन्तु महाव्रत का शुभराग / विकल्प अचेतन है; आत्मा का स्वरूप नहीं है – ऐसा कहना है। महाव्रत तो राग है न ? विकल्प है न ? इसलिए अचेतन है। वह अचेतन है; अर्थात्, उसमें चेतनपना / ज्ञान और आनन्द का अंश भी नहीं है, उसमें चेतन्य की किरण का अंश भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि परद्रव्य / अचेतनरूप राग मेरा हो तो मैं अजीवपने को प्राप्त होऊँ, परन्तु मैं प्रभु भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द की मूर्ति हूँ, अकेला ज्ञान और आनन्द का पिण्ड हूँ; इसलिए मुझमें महाव्रत के विकल्प का, जो कि वस्तुतः अचेतन है, उसका अभाव है। अहा ! महाव्रत का विकल्प भी अचेतन है क्योंकि वह राग है और राग, वह अचेतन है। राग स्वयं अपने को नहीं जानता और राग दूसरों के द्वारा ज्ञात होता है; इसलिए राग अचेतन है। यदि ऐसे राग को मैं अपना मानूँ तो मैं अजीव हो जाऊँ – ऐसा कहते हैं।

अहा ! अचेतन विकल्प मेरा नहीं है – यह भान तो सम्यग्दर्शन हुआ, तब से ही है परन्तु यहाँ तो यह कहना है कि चारित्रवन्त कहता है कि विकल्प मेरा नहीं है, क्योंकि यह चारित्र की व्याख्या है न ! तथा समयसार के निर्जरा अधिकार की प्रस्तुत गाथा में कहा है न ! तो कहते हैं कि मैं तो ज्ञाता हूँ, विकल्पमात्र मेरा परिग्रह नहीं है। दया, दान, व्रत का राग भी मेरी वस्तु में नहीं है। यदि राग मेरी वस्तु हो तो मैं अचेतन हो जाऊँ। अब जहाँ राग भी अपना नहीं है, वहाँ शरीरादि परद्रव्य तो कहीं दूर रह गये। यह शरीर तो मिट्टी / धूल है और अजीवरूप होकर रहे हुए पुद्गल हैं; इसलिए ये मेरे हैं – यदि ऐसा तू मानता हो तो तू जड़ है – ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार राग के भाव को भी अपना माने तो तू अजीव है, तूने अपने जीवपने को नहीं माना है।

www.vitragvani.com



यहाँ कहते हैं कि मुनि यह जानते हैं कि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है। मेरी वस्तु तो जानने-देखनेवाली है, मुझमें रागादि कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार आत्मा को अन्तर में अनुभव करना, उसमें स्थिरता करना ही मुक्ति का मार्ग है; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

## कलश ८० पर प्रवचन

यह नियमसार का व्यवहारचारित्र अधिकार है। इसमें ६० वीं गाथा का यह ८० वाँ कलश है। पञ्च महाव्रतों में पाँचवें व्रत की बात चली न! तो उसका यह कलश है। यहाँ कहते हैं कि —

**भव्य जीव, भवभीरूता के कारण परिग्रहविस्तार को छोड़ो और निरुपम सुख के आवास की प्राप्ति हेतु निज आत्मा में अविचल, सुखाकार ( सुखमयी ) तथा जगत्‌जनों को दुर्लभ, ऐसी स्थिति ( स्थिरता ) करो....**

वास्तविक मुनिपने की दशा और उसका पाँचवाँ व्रत कैसा होता है? अर्थात्, मुनि को निश्चय अनुभवसहित पाँचवाँ व्रत कैसा होता है? – उसकी यह बात है। जिसे निश्चय में; अर्थात्, शुद्धपरिणति में अतीन्द्रिय आनन्दमय निज स्वभाव का अनुभव हुआ है, तदुपरान्त जिसे स्वरूप की विशेष रमणता हुई है; अर्थात्, विशेष शान्ति और वीतरागता प्रगट हुई है, उसे उसकी भूमिका के योग्य पाँच महाव्रतों का शुभराग होता है। उसमें परिग्रह के त्याग का जो शुभराग है, उसे यहाँ पाँचवाँ महाव्रत कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि जो भव्यजीव हैं, आत्म की शान्ति, आनन्दादि की पूर्णदशारूप मुक्ति का जो अभिलाषी है, उसे चार गति के भव का भय होता है। मुनि को चार गतियों में से किसी भी गति में; अर्थात्, भव में जाने का भय होता है। चार गति के परिभ्रमण का उन्हें डर होता है। स्वर्ग की गति हो तो भी वह कषाय की अग्नि हैं। उस कषाय के अङ्गार से स्वर्ग के देव भी जल रहे हैं; इसलिए किसी भी गति में शान्ति नहीं है। इस कारण सम्यग्दृष्टि और धर्मात्मा मुनिराज को भवभीरूपना होता है। यद्यपि यहाँ मुनि की बात है; इसलिए मुनि को भवभीरूपना है – ऐसा कहते हैं। कोई भी भव और भव के कारणरूप भाव का मुनि को डर होता है कि यह नहीं... यही नहीं...। अरे! मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द का साधक आत्मा हूँ, मुझे भव और भव के भाव का डर है – ऐसा वे जानते हैं। ऐसे जीव कहते हैं कि परिग्रह विस्तार को छोड़ो! देखो, भव्य जीव, भव से डरा है – ऐसा कहते हैं।

www.vitragvani.com



वास्तविक जैनदर्शन का वीतरागी कथित मुनिपना कैसा होता है? – उसकी यहाँ सच्ची समझ कराते हैं तथा वह मुनिपना अङ्गीकार करना कि जो मुक्ति का तात्कालिक कारण है – ऐसा उपदेश करके वैराग्य कराते हैं। कहते हैं कि जो सच्चे मुनि हैं, उन्हें तो एक वस्त्र का धागा भी नहीं होता; इसलिए तो कहा है न कि परिग्रह विस्तार को छोड़ो! परिग्रह का जितना विस्तार है, उसे छोड़ो; अर्थात्, परिग्रह का सम्पूर्ण विग्रह, अर्थात् विस्तार छोड़ो! क्योंकि एक वस्त्र का टुकड़ा रखने में भी ममत्व / मूर्च्छा / परिग्रह है और जहाँ ऐसा भाव है, वहाँ मुनिपना नहीं होता।

यहाँ व्यवहार से उपदेश है; इसलिए कहते हैं कि परिग्रह विस्तार को छोड़ो और उपमारहित आत्मा के आनन्द के निवासस्थान की प्राप्ति के लिए स्थिरता करो। अतीन्द्रिय आनन्द का निजस्थान / घर आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द अन्यत्र कहीं नहीं है किन्तु अपना सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा ही शाश्वत ज्ञान और आनन्द का भण्डार है, अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र है, उसमें अविचल, अर्थात् चलाचलरहित स्थिर हो – ऐसा कहते हैं। देखो, यह मुनिपना! अहा! प्रभु आत्मा, पुण्य-पाप के राग से भिन्न है और अपने अतीन्द्रिय आनन्द से अभिन्न है। लो, ऐसा आत्मतत्त्व है! ऐसे सुखमय भगवान आत्मा में स्थिति करो – इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में रहना साधारण प्राणियों को महादुर्लभ है, जबकि मुनियों को तो यह सुलभ है। जिसे ऐसी स्थिरता हुई हो, उसे ही मुनि कहते हैं।

अहा! मुनि ने अपना अतीन्द्रिय आनन्द, सम्यग्दर्शन होने पर अनुभव किया था; अर्थात्, पहले सम्यग्दर्शन होने पर जाना था कि मैं आत्मा हूँ और मुझमें अतीन्द्रिय आनन्द है; अब उसमें अविचल स्थिति करके वे कहते हैं कि जगत् के साधारण प्राणियों को वह स्थिति दुर्लभ है। बोधिदुर्लभभावना में आता है न कि पहले तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान ही दुर्लभ है क्योंकि आत्मा क्या वस्तु है? – इसका अज्ञानी को पता ही नहीं है और बाहर से मान बैठा है कि हम ज्ञानी हैं। अब जिसे जगत् के भव में से निकलना हो, उसकी तो आत्मा के अनुभवमय कैसी अन्तरदशा होती है? उसे आत्मा में ऐसी अविचल स्थिति / स्थिरता होती है कि जो जगत्जनों को दुर्लभ है। यह कहकर मुनिदशा के योग्य अतीन्द्रिय आनन्द में मुनिराज स्थिर होते हैं – ऐसा कहते हैं। देखो, यह मुनिपना! अरे! अज्ञानी को तो अभी मुनिपना क्या वस्तु है? मुनिराज की दशा कैसी है? – इसका कुछ भी पता नहीं है और नग्न होकर निकल पड़ते हैं, तथापि मानते हैं कि हम साधु हैं।

अहा! वस्तुरूप आत्मा है, वह अतीन्द्रिय आनन्द का घर / निवासस्थान / धाम है तो उसका तूने अनुभव किया हो कि यह आत्मा आनन्दस्वरूप है तो अब उसमें स्थिर हो, अर्थात् निवास कर! वास कर! इसी का नाम साधुपना है और ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती है।

ज्ञानी जानता है कि राग है, वह तो दुःखरूप है। अरे! व्रत का विकल्प भी दुःखरूप है, जबकि मेरा आवास तो निरूपम सुखमय है। निरूपम अतीन्द्रिय आनन्दमय मेरा स्वभाव है, वही मेरा घर है और उसी में मेरा वास है। मेरा निवास, मेरा आश्रयस्थल, मेरा घर, मेरा ठिकाना, मेरा आयतन निरूपम सुखमय है; अर्थात्, निरूपम सुखमय आत्मा मेरा आयतन है और उसकी प्राप्ति के लिए; अर्थात्, अपने निजानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए मैं उसमें स्थिर होता हूँ। अहा! शरीरादि तो पर हैं और रागादि विकार, दुःख है, जबकि पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दमय भगवान आत्मा मेरा घर है। इस कारण उसकी अपनी पर्याय में प्राप्ति के लिए मेरी दशा उसके सन्मुख हुई है और राग तथा रजकण से विमुख हुई है। लो, इसका नाम परिग्रहरहितपना है।

अहा! मैं तो एक निरूपम, अर्थात् उपमारहित, अतीन्द्रिय आनन्द का आवास हूँ। सत्चिदानन्द = सत् + चित् + आनन्द; अर्थात्, मैं शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का निवास हूँ, यह मेरा निवास –रहने का स्थान है किन्तु निमित्त अथवा व्यवहाररूप राग मेरे रहने का स्थान नहीं है। अरे! चैतन्य क्या है ? – इसका जगत् को पता नहीं है। वह तो पूर्णानन्द का नाथ है। केवलज्ञानी को जो आनन्द प्रगट हुआ है, वह भी उससे तो अनन्तवें भाग है क्योंकि केवलज्ञानी को जो आनन्द प्रगट हुआ है, वह तो पर्याय का एक समय आनन्द है; जबकि द्रव्य में तो उससे अनन्त–अनन्तगुना अपरिमित स्वभावरूप आनन्द विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यस्वभाव तो अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है और वह मेरा है। इस प्रकार धर्मी अपनी दृष्टि के विषयरूप द्रव्यस्वभाव को स्वीकार करता है। भाई! यह बात बहुत सूक्ष्म है। इसने अनन्त काल में अपूर्वपना किसी दिन किया नहीं है; इसीलिए ऐसा लगता है कि यह क्या है ? परन्तु भाई! यह अपूर्व चीज है कि जिसे पूर्व में तूने कभी दृष्टि में नहीं लिया, तूने बाहर की सब बातें की है कि ऐसा करना, यह छोड़ना, परन्तु यह सब तो मिथ्याभ्रम की प्रवृत्ति है।

यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि मेरा निज घर तो निरूपम सुखमय है किन्तु राग अथवा उसके निमित्त – ऐसी परिग्रह वस्तु मेरा आवास / स्थान / घर / आयतन / ठिकाना नहीं है। वह मेरे रहने योग्य स्थान नहीं है। यह बात तो समयसार के निर्जरा अधिकार में भी आती है न कि मेरे आत्मा

के रहने का स्थान आनन्दमय है *( कलश १३८, गाथा २०३ )* लो, रहनेवाले का रहने का स्थान तो आत्मा है – ऐसा कहते हैं। आत्मा में ज्ञान-दर्शन इत्यादि ऐसी अनन्त शक्तियाँ संख्यारूप से हैं, उस एक-एक शक्ति का भी अनन्त-अनन्तरूप / स्वरूप है और ऐसी अनन्त शक्तियों का एकरूप पिण्ड, वह द्रव्य है – ऐसा जो द्रव्य; अर्थात्, पूर्ण प्रभु आत्मा है, वह मेरा निवासस्थान है; अर्थात्, मेरे रहने का घर तो यह है – ऐसा धर्मी जानता है। भजन में भी आता है न —

**हम तो कबहूँ न निज घर आये.....**
**पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये..... हम तो....**

*- कविवर पण्डित दौलतरामजी*

मैं रागी हूँ, पुण्यवाला हूँ, पापवाला हूँ, मैंने पुण्य किया है, मैंने पाप किया है, मैं मनुष्य हूँ – ऐसे नाम तो अनन्त बार धारण किये हैं परन्तु वह निजघर नहीं; निजघर तो यह है। निरुपम आनन्द का धाम भगवान् आत्मा ही निजघर है परन्तु अरे! यह बात इसे कैसे समझ में आये? क्योंकि इसकी दृष्टि ही अनादि की अंश और राग पर है; अनन्त गुणों की पर्याय का अंश, जो कि प्रगट व्यक्त है तथा जो राग है, उस पर अनादि से इस अज्ञानी की रुचि और लीनता है। अरे! द्रव्यलिङ्गी साधु होकर नौंवे ग्रैवेयक तक गया तो भी इनकी ही रुचि थी। छहढाला में कहा है न कि —

**मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो**
**पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।** *( - छहढाला, ४/५ )*

इसका अर्थ यह हुआ कि स्वरूप के ज्ञान-भान बिना ये सभी पञ्च महाव्रतादिक अट्ठाईस मूलगुण भी दुःखरूप परिणाम हैं। लो, पञ्च महाव्रतादिक अट्ठाईस मूलगुण के परिणाम भी दुःखरूप हैं – ऐसा कहते हैं! क्योंकि वह शुभराग है। अहा! 'आतमज्ञान बिना'; अर्थात्, जो आनन्द का धाम है – ऐसे आत्मा के / स्वज्ञेय के ज्ञान के बिना आनन्द नहीं होता। परज्ञेय का ज्ञान करने में दुःख और पराधीन / परावलम्बी ज्ञान है। बापू! मार्ग ऐसा है, वस्तु की स्थिति ऐसी है। यह कोई दूसरी प्रकार कुछ करे तो वस्तु प्राप्त हो – ऐसा नहीं है क्योंकि वस्तु ही ऐसी है।

अहा! एक समय में वस्तु आत्मा ही निरूपम पूर्णानन्दमय प्रभु है कि जिसे किसी की उपमा नहीं है। अरे! उसके आनन्द के एक अंश के स्वाद को भी उपमा नहीं है तो उसे किसके साथ मिलान करना, क्योंकि इन्द्र के राग का सुख भी ज़हर के समान है।

**श्रोता** – उस इन्द्र को सुख ही कहाँ है?

**पूज्य गुरुदेवश्री** – किन्तु लोग मानते हैं न कि हम, इन्द्र के समान भोग-भोगते हैं। वास्तविकता यह है कि आत्मा, पर को भोग सकता ही नहीं। परवस्तु का भोग तो किसी को होता ही नहीं। उसे तो राग का भोग है और वह राग, ज़हर है क्योंकि अमृतस्वरूप भगवान आत्मा से विपरीतभाव है। तथापि ऐसे राग के दावानल जैसे दुःख में पड़ा हुआ अज्ञानी जीव मानता है कि हम स्वर्गादिक में सुखी हैं परन्तु यह तो उसका मिथ्याभ्रम है। सुख-आनन्द का धाम तो चैतन्य प्रभु आत्मा है।

देखो, भाषा कैसी की है कि 'निरुपम सुख के आवास की प्राप्ति के लिए...' अर्थात्, पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा की पर्याय में प्राप्ति के लिए स्थिरता करो। अरे भगवान् तेरे अपने पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति के लिए निज आत्मा में अविचल स्थिरता करो। देखो, निज आत्मा कहने से तीन लोक के नाथ केवली भगवान भी नहीं, क्योंकि वे भी पर हैं। निज आत्मा कहने से अपना भगवान आत्मा समझना चाहिए। अहा! आत्मा ही उसे कहते हैं कि जो पूर्ण होता है और जिसने राग भी नहीं होता तथा एक समय की पर्याय भी नहीं होती – ऐसे निज भगवान आत्मा में अविचल स्थिति कर। तात्पर्य यह है कि जैसे चीज अविचल है, वैसी पर्याय में अविचल स्थिति कर – ऐसा कहते हैं। बापू! यह बात कठोर है क्योंकि इसमें इस बात को कभी जाना नहीं है और बाहर की सिरपच्ची में पढ़कर वास्तविक तत्त्व को भूल गया है।

अब कहते हैं कि जगत्जनों को दुर्लभ; अर्थात्, साधारण प्राणियों को स्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मा में स्थिरता चाहिए, वह दुर्लभ है। यहाँ स्थिरता की बात की है क्योंकि यहाँ चारित्र लेना है न! चारित्र की व्याख्या है। अहा! त्रिकाली निरुपम आनन्द का धाम – ऐसा निज स्वभाव है; अर्थात्, उसमय पूर्ण भगवान् आत्मा है और उसकी प्राप्ति के लिए स्वरूप में अविचल स्थिरता -रमणता कर। निजानन्दस्वरूप ध्रुव प्रभु आत्मा है, उसमें रमण करना, वह चारित्र है। यद्यपि रमणता तो पर्याय है, तथापि द्रव्य में रमणता करना है जो कि चारित्र-पर्याय है। इसी प्रकार अनुभव भी पर्याय है, वह कोई द्रव्य नहीं है। अहा! ऐसी वस्तु की स्थिति है – ऐसा इसके ज्ञान में और श्रद्धान में सर्व प्रथम आना चाहिए। तत्पश्चात् स्थिरता होती है – ऐसा कहते हैं।

देखो, यहाँ क्या कहते हैं? यहाँ कहते हैं कि पूर्ण आनन्द का धाम, निवासस्थान ऐसे

www.vitragvani.com



भगवान आत्मा में अविचल और सुखकार / सुखमयी / आनन्दमयी स्थिरता कर – इसी का नाम चारित्र है। पूर्ण आनन्द का धाम–निवासस्थान ऐसे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्दसहित जगत्‌जनों को दुर्लभ, ऐसी स्थिरता पर्याय द्वारा करो; अर्थात्, अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में सुखकार –आनन्दसहित स्थिरता करो – ऐसा कहते हैं। यह कहकर चारित्र, सुख का देनेवाला है – ऐसा कहते हैं। राग है, वह दु:ख देनेवाला है, जबकि भगवान आत्मा में स्थिरतारूप चारित्रदशा, आनन्ददाता–सुखकार है। तात्पर्य यह है कि चारित्रदशा में सुख का ही आकार है; अर्थात्, चारित्रदशा सुखस्वरूप ही है।

लोग कहते हैं कि चारित्र दु:खरूप है, कष्टदायक है – ऐसा छहढाला में कहा है। (वस्तुत: छहढाला में तो यह कहा है कि आतमहित हेतु विराग ज्ञान ते, लखे आपको कष्ट दान) अर्थात्, जो संवर–निर्जरा को कष्टदायक मानता है, उसे मिथ्यात्वभाव है। उसे चारित्र के स्वरूप का पता नहीं है क्योंकि चारित्र तो आनन्ददायक है। देखो, यहाँ भी कहा है न कि सुखाकार।

कहते हैं कि जगत्‌जनों को; अर्थात्, जगत् के राग के रागियों को / प्रेमियों को तथा परपदार्थ के प्रेमियों को यह सुखमयी स्थिरता दुर्लभ है परन्तु सन्तों को तो आनन्द के धाम प्रभु आत्मा की सुखकार स्थिरता सुलभ है। देखो, आगे कहेंगे कि 'सत्पुरुषों को कोई महा–आश्चर्य की बात नहीं है।' अरे! वस्तु की स्थिति ऐसी है, यह अज्ञानी को अभी पता भी नहीं है। चारित्र की व्याख्या, अर्थात् चारित्र किसे कहना? – यह भी उन्हें पता नहीं है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि निरुपम सुख का आवास – ऐसे भगवान् आत्मा की पर्याय में पूर्ण प्राप्ति के लिए उसमें स्थिरता कर! क्योंकि द्रव्य तो पूर्ण है ही, अब उसकी पर्याय में पूर्ण प्राप्ति के लिए निज आत्मा में; अर्थात्, अपने भगवान् आत्मा में अविचल, सुखकार और जगत् को दुर्लभ – ऐसी स्थिरता कर! इसी का नाम; अर्थात्, अन्दरस्वरूप में रमणता होना, स्वरूप में चरना, आनन्द में रमना, आनन्द का भोजन करना – इसी का नाम चारित्र है। यह चारित्र जगत् को; अर्थात्, अज्ञानियों को दुर्लभ है। राग के रागियों को / प्रेमियों को स्वरूप की दृष्टि होना और उसमें स्थिरता होना, महा–दुर्लभ है – ऐसा कहते हैं।

**...और यह (निजात्मा में अचल सुखात्मक स्थिति करने का कार्य) सत्पुरुषों को कोई महा–आश्चर्य की बात नहीं है.....**

वीतरागी सन्त – मुनि को अन्तर स्वभाव में रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि यह तो उनके स्वभाव की (परिणति की स्थिति ही ऐसी है) अर्थात्, मुनिराज तो छठवें-सातवें गुणस्थान में एक दिन में हजारों बार आते हैं, झूलते हैं। इस प्रकार उन्हें एक दिन में हजारों बार अप्रमत्तदशा होती है। क्षण में सातवाँ गुणस्थान आने पर आनन्द में लीन हो जाते हैं और क्षण में फिर विकल्प उत्पन्न होने पर छठवाँ गुणस्थान आ जाता है, फिर सातवाँ गुणस्थान आता है और फिर छठवाँ गुणस्थान आता है। देखो, यह मुनिदशा। जैनदर्शन के... वास्तविक दर्शन के सन्त ऐसे होते हैं।

अहो! जिन्होंने आत्मा को जैसे हथेली में रेखा देखते हैं, वैसा अन्दर से देखा है, वे मुनि हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर प्रथम से ही 'आत्मा ऐसा है' – यह देखा और जाना था; इसलिए उन धर्मात्मा को आगे बढ़कर स्वरूप में स्थिर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है; यह तो उनका स्वरूप ही है, उनका धन्य अवतार धन्य है। अहा! भगवान् आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है; अर्थात्, शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का सागर है, उसमें शरीर-वाणी और मन तो नहीं, किन्तु दया, दान, व्रत का राग विकल्प भी उसके स्वरूप में नहीं है – वह ऐसी चीज है। उस आत्मवस्तु में बसना, अतीन्द्रिय आनन्द में ठहरना, यह सत्पुरुषों के लिए कोई आश्चर्यकारी बात नहीं है क्योंकि यह तो धर्मात्माओं की स्थिति ही है; अर्थात्, ऐसी ही उनकी दशा है, ऐसा ही उनका स्वरूप है। निजानन्द में-आनन्द के धाम में रमकर सुखात्मक स्थिरता करनेवाले सन्तों को यह स्वरूप स्थिरता करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि यह तो उनकी स्थिति ही है, इसका नाम चारित्र और मुनिपना है।

**..... असत्पुरुषों को आश्चर्य की बात है।**

जिसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, आनन्द का पिण्ड है – ऐसा पता नहीं है; जिसने पर में, धूल में, पुण्य-पाप में सुखबुद्धि मानी है – ऐसे अज्ञानी को आत्मा में स्थिरता आश्चर्यकारी बात है, आश्चर्य की बात है; अर्थात्, वह आत्मा में स्थिरता नहीं कर सकता। यह सत् कैसा है? और उस सत् में स्थिरता कैसी होती है? किस प्रकार होती है? यह असत् पुरुषों के लिये आश्चर्य की बात है। उन्हें आश्चर्य लगता है कि यह क्या है? अन्दर सुखरूप स्थिरता हो, उसे चारित्र कहते हैं तो क्या ऐसी स्थिरता हो सकती है? क्या कहते हैं यह? गप्प लगाते दिखते हैं।

यहाँ कहते हैं कि भगवान् तुझे पता नहीं है। प्रभु! अपनी वस्तु पूर्णानन्द का नाथ आत्मा

www.vitragvani.com



जहाँ स्वयं को प्रतीति में आया, वहाँ उसमें सुखरूपदशा से स्थिरता करना तो सन्तों का सहज स्वाभाविक आचरण है; इसलिए वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है किन्तु असत् पुरुषों के लिये वह आश्चर्य की बात है।

अज्ञानी कहता है कि चारित्र में कितना सहन करना पड़ता है ? बहुत परीषह सहन करने पड़ते हैं; जैसे कि, गर्म पानी पीना, नङ्गे पैर चलना, रात्रि में आहार नहीं करना, देखकर चलना इत्यादि। इस प्रकार भगवान् का मार्ग तो तलवार की धार के समान, अर्थात् दु:खरूप है। दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा है।

ज्ञानी कहते हैं कि बापू, तुझे पता नहीं है ? तुझे सत्पुरुषों के चारित्र की क्रीड़ा का पता नहीं है क्योंकि तूने तो चारित्र को दु:खरूप माना है; जबकि चारित्र तो सुखरूपदशा है। जहाँ अन्दर में स्वरूप की सम्यक्दृष्टि हुई, आनन्दमूर्ति-आनन्द का धाम मेरी वस्तु है – ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ आनन्द में रमणता होती है; अर्थात्, आनन्दसहित सुखकार स्थिरता होती है, वह चारित्र है और वह तो सन्तों की दशा ही है, इसे ही **णमो लोए सव्वसाहूणं** कहते हैं। गणधरदेव भी ऐसे साधु को नमस्कार करते हैं। गणधरदेव पाँच पदों की रचना करते हैं न! तब उसमें यह रचना करते हैं कि —

**णमो लोए सव्व अरहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आयरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।** इस प्रकार सभी पदों में **लोए सव्व** शब्द आता है। अहा! तीर्थङ्कर के वजीर ऐसे गणधर जिन्हें नमस्कार करें और जिन्हें यह नमस्कार पहुँचे, उनकी स्थिति कैसी होती है ? पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि कहते हैं कि यह स्थिति सत्पुरुषों के लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं है। देखो, यह कहकर मुनिराज अपनी भी बात करते हैं। कलश ७६ में भी आया था कि सुन्दर सुखसागर का जो पूर है, वह जिनधर्म जयवन्त वर्तता है। आशय यह है कि प्रभु आत्मा तो सुन्दर सुखसागर का पूर है ही, परन्तु अब पर्याय में भी आनन्द का पूर आया और ऐसा जैनधर्म जयवन्त वर्तता है। इस प्रकार कहकर अपनी चारित्रदशा भी जयवन्त वर्तती है – यह कहते हैं।

देखो, ७६ वें कलश में कहते हैं कि त्रसघात के परिणामरूप अन्धकार के नाश का जो हेतु है, त्रसघात के परिणाम को अन्धकार कहा है क्योंकि शुभाशुभ दोनों परिणाम अज्ञानरूप हैं, उनमें ज्ञान का अंश नहीं है। यहाँ अज्ञान कहकर विपरीतज्ञान नहीं कहना है किन्तु उनमें

www.vitragvani.com



चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के ज्ञान का अंश नहीं है, यह कहना है; अतः अशुभभाव तो अज्ञानरूप अन्धकार है और उनके नाश का हेतु जैनधर्म है तथा 'सुन्दर सुखसागर का जो पूर है' – कौन? यह जैनधर्म की पर्याय। इस पर्याय में आनन्द का पूर बहता है – ऐसा कहते हैं। अहा! अपना स्वरूप तो सुखसागर है ही, परन्तु जिसने उसका अवलम्बन किया, उस जीव को भी सुखसागर का पूर बहता है – ऐसा कहते हैं क्योंकि ऐसे चारित्रवन्त जीव की यहाँ बात है। तात्पर्य यह है कि जिसे पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का पूर बहता है, यहाँ उसकी बात है; अतः ऐसा जैनधर्म जयवन्त वर्तता है। देखो, मूल कलश में है कि **स जयति जिनधर्मः**। यह कहकर मुनिराज अपने को वीतरागता वर्त रही है – ऐसा पुकारते हैं; अर्थात्, ऐसा जैनधर्म हमारी पर्याय में वर्तता है, यह कहते हैं।

अहा! जैनधर्म कहीं तो वर्तता होना चाहिए? तो जैनधर्म / जैनशासन, पर्याय है; द्रव्य अथवा गुण नहीं। द्रव्य और गुण तो त्रिकाल है और उस त्रिकाली का आश्रय लेने पर जो शुद्धता बहती है – आनन्द बहता है, वह जैनधर्म है। सम्यग्दर्शन होने पर भी आनन्द बहता है, सम्यग्दृष्टि को भी पर्याय में आनन्द आता है। यहाँ सुखसागर का पूर क्यों कहा? क्योंकि टीकाकार स्वयं मुनि हैं, इसलिए। सम्यग्दृष्टि को अभी इतना आनन्द-आनन्द का पूर नहीं है किन्तु आंशिक आनन्द है, जबकि यहाँ तो मुनिपने की बात कहना है; इसलिए आनन्द का पूर शब्द कहा है। चौथे गुणस्थान की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान में अधिक आनन्द है और उसकी तुलना में छठवें गुणस्थान में अधिक आनन्द होता है; इसलिए कहते हैं कि आनन्द का पूर बहता है। अहा! ऐसी वस्तुस्थिति है और उसे इस प्रकार जाने-पहचाने और माने बिना उसमें स्थिरता नहीं होती। यह पदार्थ (-आत्मा की स्थिति), उसका वास्तविक स्वरूप तथा उसकी चारित्रपर्याय की दशा कैसी होती है? – उसका यह वर्णन है।

अहा! इस गाथा में पाँचवें महाव्रत की निर्ग्रन्थदशा की बात थी न! इसलिए कहते हैं कि मुनिराज को नग्नदशा का विकल्प होता है। सच्चे जैन के मुनिराज तो अन्तरङ्ग में तीन कषाय चौकड़ी के अभाववाले होते हैं और बाह्य में उनकी अत्यन्त नग्नदशा होती है। देखो, उन्हें जैन के मुनि कहा जाता है; अर्थात्, मात्र नग्न भी नहीं और तीन कषाय का अभाव हुआ हो किन्तु शरीर पर वस्त्रादि रहे – ऐसा भी नहीं, ऐसी मुनि की दशा है। भाई! यह वीतराग परमेश्वर की आज्ञा है; इस प्रकार इसे पहले पहचान करके मानना चाहिए। ●●

## गाथा ६१

**पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।**
**गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स॥ ६१॥**

**प्रासुकमार्गेण दिवा अवलोकयन् युगप्रमाणं खलु।**
**गच्छति पुरतः श्रमणः ईर्यासमितिर्भवेत्तस्य॥ ६१॥**

**मुनिराज चलते मार्ग दिन में, देख आगे की मही।**
**प्रासुक धुरा जितनी, उन्हें ही समिति ईर्या है कही॥ ६१॥**

**गाथार्थ :** जो श्रमण, प्रासुकमार्ग पर दिन में धुरा प्रमाण आगे देखकर चलता है, उसे ईर्यासमिति होती है।

**टीका :** यहाँ (इस गाथा में), ईर्यासमिति का स्वरूप कहा है।

जो परमसंयमी[१] गुरुयात्रा (गुरु के पास जाना), देवयात्रा (देव के पास जाना) आदि प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य रखकर, एक धुरा (चार हाथ) जितना मार्ग देखते-देखते, स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों की परिरक्षा (समस्त प्रकार से रक्षा) के हेतु दिन में ही चलता है, उस परमश्रमण को ईर्यासमिति होती है। (इस प्रकार) व्यवहारसमिति का स्वरूप कहा गया।

अब, निश्चयसमिति का स्वरूप कहा जाता है – अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्मा के प्रति सम्यक् 'इति' (गति) अर्थात्, परिणति, वह समिति है; अथवा निज परमतत्त्व में लीन सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों को संहति (मिलन; संगठन), वह समिति है।

---

१- परमसंयमी मुनि को (अर्थात्, मुनियोग्य शुद्धपरिणतिवाले मुनि को) शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) ईर्यासम्बन्धी (गमनसम्बन्धी; चलनेसम्बन्धी) शुभोपयोग, वह व्यवहार ईर्यासमिति है। शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहारसमिति भी नहीं कहलाता [इस ईर्यासमिति की भाँति अन्य समितियों का भी समझ लेना।]

इस प्रकार निश्चय और व्यवहाररूप समितिभेद जानकर, उनमें (उन दो में से) परम-निश्चयसमिति को भव्य जीव प्राप्त करो।

अब, ६१ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं —

(मन्दाक्रान्ता)

**इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो।**
**मुक्त्वा संगं भवभयकरं हेमरामात्मकं च।**
**स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे**
**भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव॥ ८१॥**

(वीरछन्द)

**परम समिति को मुक्ति वधू की सखी जानते हैं जो जीव।**
**भवभयकारी कंचन कामिनी संग छोड़ते भव्य सदैव॥**
**सहज अपूर्व स्वरूप विलसता चमत्कार चैतन्य अभेद।**
**उसमें थिर होकर परिणमते सदा मुक्त रहते हैं वे॥**

**श्लोकार्थ :** इस प्रकार मुक्तिकान्ता की (मुक्तिसुन्दरी की) सखी परम-समिति को जानकर, जो जीव भवभय के करनेवाले कञ्चन कामिनी के सङ्ग को छोड़कर, अपूर्व, सहज-विलसते (स्वभाव से प्रकाशते), अभेद चैतन्यचमत्कारमात्र में स्थित रहकर (उसमें) सम्यक् 'इति' (गति) करते हैं; अर्थात्, सम्यक्‌रूप से परिणमित होते हैं, वे सर्वदा मुक्त ही हैं।

(मालिनी)

**जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां**
**त्रसहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा।**
**भवदवपरितापक्लेशमूतमाला**
**सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी॥ ८२॥**

(हरिगीतिका)

**जयवन्त हो यह समिति जो मुनि शील गुण का मूल है।**
**यह त्रस तथा स्थावरों के घात से अति दूर है॥**
**भव दवानल तापरूपी क्लेश करती शान्त है।**
**सुकृतरूपी धान्य को संतोष दायक मेघ है॥**

**श्लोकार्थ :** जो (समिति), मुनियों को शील का (चारित्र का) मूल है, जो त्रसजीवों के घात से तथा स्थावरजीवों के घात से समस्त प्रकार से दूर है, जो भव-दावानल के परितापरूपी क्लेश को शान्त करनेवाली तथा समस्त सुकृतरूपी धान्य की राशि को (पोषण देकर) सन्तोष देनेवाली मेघमाला है – ऐसी यह समिति जयवन्त है।

(मालिनी)

**नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्**
**समितिविरहितानां कामरोगातुराणाम्।**
**मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये**
**ह्यपवरकममुष्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः॥ ८३॥**

(हरिगीतिका)

**विश्व में निश्चित यही, इस जन्मरूपी उदधि में।**
**समिति विरहित कामरूपी, रोगपीड़ित जन्मते॥**
**इसलिए हे मुनी! अपनी, चित्तरूपी निलय में।**
**इस मुक्तिरूपी सुन्दरी के लिए, भव्य निवास रख॥**

**श्लोकार्थ :** यहाँ (विश्व में) यह निश्चित है कि इस जन्मार्णव (भवसागर में) समितिरहित कामरोगातुर (इच्छारूपी रोग से पीड़ित) जनों का जन्म होता है। इसलिए हे मुनि! तू अपने मनरूपी घर में इस सुमुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के लिये निवासगृह रख (अर्थात्, तू मुक्ति का चिन्तवन कर)।

(आर्या)

**निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः।**
**वत न च लभतेऽपायात् संसारमहार्णवे भ्रमति॥ ८४॥**

(वीरछन्द)

**निश्चयरूप समिति पाले तो जीव मुक्ति को प्राप्त करे।**
**किन्तु अरे रे! समिति नाश से मुक्ति न हो भव में भटके॥**

**श्लोकार्थ :** यदि जीव, निश्चयरूप समिति को उत्पन्न करे तो वह मुक्ति को प्राप्त करता है – मोक्षरूप होता है परन्तु समिति के नाश से (अभाव से), अरे रे! वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता, किन्तु संसाररूपी महासागर में भटकता है।

## गाथा ६१ पर प्रवचन

**अर्थात्, जो श्रमण प्रासुकमार्ग पर दिन में धुरा प्रमाण आगे देखकर चलता है, उसे ईर्यासमिति होती है।**

अब, समिति की व्याख्या करते हैं। इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार की समिति की व्याख्या की जाएगी, क्योंकि अकेली व्यवहारसमिति होती ही नहीं। जिसे अन्दर में आनन्द की धारा; अर्थात्, शुद्धपरिणति होती है, उसे व्यवहारसमिति होती है। समिति = सम + इति, अर्थात् संगठन होना। जिसको अनन्त गुणों के साथ एकत्व हुआ है, जिसे निर्मल निश्चयधारा बहती है, उसे व्यवहारसमिति का विकल्प होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के भानसहित मुनि को ईर्या आदि समिति होती है। अत: निश्चयसमितिसहित व्यवहारसमिति कैसी होती है ? – अब, उसकी बात करते हैं।

**यहाँ, इस गाथा में ईर्यासमिति का स्वरूप कहा है।**

व्यवहार ईर्यासमिति किसे कहना ? – वह यहाँ कहते हैं। देखो, यहाँ इस भाषा का प्रयोग किया है कि **परमसंयमी** – इसका अर्थ फुटनोट में इस प्रकार किया है – 'परमसंयमी मुनि को (अर्थात्, मुनियोग्य शुद्धिपरिणतिवाले मुनि को) शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) ईर्यासम्बन्धी (गमनसम्बन्धी; चलनेसम्बन्धी) शुभोपयोग, वह व्यवहार ईर्यासमिति है। शुद्धपरिणति न हो वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहारसमिति भी नहीं कहलाता (इस ईर्यासमिति की भाँति, अन्य समितियों का भी समझ लेना)।

मुनिराज को उनके योग्य तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागधारा / शुद्धधारा तो बहती ही है। तदुपरान्त उसके साथ, देखकर चलने का हठरहित सहज शुभ विकल्प / शुभराग / शुभोपयोग भी होता है और वह व्यवहारसमिति है परन्तु यदि वह शुभराग, शुद्धपरिणति के साथ हो तो उसे व्यवहारसमिति कहा जाता है किन्तु जहाँ शुद्धपरिणति ही प्रगट नहीं है; अर्थात्, जहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति, आनन्द आदि प्रगट नहीं हुए हैं, वहाँ तो (शुभराग को) व्यवहारसमिति भी नहीं कहा जाता। जहाँ अन्दर आत्मा के आनन्द की धारा प्रगट नहीं हुई हो, वहाँ ईर्यासमिति आदि का शुभभाव हठसहित होता है; इस कारण उसे व्यवहारसमिति भी नहीं कहा जाता। निश्चय के बिना व्यवहार कैसा ? इसलिए जहाँ अन्दर परिणति में / पर्याय में / अवस्था में आत्मा

www.vitragvani.com



की आनन्दधारा बहती है, उस भूमिका में होनेवाले ऐसे शुभोपयोग के विकल्प को व्यवहारसमिति कहते हैं परन्तु जहाँ अन्दर में आनन्दधारा नहीं है; अर्थात्, आत्मा की प्रतीति, ज्ञान, अनुभव और स्थिरता नहीं है, वहाँ अज्ञानी के हठयुक्त शुभोपयोग को / शुभभाव को व्यवहारसमिति भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार भाषा, एषणा आदि सभी समितियों में समझ लेना चाहिए।

अहा! पूर्ण आनन्दधाम भगवान आत्मा जिसके वेदन में आया है, जिसे शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, जिसे प्रचुर स्व-संवेदन प्रगट हुआ है; उसे व्यवहारसमिति होती है। यह बात 'समयसार' की पाँचवीं गाथा में भी आती है कि मुनि को प्रचुर स्व-संवेदन होता है। चौथे गुणस्थानवाले को प्रचुर स्व-संवेदन नहीं है; अल्प है, जबकि मुनि को तो प्रचुर स्व-संवेदन होता है। मुनि को आनन्द के वेदन के साथ ज्ञान का वेदन भी होता है और ऐसे उन परम संयमी को उत्पन्न होनेवाले शुभविकल्प को व्यवहारसमिति कहा जाता है।

**जो परम संयमी, गुरुयात्रा ( गुरु के पास जाना ), देवयात्रा ( देव के पास जाना ) आदि प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य रखकर, एक धुरा ( चार हाथ ) जितना मार्ग देखते -देखते स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों की परिरक्षा ( समस्त प्रकार से रक्षा ) के हेतु दिन में ही चलता है, उस परम श्रमण को ईर्यासमिति होती है। ( इस प्रकार ) व्यवहारसमिति का स्वरूप कहा गया।**

मुनि को भी गुरु के पास जाने का विकल्प आता है क्योंकि पूर्ण वीतरागता नहीं है - इस कारण उन्हें ऐसा भाव आता है। तदुपरान्त देवयात्रा; अर्थात्, जहाँ भगवान समवसरण में विराजमान हो, वहाँ जाने का भाव अथवा यात्रा आदि जाने का विकल्प भी उनको आता है।

**प्रश्न** – एक गाँव से दूसरे गाँव जाना क्या है?

**उत्तर** – हाँ, वहा भी ईर्यासमिति है परन्तु यहाँ तो मुख्यरूप से देवयात्रा और गुरुयात्रा - इन दोनों को लिया है; अन्य सब गौण है। अहा! मुनिराज के मुख्य तो गुरुयात्रा और देवयात्रा होती है परन्तु एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की मुख्यता नहीं होती। इसीलिए तो गुरु और देव के पास जाने की बात की मुख्यता लेकर, फिर 'इत्यादि' कहकर अन्य बात ले ली है। इस प्रकार पहले गुरुयात्रा और देवयात्रा - यह दो प्रकार रखकर, फिर इत्यादि कहने से उसमें सभी प्रकार आ गये हैं। गुरुयात्रा और देवयात्रा कहने से, गुरु और देव के पास विनय से जाना और इत्यादि कहने से आहार

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

लेने जाना हो अथवा दूसरे किसी प्रकार से जाना हो – उसकी बात है। अहा! एक-एक शब्द से पूरा भाव भरा हुआ है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि गुरुयात्रा, देवयात्रा इत्यादि प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य रखकर; अर्थात्, गमन में शुभराग का हेतु, प्रशस्त हेतु होना, चाहिए परन्तु किसी मान अथवा अन्य हेतु के लिए मुनि को गमन नहीं होता और 'स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों की परिरक्षा के लिए' – ऐसा कहा है, वह भी व्यवहारकथन है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि दूसरों को दुःख न हो, इसलिए आत्मज्ञानी-ध्यानी और शुद्धपरिणतिवाले मुनि, शुभविकल्प के काल में दिन में ही गमन करते हैं परन्तु दूर जाना, इसलिए एकदम सवेरे अँधेरे में शीघ्र नहीं चलते, वह मुनि की क्रिया ही नहीं हैं।

यद्यपि मूल गाथा में तो इस व्यवहारसमिति की ही व्याख्या है परन्तु उसमें से टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने निश्चयसमिति की बात भी निकाली है। उसका कारण यह है कि जिसे निश्चयसमिति होती है, उसे ही व्यवहारसमिति होती है।

**अब, निश्चयसमिति का स्वरूप कहा जाता है : अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परमधर्मी ऐसे ( अपने ) आत्मा के प्रति सम्यक् 'इति' ( गति ) अर्थात्, परिणति वह समिति है......**

अभेद = भेद नहीं, अपितु एकरूप; अनुपचार = निश्चय, यथार्थ; रत्नत्रय = सम्यग्दर्शन – ज्ञान चारित्र; अर्थात्, पूर्ण स्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें रमणता। निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्स्थिरता – यह अभेद अनुपचार रत्नत्रयरूपी मार्ग है। ऐसे पर्यायरूप रत्नत्रयमार्ग से; अर्थात्, उस परिणति में विद्यमान परमधर्मी निज आत्मा के प्रति सम्यक्गति / शुद्धपरिणति / शुद्धपरिणमन को निश्चयसमिति कहते हैं।

अहा! व्यवहार ईर्यासमितिवाले तो बाहर में देखकर चलते हैं; जबकि निश्चय ईर्यासमितिवाले आत्मा में देखकर, उसमें स्थिर होते हैं। आत्मा पूर्ण चिदानन्दस्वरूप है – ऐसे अपने स्वरूप को देखकर, उसमें स्थिर होना, निश्चय ईर्यासमिति है। जो पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को देख-जानकर तथा प्रतीति में लेकर, उसमें समिति / सम्यक् प्रकार से गति; अर्थात्, स्थिरता करता है, उसे ऐसी निश्चयसमिति होती है और यही वास्तविक धर्मरूप समिति है। इस भूमिका में उत्पन्न होनेवाला गमन सम्बन्धी विकल्प, व्यवहारसमिति है। इस प्रकार यहाँ कहा है कि अपने आत्मा के प्रति सम्यक् ईति / परिणति, वह यथार्थसमिति है।

अहा! शुद्धद्रव्य को ध्येय बनाकर, पर्याय में शुद्धपरिणतिरूप होने को निश्चयसमिति कहा जाता है, जो संवर-निर्जरास्वरूप है। जबकि व्यवहारसमिति का शुभराग, पुण्य / आस्रवस्वरूप है। इस प्रकार निश्चयसमिति आत्मा के शुद्ध आनन्दस्वरूप के परिणमनरूप है; अर्थात्, शुद्ध आनन्द स्वरूप के प्रति ईति / गति / परिणति / परिणमन, वह निश्चयसमिति है और वह मोक्ष के निश्चयमार्गरूप है। इस प्रकार यहाँ निश्चयसमिति को मोक्षमार्ग कहते हैं। देखो! मूल गाथा में व्यवहारसमिति की बात की थी, तो टीका में उसके साथ निश्चयसमिति की बात भी की है क्योंकि निश्चय होने पर ही व्यवहार होता है – यह बतलाना है। आशय यह है कि निश्चय-व्यवहार, दोनों साथ होते हैं परन्तु अकेला व्यवहार नहीं होता – यह बतलाना है तथा जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक निश्चय के साथ ऐसा विकल्प होता है – यह भी बतलाना है।

**.... अथवा, निज परमतत्त्व में लीन सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों की संहति ( मिलन; संगठन ) वह समिति है।**

ज्ञानादि अनन्त गुणमय वस्तु में एकाकार होकर, गुणों के साथ मिलन होने को समिति कहा जाता है। गुण की पर्याय का गुण के साथ मिलन कर देना, वह समिति है। राग के साथ पर्याय का मिलन होने से खण्ड-खण्डपना होता है। अब, उस पर्याय को सहज परमज्ञानादिक अनन्त गुणों के साथ मिला देना, वह समिति है। अनन्त गुणों में अन्तरएकाग्र होना समिति कहा जाता है। अरे! अभी तो यह मूल निश्चयसमितिरूप 'वर' नहीं है और अज्ञानी ने व्यवहारसमितिरूप 'बारात' खड़ी कर दी है परन्तु 'वर' नहीं है तो बारात कैसी? वर के बिना बारात कैसी है? वर के बिना बारात कहना किसे? इसी प्रकार जिसे निश्चयसमिति न हो, उसे व्यवहारसमिति कैसी?

अहा! जिसे आत्मा के अन्तरस्वरूप का भान और स्थिरतारूप परिणमन हो, उसे गमनादि का विकल्प हो तो उस विकल्प को व्यवहारसमिति कहा जाता है परन्तु उस व्यवहारसमिति से मोक्ष नहीं होता। जैसे, विवाह के समय वर की शोभायात्रा के समय, वर के साथ छोटे बालक को भी घोड़े पर बिठाते हैं, परन्तु उसके साथ कन्या का विवाह नहीं होता; इसी प्रकार व्यवहारसमिति तो छोटे बालक के समान है, उसके साथ मोक्षरूपी कन्या का विवाह नहीं होता। उस व्यवहारसमितिरूप पुण्य / राग / विकल्प तो बन्ध का कारण है; जबकि स्वभाव के आश्रय से हुए ये निश्चयसमिति के अबन्धपरिणाम; अर्थात्, वीतरागी सम्यग्दर्शन, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी स्थिरता, मोक्ष का कारण है।

www.vitragvani.com



अहा! निश्चयसमिति; अर्थात्, शुद्ध पूर्णानन्द अभेद अनुपचार वस्तु की परिणति। ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, आनन्दभाव ही अभेद अनुपचार त्रिकाली वस्तु है। उसके अवलम्बन से होनेवाले अन्तर के निर्मल, निर्विकल्प, अभेद, अनुपचार मार्ग में अपने आत्मा की गति / परिणति, वह समिति है। समिति का अर्थ सम्यक् गति / चलना है न? तो अन्दर आत्मा में गति करना, शुद्ध वीतरागीपरिणति करना, वह निश्चयसमिति है अथवा निज परमतत्त्व ऐसे सामान्य-एकरूप-अभेद ध्रुव में लीन अनन्त गुण-धर्म हैं परन्तु अब, पर्याय का अनन्त गुणों के साथ मिलन / संगठन होना, वह समिति है। दूसरे प्रकार से कहें तो, अनन्त गुणों के साथ निर्मलपर्याय का एकत्व होना समिति कहा जाता है। लो, यह समिति की व्याख्या! यह निश्चयसमिति एक ही है; इसके भेद नहीं है क्योंकि निश्चय से पाँचों समिति का ऐसा ही स्वरूप है।

यहाँ कहते हैं - **निज परमतत्त्व में लीन...**

**प्रश्न** – 'निज परमतत्त्व' किसे कहना है?

**उत्तर** – त्रिकाली तत्त्व को निज परमतत्त्व कहना है। यह परमतत्त्व त्रिकाली, अविनाशी, ध्रुव है; जबकि संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि सभी नौ पर्यायें नाशवान हैं। शुद्धभाव अधिकार में यह बात भी है कि पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप पर्याय, नाशवान हैं। देखो, केवलज्ञान की पर्याय भी नाशवान है - ऐसा कहते हैं क्योंकि वह एक समय रहती है, वह कहीं ध्रुव नहीं है। पहले समय का केवलज्ञान, व्यय होकर, दूसरे समय दूसरा होता है। इस प्रकार, वे केवलज्ञानादि नौ पर्यायें (तत्त्व) नाशवान हैं। देखो, इसी ग्रन्थ की ३८ वीं गाथा के ५४ वें कलश में कहा है कि 'सर्व तत्त्वों में जो एक सार है।' तात्पर्य यह है कि यहाँ जिसे निज परमतत्त्व कहा है, वह एक ही समस्त तत्त्वों में सार है तथा 'जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है' अर्थात्, समस्त पर्यायें नाशवान हैं और उनसे ध्रुव आत्मा दूर है। अरे! भगवान आत्मा एक समय की केवलज्ञान पर्याय से भी दूर है। इसके पूर्व ३८ वीं गाथा की टीका में भी कहा है - 'जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है।' आशय यह है कि संवर, निर्जरा, मोक्षादि समस्त पर्यायें परद्रव्य हैं।

**प्रश्न** – मोक्ष भी परद्रव्य?

**उत्तर** – हाँ, वह परद्रव्य है; त्रिकाली स्वद्रव्य की अपेक्षा वह परद्रव्य है – ऐसी बात है। यद्यपि पर की अपेक्षा से तो वह अपनी पर्याय है परन्तु त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से वह एक

www.vitragvani.com



समय की पर्याय परद्रव्य है। इसी बात का स्पष्टीकरण ५० वीं गाथा में भी किया है न! 'पर्याय परद्रव्य-परभाव होने से हेय है' - ऐसा ५० वीं गाथा में कहा है।

**प्रश्न** – मोक्ष भी हेय... ?

**उत्तर** – हाँ, मोक्ष हेय है; उपादेय तो त्रिकाली निजतत्त्व है। अभी पञ्चम काल में मोक्ष तो है नहीं; संवर-निर्जरा होते हैं, तथापि वे भी हेय हैं। क्यों? इसलिए कि वे (संवर-निर्जरा) आश्रय करने योग्य नहीं है और यदि उस पर्याय का आश्रय किया जाए तो विकल्प उत्पन्न होते हैं।

— उस पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती।

इसलिए पर्याय को परद्रव्य कहकर, त्रिकाली स्वद्रव्य का आश्रय करने के लिए कहा जाता है। इस त्रिकाली स्वद्रव्य के आश्रय से नवीन शुद्धपर्याय प्रगट होती है। सूक्ष्म बात है। अहा! यहाँ तो मुद्दे की रकम; अर्थात्, ध्रुव आत्मा की बात है। जो उस ध्रुव को ध्येय बनाता है, उसे ध्रुव उपादेय है; पर्याय नहीं। अरे! भले ही संवर-निर्जरा की पर्याय हो तो भी उपादेय नहीं है। अरेरे! अभी तो बाहर में मुद्दे की रकम पड़ी रह गयी है और ऊपरी / ब्याज की बातें चलती हैं। अज्ञानी को पूँजी; अर्थात्, पूर्णानन्दस्वरूप अखण्ड आत्मा, जो कि ध्रुवद्रव्य है, वह दृष्टि में नहीं है और ब्याज में; अर्थात्, शुभभाव में ही वह रुक गया है।

यहाँ कहते हैं कि परम ज्ञानादिक - ये परम धर्म हैं क्योंकि आत्मा ने उन्हें धारण कर रखा है। वस्तु में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि ऐसे-ऐसे अनन्त धर्म हैं। उन धर्मों की संहति होना / उनके साथ मिलन होना / उनमें एकत्व होना, वह निश्चयसमिति है। गुण की पर्याय का राग के साथ एकत्व होने से खण्ड-खण्डपना होता है; अब उस पर्याय का अन्दर अनन्त गुणों में एकत्व होना; अर्थात्, स्वसन्मुख होकर उस पर्याय का अनन्त गुणों में एकत्व करना, वह समिति है। गुण की पर्याय पुण्य में / राग में एकत्व होने से स्व से भिन्न रहती थी, अब वह गुणों में एकत्व होने से स्व से अभिन्न हुई।

**इस प्रकार निश्चय और व्यवहाररूप समिति-भेद जानकर, उनमें (उन दो में से) परम निश्चयसमिति को भव्य जीव प्राप्त करो।**

यहाँ कहा है कि समिति में निश्चय और व्यवहाररूप भेदों को जानकर... तात्पर्य यह है कि उसे निश्चय और व्यवहार के भेदों को भलीभाँति जानना चाहिए कि ऐसा उनका स्वरूप है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

तत्पश्चात, उनमें से परम निश्चयसमिति को प्राप्त करो – ऐसा उपदेश है। भले ही व्यवहारसमिति बीच में (भूमिकानुसार) आती है, तथापि प्राप्त तो निश्चयसमिति को करो! – ऐसा उपदेश है।

### कलश - ८१ पर प्रवचन

**इस प्रकार मुक्तिकान्ता की ( मुक्तिसुन्दरी की ) सखी परम-समिति को जानकर, जो जीव, भवभय के करनेवाले कञ्चन-कामिनी के संग को छोड़कर, अपूर्व, सहज –विलसते ( स्वभाव से प्रकाशते ), अभेद चैतन्यचमत्कारमात्र में स्थित रहकर ( उसमें ) सम्यक् 'इति' ( गति ) करते हैं; अर्थात्, सम्यक्रूप से परिणमित होते हैं, वे सर्वदा मुक्त ही हैं।**

पूर्ण निरुपद्रव – कल्याणरूप परिणति, वह पूर्ण शिवपद है और उसकी सखी-सहेली, वह परम समिति है। अत: कहते हैं कि पूर्ण अतीन्द्रिय परम आनन्ददशामय मुक्तिरूपी कान्ता की सखी परम समिति है – ऐसा जानकर अन्तरस्वरूप में गति करना, स्वभाव का परिणमन करना। अहा! त्रिकाली शुद्धस्वभाव का परिणमन होना, उसकी गति होना, वह समिति है। जो जीव, ऐसी समिति को पहले जानकर, भव और भय के करनेवाले कञ्चन-कामिनी के सङ्ग को छोड़कर..... देखो मूल श्लोक में है कि **हेमरामात्मकं,** हेम + कञ्चन अर्थात्, स्वर्ण और रामा = कामिनी अर्थात्, स्त्री। जो जीव, स्वर्ण और स्त्रीस्वरूप संघ को छोड़कर; अर्थात्, असङ्गतत्त्व भगवान आत्मा के सङ्ग को प्राप्त करके अपूर्व स्वाभाविक, विलसित अभेद चैतन्य-चमत्कारमात्र में स्थित रहकर उसमें गति करता है, वह सर्वथा मुक्त ही है।

आत्मा का तीन काल और तीन लोक को जाने – ऐसा गुणरूप चैतन्य-चमत्कार स्वभाव है – ऐसे उस त्रिकाली शुद्ध चैतन्य-चमत्कार स्वभाव में स्थित रहकर, उसमें सम्यक् इति करना; अर्थात्, शुद्ध वीतरागपरिणति प्रगट करना; अर्थात्, अतीन्द्रिय आनन्द की धारा परिणमित होना, उसे समिति कहा जाता है और यह समिति मुक्तिरूपी स्त्री की सखी-सहेली है।

समिति = सम + इति = सम्यक् + इति (गति) अर्थात्, सम्यक् प्रकार से गति करना, परिणमना। आनन्दस्वरूप भगवान् आत्मा अन्दर अपनी दशा में आनन्द और शान्तिरूप सम्यक्रूप गति करे, परिणमित हो, वह समिति है और वह समितिवन्त आत्मा मुक्त ही है। देखो, यह शैली अमृतचन्द्राचार्य की टीका में आती है कि **स हि मुक्त एव** *( समयसार, कलश १९८ )*; उसी प्रकार यहाँ

www.vitragvani.com



भी श्रीअमृतचन्द्राचार्य की शैली का श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव ने लगभग प्रयोग किया है। इसलिए यह कहा है कि **सर्वथा मुक्त एव;** अर्थात्, पूर्ण शुद्ध ध्रुवस्वरूप आत्मा का अन्दर परिणति में निर्मल गतिरूप / पर्यायरूप परिणमित होना, वह समिति है; जो कि मुक्तिरूपी स्त्री की सखी है। जिसे ऐसा परिणमन है, वह मुक्त ही है; अर्थात्, वह जीव मुक्त ही है। अहा! देखो तो सही! व्यवहारसमिति की बात चलती है तो भी उसमें यह बात की है कि विकल्परूप व्यवहारसमिति से भी वह मुक्त है।

**प्रश्न –** वह सर्वदा मुक्त ही है, इसका क्या आशय है?

**उत्तर –** त्रिकाली चैतन्य आत्मा मुक्तस्वरूप है, आत्मा की पूर्ण परिणति मुक्त है और उसकी सखी जो कि शुद्ध ध्रुव आत्मा का शुद्धरूप परिणमित होना – ऐसी समिति है, वह भी मुक्त है। इस प्रकार जैसे, आत्मा मुक्तस्वरूप है, उसकी पूर्ण पर्याय मुक्त है; उसी प्रकार मुक्ति की सखी – ऐसी यह समिति; अर्थात्, समितिवन्त जीव भी मुक्त है।

अहा! भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप-अबन्धस्वरूप ही है। ज्ञानभाव, आनन्दभाव आदि अनन्त गुण का एकरूप ध्रुव चैतन्य वस्तु है, वह मुक्त ही है। उस मुक्तरूप की पूर्ण पर्याय होती है; अर्थात्, आनन्द आदि सभी गुणों की पूर्ण परिणतिरूप पूर्ण मुक्ति होती है, उसकी सखी यह समिति है। तात्पर्य यह है कि मुक्तस्वरूप आत्मा का शुद्ध परिणमन की गति, ऐसी समिति वह मुक्ति की सखी है – ऐसी बात है। अहो! वस्तु अन्दर में है परन्तु बाहर में नहीं है। अरे! वह विकल्प में भी नहीं है तो फिर शरीर और वाणी में तो कहाँ से होगी? – ऐसी चीज है।

देखो न! यहाँ चैतन्य-चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है। उसका अर्थ यह है कि उसकी शक्ति में अनन्त-अनन्त केवलज्ञान की पर्याय के पूर विद्यमान हैं। स्वभाव को क्षेत्र की विशालता की आवश्यकता नहीं है; अतः अन्दर ऐसे अभेद चैतन्य-चमत्कार में स्थिर रहकर, उसमें परिणमित हो, वह सर्वदा मुक्त ही है। यही बात तो प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाओं में भी की है कि मुक्त है। (साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना, *गाथा २७२*)। जिसने पूर्ण मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा को दृष्टि में लेकर परिणमन प्रगट किया, वह मुक्त ही है।

अहा! शब्द '**समिति**' है न! अर्थात्, सम्यक् गति / गमन / परिणमन करना, देखकर चलना। अन्दर पूर्णानन्द मुक्तस्वरूप त्रिकाली भगवान आत्मा को देखकर परिणमन करना, वह समिति है; महास्वभावी निज परमात्मा को देखकर, जानकर, उसकी गति में; अर्थात्, पर्याय में ध्रुव

का परिणमन करना-शुद्ध वीतराग परिणतिरूप से परिणमित होना, वह सर्वथा मुक्तदशा की सखी - ऐसी समिति है और वह जीव स्वयं सर्वदा मुक्त ही है। अद्‌भुत बात है! देखो, बात चलती है, व्यवहारचारित्र अधिकार में व्यवहारसमिति की, तथापि निश्चयसमिति की बात करते हैं। उसका कारण यह है कि निश्चयसमितिवाले जीव को जो विकल्प होता है, उसे व्यवहारसमिति कहते हैं।

अहा! त्रिकाली पूर्णानन्द प्रभु आत्मा अनन्त शक्ति के एकरूपपने है। जिसकी एक-एक शक्ति में अनन्त-अनन्त सामर्थ्य है - ऐसा त्रिकाली मुक्तस्वरूप है। उसकी पूर्ण मुक्तदशा को प्राप्त करने में, उसकी सखी-सहेली - ऐसी समिति, कारण है। वह समिति, पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा की निर्मल वीतरागरूप गति / परिणति होना ही है। निर्विकल्प समाधि, निर्विकल्प शान्ति, निर्विकल्प आनन्दरूप जो यह शुद्धगति / परिणति है; अर्थात्, सम + इति; अर्थात्, सम्यक् प्रकार से शुद्धता का परिणमन होना - ऐसी जो यह समिति है, वह सर्वदा मुक्त ही है। देखो, समिति; अर्थात्, आत्मा को देखकर चलना। आत्मा को देखकर चलना; अर्थात्, आत्मा अखण्डानन्द प्रभु है; इस प्रकार उसे देखकर परिणमन करना। कहो! ऐसा तो अपने माने हुए प्रौषध-प्रतिक्रमण में सुना भी नहीं होगा। अरे भगवान ने भगवान को सुना नहीं।

अहा! निश्चयसमिति का परिणमन तो चैतन्य-चमत्कारमय ध्रुव का अवलम्बन लेकर सम्यक्‌रूप-शुद्धरूप परिणमित होना ही है। दूसरे प्रकार से कहें तो जैसा स्वरूप है, वैसा परिणमित होना, समिति है, यह निश्चयसमिति है; इसके अतिरिक्त बाहर में देखकर चलने का राग तो पूर्णरूप विकल्प; अर्थात्, व्यवहारसमिति है। वह व्यवहारसमिति, आत्मवस्तु में और धर्मी की पर्याय में भी नहीं है, वह तो पर में जाती है। हाँ, उस व्यवहारसमिति का ज्ञान, ज्ञानी को होता है। देखो, यह सन्तों की समिति।

ईर्यासमिति; अर्थात्, देखकर चलना, तो क्या देखकर चलना? देखकर चलना, अर्थात् क्या? यही कि देखकर चलना, अर्थात् भगवान् आत्मा को, जो कि पूर्ण चेतन-चमत्कारमात्र है, उसे देखकर उसका परिणमन करना, परन्तु वह आत्मा पूर्ण स्वरूप है - ऐसा दृष्टि में स्वीकार होना, वह अपूर्व चीज है। अरे! यही चीज है; अर्थात्, यही करने योग्य है। अनादि काल से एक समय की पर्याय का ही इसे अभ्यास है। जो प्रगट है, उसी में लीनता करता है; इसलिए भगवान् आत्मा के, जो कि सम्पूर्ण पूर्ण स्वरूप महाप्रभु चैतन्य-चमत्कारमय वस्तु है, उसके स्वभाव सन्मुखता की दृष्टि अनादि से नहीं है; इसलिए आत्मवस्तु का माहात्म्य इसे कैसे आयेगा?

www.vitragvani.com



अरे ! चैतन्य महाप्रभु पूर्णानन्दस्वरूप होने पर भी अज्ञानी को उसकी सन्मुखता नहीं है, उसका स्वीकार नहीं है; अर्थात्, अज्ञानी को त्रिकाली भगवान् आत्मा का अस्वीकार है। उसकी विमुखता में; अर्थात्, अस्वीकार में उसे निमित्त राग और पर्याय; अर्थात्, एक अंश का स्वीकार है परन्तु अब जो अन्दर में पूर्ण स्वरूप महाप्रभु चैतन्य-चमत्कार भगवान आत्मा है, उसका पर्याय द्वारा अवलम्बन करे तो परिणमन शुद्ध होता है; अर्थात्, जैसा स्वयं है, वैसा शुद्ध परिणमन होता है और वह आत्मा की गति है, मति है, फल है, मुक्तदशा है।

अहा ! सम्पूर्ण दुनिया चाहे जैसी हो, वह उसके पास रही। भगवान आत्मा तो पूर्ण चैतन्य -चमत्कारमय है – ऐसा यहाँ कहते हैं। उस चैतन्य-चमत्कार के साथ आनन्द-चमत्कार, श्रद्धा -चमत्कार, वीर्य-चमत्कार इत्यादि ऐसे अनन्त-अनन्त गुण के भी चमत्कार स्वरूप वह भगवान आत्मा है; उसे देखकर, मानकर, सम इति; अर्थात्, जैसा स्वरूप है, वैसा परिणमन करने का नाम मुक्तिकान्ता की सखी – ऐसी समिति है। मुक्ति की कारणरूप ऐसी वह समिति, मुक्ति की सखी है और मुक्ति ने उसका हाथ पकड़ा है; इसलिए उसकी मुक्ति होना ही है।

देखो, इसे समिति कहते हैं ! इसमें व्यवहारसमिति के विकल्प की बात भी नहीं की है। अब, जिसे यह भी पता न हो कि समिति किसे कहते हैं ? समिति किस प्रकार परिणमित होती है ? कहाँ से परिणमित होती है ? समिति परिणमित हो तब क्या स्थिति होती है और किसे मुक्ति का कारण / मुक्ति की सखी कहा जाता है ? उसे समिति कैसे प्रगट होगी ? अहो ! अद्भुत बात है ! यह अमृत से भरे हुए महान् कलश हैं !

## कलश ८२ पर प्रवचन

### जो ( समिति ) मुनियों को शील का ( -चारित्र का ) मूल है....

जो समिति अर्थात्, ऊपर श्लोक ८१ में कही, वह निश्चयसमिति। पूर्णस्वरूप भगवान आत्मा का, जो कि शुद्ध ध्रुवचैतन्य है, उसका परिणमन, उसकी गति, वह निश्चयसमिति है। जबकि व्यवहार ईर्यासमिति; अर्थात्, देखकर चलने का विकल्प तो बाहर की बात है; वह कोई निश्चयसमिति नहीं है तथा यह तो शुभविकल्प को समिति का आरोप दिया गया है। यथार्थ ईर्यासमिति उसे कहते हैं कि देखकर चलना; अर्थात्, सामान्य अखण्ड अभेदरूप वस्तु, जो कि त्रिकाली ध्रुव चैतन्य-चमत्कार है, उसको स्वीकार करके / देखकर और श्रद्धा करके, उसमें परिणमन करने को भगवान, ईर्यासमिति कहते हैं।

अहा! केवली भगवान को जो अनन्त-अनन्त केवलज्ञान और अनन्त-अनन्त आनन्दादि प्रगट हुए हैं, वह पर्याय है - ऐसी-ऐसी अनन्त केवलज्ञान पर्यायें और अनन्त आनन्द पर्यायें आदि का अन्दर में जो ध्रुव समुदाय है; अर्थात्, ज्ञान और आनन्द आदि के समुदाय का जो पिण्ड है, वह चैतन्य-चमत्कार है - ऐसे चैतन्य-चमत्कार का स्वीकार / सत्कार, वह समिति है परन्तु जब पर्याय उस स्वभाव के सम्मुख ढलती है, तब उसका स्वीकार और सत्कार किया कहने में आता है। अहा! यह तो निज लक्ष्मी की बात चलती है; उसके अतिरिक्त बाहर में धूल में भी लक्ष्मी नहीं है; इसलिए तो यहाँ कहा है कि कञ्चन और कामिनी का सङ्ग छोड़! क्योंकि वह भव भय का करनेवाला है। *(कलश-८१)*

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में पूर्ण ध्रुव है। अनन्त -अनन्त पर्यायों का एकरूप पिण्ड - ऐसा एक-एक गुण है और ऐसे अनन्त गुणों का एकरूप, वह ध्रुव है - ऐसा चैतन्य-चमत्कार भगवान आत्मा है। उसे देखना, जानना, स्वीकार करना और उसमें स्थिरता करने का नाम यथार्थ ईर्यासमिति कही जाती है। गज़ब बात है! अरे, लोगों को परम सत्य बात जँचना भी कठिन हो गया है, अकेले व्यवहार की ही बात वे जानते हैं; इसलिए यहाँ निश्चयसमिति की बात ली गयी है। अहा! व्यवहार ईर्यासमिति का राग / विकल्प उत्पन्न होता है, वह बन्ध का कारण है; जबकि वस्तु ऐसी अर्थात्, बन्धस्वरूप नहीं है; वस्तु तो अबन्धस्वरूप भगवान है। देखो न! कैसी शैली से बात करते हैं?

**प्रश्न** - तो फिर बाह्यसमिति की चर्चा किसलिए?

**उत्तर** - वह तो ऐसा देखकर चलने का विकल्प होता है, उसे बताने के लिए है परन्तु विकल्प को जानकर, उसका आदर नहीं करना है। उस समय शरीर की गति होती है, वह भी कोई आत्मा की गति नहीं है; जड़ की गति है तथा बाह्य में देखना भी पर का देखना है और पर को देखने का भाव परावलम्बी ज्ञान है; इसलिए वह भी आदरणीय नहीं है। अरे! वस्तुस्थिति ऐसी है, सत्य का स्वरूप ऐसा है; वहाँ दूसरा क्या हो सकता है।

अहा! समिति अर्थात्, सम + इति अर्थात्, सम्यक् प्रकार से इति / गति। तात्पर्य यह है कि त्रिकाली भगवान आत्मा का जैसा पूर्ण आनन्द और पूर्ण चैतन्यस्वभाव के सामर्थ्यरूप तत्त्व है, वैसा... अर्थात्, जैसा उसका चैतन्य-चमत्कार है, वैसा परिणमन होना। दूसरे प्रकार से कहें तो जो सत् वस्तु है, उसका सम्पूर्ण सत्त्व अर्थात्, उसका पूर्ण स्वभाव; उस पूर्ण स्वभाव में अपूर्णता भी

www.vitragvani.com



नहीं होती और विपरीतता भी नहीं होती – ऐसा जिसका त्रिकाल अबद्ध-मुक्तस्वभाव है, उसे चैतन्य कहते हैं। उस चैतन्य को अन्दर में देखना, उसे जानकर, स्वीकार करना और उसका स्वीकार करके उसी में स्थिर होना; अर्थात्, जैसा त्रिकाली ध्रुव का शुद्ध स्वरूप है, वैसा शुद्धरूप सम्यक् परिणमन होना, वीतरागीदशा होना, आनन्द की दशारूप परिणमन होना, समिति कहलाती है। इस निश्चयसमिति के बिना उसके समस्त व्यवहार व्यर्थ हैं। यह बताने के लिये इस निश्चयसमिति का वर्णन करते हैं, वरना यह अधिकार तो व्यवहारसमिति का है; व्यवहार चारित्र का है।

**प्रश्न** – व्यवहारसमिति से जीवदया का पालन तो होता है?

**उत्तर** – व्यवहारसमिति से जीवदया पलती ही नहीं; उससे जीवदया फलती है – यह बात ही मिथ्या है क्योंकि परजीव की दया तो पर के कारण पलती है; अर्थात्, परजीव का जीवन तो उसके अपने कारण है; उस परजीव की आयु की स्थिति हो तो वह जीवित रहता है परन्तु इस जीव का बचाने का भाव हुआ कि उसे बचाऊँ, इसलिए दूसरा जीव बचता है – ऐसा नहीं है। ऐसी बात है भगवान!

**प्रश्न** – मुनि, प्रमाद से चाहे जैसे चले तो?

**उत्तर** – किन्तु मुनि प्रमादपूर्वक चलते ही नहीं न! उन्हें प्रमाद होता ही नहीं। जहाँ अप्रमत्तदशा हुई है, अप्रमत्त परिणति परिणमित हुई है, वहाँ प्रमाद कैसा? – ऐसी बात है। कठिन काम है।

अहा! ईर्यासमिति अर्थात्, देखकर चलना; भाषासमिति अर्थात्, विचारकर बोलना – ऐसा सभी राग / विकल्प ही स्वयं प्रमाददशा है क्योंकि तब छठवाँ (प्रमत्त) गुणस्थान होता है। अब, इस प्रमाद को व्यवहार; अर्थात्, मात्र व्यवहार ही कब कहते हैं, वह यहाँ सिद्ध करना है कि जब पूर्णानन्द का नाथ अन्तर स्वरूप भगवान आत्मा अप्रमत्तरूप आश्रय में आया, तब व्यवहार होता है। अपना स्वरूप ही अप्रमत्त, अर्थात् मुक्त है; अतः अन्दर में मुक्तस्वरूपपने विद्यमान उस अबद्धस्वभाव का आश्रय लेकर जो अबद्धपरिणाम परिणमित होते हैं, उसे निश्चयसमिति होती है और उस भूमिका में होनेवाले विकल्प को व्यवहारसमिति कहते हैं परन्तु ऐसी निश्चयसमिति हो, उसे ही व्यवहारसमिति होती है।

देखो, इस शरीर का एक परमाणु भी ऐसे चलता है अथवा वैसे होता है तो वह शरीर के

अपने कारण से है; आत्मा के कारण से बिलकुल नहीं। यह शरीर तो अनन्त परमाणुओं का पिण्ड, अर्थात् दल है। उन अनन्त परमाणुओं में प्रत्येक परमाणु अपने स्वकाल से जिस पर्याय से परिणमित होता है, वह अपने से परिणमित होता है; आत्मा के कारण नहीं। हाँ, आत्मा को विकल्प आता है कि देखकर चलूँ, परन्तु उस कारण शरीर की गति समान होती है – ऐसा नहीं हैं। ऐसी बातें हैं बापू!

**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** का अर्थ क्या हुआ? यही कि प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा, अपनी वर्तमान अवस्थारूप से उत्पन्न होता है — **उत्पाद;** पूर्व की अवस्थारूप से नष्ट होता है — **व्यय,** और द्रव्यरूप से टिका रहता है — **ध्रौव्य**। इन तीनोंरूप प्रति समय जड़ और चेतन है, उसमें उन्हें कोई विश्राम नहीं है।

अब कहते हैं कि इस शरीर की पर्याय होती है, वह शरीर के कारण होती है। जीव को इच्छा हो कि देखकर चलूँ, तथापि शरीर के पैर का भाग देखकर चलने के विकल्प के कारण गति करता है – ऐसा नहीं है क्योंकि पैर के अनन्त पुद्गल अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हैं; इसलिए उससे उनकी गति होती है। उसमें जीव के विकल्प का बिलकुल अधिकार नहीं है।

भाई! नव तत्त्व सिद्ध करना पड़ेंगे या नहीं? तो अजीवतत्त्व, अजीवरूप है – यह कब सिद्ध होगा? जब वह अजीवतत्त्व स्वयं अपनी पर्याय में प्रति समय; अर्थात्, निरन्तर उत्पन्न हो; पूर्व की पर्यायपने व्यय हो और स्वयं ध्रौव्य रहे, तब। ऐसा अजीवतत्त्व है, वह अपने कारण अपनी पर्याय को प्राप्त करता है; आत्मा के विकल्प के कारण नहीं।

(१) अहा! आत्मा को व्यवहारसमिति का विकल्प आया है; इसलिए शरीर की गति होती है – ऐसा भी नहीं है और (२) शरीर की गति पर्याय हुई; इसलिए यहाँ जीव को व्यवहारसमिति का विकल्प आता है – ऐसा भी नहीं है, तथा (३) व्यवहारसमिति का विकल्प आता है; इसलिए निश्चयसमिति है – ऐसा भी नहीं है और निश्चयसमिति है; इसलिए व्यवहारसमिति का विकल्प आता है – ऐसा भी नहीं है।

देखो, अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त हैं न! इसलिए —

१. स्वभाव की अस्ति में, विभाव की नास्ति;

२. विभाव की अस्ति में, स्वभाव की नास्ति;

www.vitragvani.com



३. विभाव की अस्ति में, शरीरपर्याय की नास्ति, और

४. शरीरपर्याय की अस्ति में, विभाव की नास्ति।

देखो, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा अनेकान्तमय है। वह वस्तु स्वयं ही इस प्रकार पुकारती है; अर्थात्, वह वस्तु स्वयं ही ऐसी है।

अहा! जड़ और चेतनरूप अनन्त तत्त्व हैं न! तो वे अनन्त तत्त्व, अनन्तरूप रहकर अपने रूप परिणमित होते हैं, अपनी अनन्त वर्तमान पर्यायें परिणमित होती हैं। यदि तुम अनन्त पदार्थ कहते हो तो उन अनन्त पदार्थों का स्वीकार किया कब कहलायेगा? जबकि अनन्त पदार्थ भिन्न-भिन्न रहकर परिणमित होते हैं – ऐसा मानें, तब; और यदि वे भिन्न-भिन्न परिणमित होते हैं तो वे अनन्तरूप रहते हैं अथवा एकरूप होते हैं? इसलिए अनन्त पदार्थ अनन्तरूप रहकर उनकी अपनी पर्याय का उत्पाद-व्यय करते हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो अनन्त पदार्थों में प्रति समय निरन्तर प्रवाहरूप से उनके अपने उत्पाद-व्यय हुआ करते हैं और स्वयं का ध्रौव्यपना रहता है; इस प्रकार मानने पर ही अनन्त पदार्थ, अनन्तरूप से स्वीकार किये कहलाते हैं, तात्पर्य यह है कि पदार्थों का भिन्न-भिन्नपने का अनन्तपने का स्वीकार किया कहलाता है। यदि उन अनन्त पदार्थों में से एक भी पदार्थ की पर्याय मुझसे हुई है – ऐसा कोई कहे / माने तो उसने अनन्त पदार्थों को नष्ट कर दिया है; अर्थात्, उसने अनन्त पदार्थ नहीं माने हैं। अहा! वस्तु का स्वरूप तो कैसा है? परन्तु क्या हो? अज्ञानी इसे स्वीकार नहीं करता।

अहा! अनन्त आत्माएँ और अनन्त परमाणु एक ही समय में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्ययुक्त सत् हैं; अर्थात्, उनका होनापना / हस्ति अपनी वर्तमान परिणति से पर्याय से उत्पादरूप हैं; पूर्व की पर्याय से व्ययरूप हैं और ध्रौव्य की अपेक्षा सदृशरूप कायम हैं – ऐसा प्रति समय द्रव्य का स्वरूप है। अब, ऐसा स्वरूप है, उसमें परमाणु गति करता है, तब आत्मा का विकल्प उस गति में कुछ मदद करे अथवा आत्मा का उत्पाद परमाणु में कुछ उत्पाद करे – ऐसा नहीं है। अहा हा...! देखो, कैसी बात करते हैं?

यहाँ कहते हैं कि समिति, मुनियों को शील का मूल है। शील, अर्थात् चारित्र; स्वरूप की रमणता; चारित्र, अर्थात् चरना, रमना, स्थिर होना। पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा में रमना। आत्मा, आत्माराम में लीन हो, उसे चारित्र कहते हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो पूर्णानन्द स्वरूप में चरना, उसका अनुभव करना चारित्र है। जैसे, पशु घास चरता है न! इसी प्रकार पूर्णानन्दस्वरूप

भगवान आत्मा के आनन्द को चरना – अनुभव करने का नाम चारित्र है, जो कि मुक्ति का कारण है। उस चारित्र का मूल, यह समिति है। पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा में लीनता ही चारित्र है और चारित्र का मूल, यह ईर्यासमिति है; अर्थात्, अन्तर स्वरूप को देखकर, उसमें लीनता ही समिति है और वह समिति, चारित्र का मूल है, चारित्र का भाग है, चारित्र को सहायकदशा है; यह विकल्परूप समिति की बात नहीं है।

देखो 'समिति मुनियों के शील का मूल है' इन शब्दों की इतनी व्याख्या है। अहा! यह कोई कथा नहीं कि शब्द से तुरन्त ही पूरा पढ़ जाए, अर्थात् बात पूर्ण हो जाए। यह तो मूल मुद्दे की बात है।

भगवान आत्मा के पूर्णानन्द स्वरूप को अन्दर में देखना-जानना और उसमें स्थिर होना, क्या यह कोई कम बात है ? कारण कि एक समय की प्रगट अवस्था / पर्याय की ही लीनता इसने पर्याय में अनन्त बार की है। अहा! अवस्था प्रगट है, जबकि वस्तु-सम्पूर्ण द्रव्य अप्रगट / अव्यक्त है। अब, जहाँ पूर्ण द्रव्य का अन्तर में स्वीकार होकर, उसके सन्मुख होकर परिणमन होता है, वहाँ ईर्यासमिति है और उस समिति ने जाना कि आत्मा ऐसा है; इस प्रकार वह समिति आत्मा को देखकर परिणमती है। ऐसी वह ईर्यासमिति, चारित्र / शील का मूल है, मुक्ति की सखी है। देखो, यह कहकर यहाँ कहना चाहते हैं कि व्यवहारसमिति का विकल्प आता है, वह चारित्र का मूल नहीं है, बल्कि चारित्र का दोष है। भाई! अद्‌भुत बात है। अहा! यह तो सत्य का सत्‌पना ऐसा है – यह सिद्ध करना है।

अरे! इसने सत्य सुना नहीं है। इसकी वस्तु पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा अन्दर डोल रहा है, उसकी एक-एक शक्ति पूर्ण है और ऐसी अनन्त शक्ति की सामर्थ्यवाला वह एक पूर्ण तत्त्व है; इसलिए उसके सन्मुख होकर, उसका आश्रय करके, उसका अवलम्बन लेकर, उसका स्वीकार करना। अनादि से यह पर्याय और राग के सन्मुख था; इस कारण स्वभाव से विमुख था परन्तु अब उस पर्याय और राग से विमुखपना करके, त्रिकाली स्वभाव का सन्मुखपना किया तो इसे त्रिकाली वस्तु का स्वीकार हुआ और 'वह है' – ऐसा माना। पहले अज्ञानदशा में 'वह है' ऐसा नहीं माना था। क्योंकि ऐसा भगवान आत्मा है – यह कब माना कहलाये ? जबकि 'यह ज्ञेय ऐसा पूर्ण है' – इस प्रकार इसके ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हो, तब 'यह है' – ऐसे आत्मा की मान्यता होती है। इसके अतिरिक्त आत्मा है... आत्मा है... – ऐसा शब्दों से बोलनेमात्र से, आत्मा की

www.vitragvani.com



मान्यता नहीं होती। आत्मा है, वह कैसा है ? क्यों है ? वह किसमें बैठा है ? इसके भान बिना 'वह है', ऐसी मान्यता कैसे हो सकती है ? किसमें हो सकती है ?

अहा! पहले श्रद्धा और ज्ञान में स्वीकार आता है कि यह आत्मवस्तु ऐसी है, भगवान आत्मा पूर्णानन्द चैतन्य-चमत्कार है; तत्पश्चात् उसकी लीनतारूप चारित्र में स्वीकार आता है। दूसरे प्रकार से कहें तो जिसे 'यह आत्मा पूर्ण है' - ऐसा प्रथम अन्दर ज्ञान में भास हुआ है; अर्थात्, त्रिकाली भाव का भावभासन हुआ है, उसे तत्पश्चात् यह आत्मा पूर्ण है - ऐसी प्रतीति होती है और फिर उस त्रिकाली भाव में भान और प्रतीतिसहित रमणता करे तो उसे चारित्र होता है।

देखो, व्यवहार ईर्यासमिति को रचनेवाले वीर्य को तो नपुंसक कहा गया है क्योंकि आत्मा में त्रिकाली वीर्यगुण है, उसका कार्य उसे कहते हैं कि जो आनन्दादि अनन्त गुणों की निर्मलता की रचना करे; देखो, उसे ही वीर्य कहते हैं। राग की रचना करनेवाले को वीर्य नहीं कहते; नपुंसक कहते हैं। यह बात तो सैंतालीस शक्तियों में भी आ गयी है कि आत्मस्वरूप की रचना करनेवाले को वीर्य कहते हैं। अभी मस्तिष्क में-लक्ष्य में क्या आया ? कि व्यवहार ईर्यासमिति का विकल्प है, वह वास्तविक वीर्य की सामर्थ्य का कार्य ही नहीं है। गजब बात है न! कारण कि सर्वज्ञ प्रभु यह कहते हैं कि वीर्य तो उसे कहते हैं कि जो अपने अनन्त गुणों की निर्मलता की रचना करे। शुद्धपने की पर्याय में रचना करे, वीतरागी निर्दोषदशा की रचना करे; अर्थात्, इस निश्चयसमितिरूप परिणमित हो, उसे वीर्य कहते हैं परन्तु राग-विकल्प उत्पन्न हो, उसरूप हों, वह वीर्य ही नहीं है; वह तो नपुंसक ही है। यह विकल्प तो दोष है न! अरे, व्यवहार ईर्यासमिति का विकल्प भी दोष है। भाई! इसका कारण यह है कि उससे भी वृत्ति उत्पन्न होती है, वह कोई निर्विकल्प वस्तु नहीं है। इसी प्रकार पञ्च महाव्रत के परिणाम का विकल्प भी प्रमाद और दोष है।

**......जो त्रस जीवों के घात से तथा स्थावर जीवों के घात से समस्त प्रकार से दूर हैं...**

यह समिति, त्रस और स्थावर के घात से तो दूर वर्तती है परन्तु उन्हें बचाने के विकल्प से भी दूर वर्तती है - ऐसा यहाँ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह छह काय के जीव हैं, उन्हें नहीं मारूँ, मात्र ऐसा विकल्प ही उसमें नहीं है, यह विकल्प तो शुभराग है; इसलिए उस विकल्प से भगवान आत्मा की समिति; अर्थात्, अन्तर के आनन्दस्वरूप को देख, जान, मानकर और स्थिर होना, ऐसी समिति दूर है।

**.... जो भव-दावानल के परितापरूपी क्लेश को शान्त करनेवाली....**

अहा हा! यह राग, भवरूप दावानल-क्लेश है; अर्थात्, भव में तो रागरूपी दावानल सुलग रहा है, राग के अंगारे सुलगते हैं; अरे! व्यवहारसमिति जो कि विकल्प है, वह भी राग के अंगारे हैं! राग-आग - ऐसा छहढाला में आता है न!

**यह राग-आग दहै सदा तातैं समामृत सेईये** *(छहढाला, ६/१५)* छहढाला में भी बहुत भर दिया है।

यहाँ कहते हैं कि राग से भिन्न भगवान आत्मा अमृतस्वरूप निराकुल आनन्दकन्द है; इसलिए उस ओर की दशा के परिणमन को आनन्द कहते हैं। इसके अतिरिक्त चाहे तो शुभराग हो तो वह भी दाह / आग है, यह व्यवहार ईर्यासमिति का विकल्प है, वह भी राग होने से दाह -अग्नि है; कषाय की भट्टी है। अरे! जगत् को तो अभी तत्त्व क्या है? धर्म जिसके आश्रय से होता है? वह तत्त्व कैसा और कितना है? - इसका भी पता नहीं है और उन्हें धर्म हो जाए - ऐसा कैसे हो सकता है?

अहा! धर्म तो पर्याय है परन्तु वह धर्म जिसके आश्रय से होता है, वह कैसा है? वह तो त्रिकाली द्रव्य और गुण है। इसलिए त्रिकाली द्रव्य-गुण के भान बिना, धर्मरूप द्रव्य का परिणमन होगा किस प्रकार? अर्थात्, स्वाश्रय के बिना शुद्ध परिणमन होता ही नहीं। इसके बिना ईर्या, भाषा आदि समिति द्वारा किसी भी परद्रव्य का आश्रय ले तो भी विकल्प होगा, पराश्रयभाव होगा, राग होगा, कषाय होगी, समामृत से विरुद्धभाव होगा। अरे! जगत् को यह बात जँचना कठिन है।

जिसे प्रवृत्ति के परिणाम का रस है, उसे निवृत्तस्वभाव से विरुद्ध राग, अर्थात् दुःख है। देखो, जीवों को यह बात जँचना कठिन है। व्यवहार पञ्च महाव्रत और पाँच समिति का विकल्प अंगारा है, दावानल है; जबकि भगवान आत्मा अकषायस्वरूप प्रभु है - ऐसा कहते हैं। उस जिनस्वरूप वीतरागी अमृत से भरपूर भगवान आत्मा के सन्मुख होकर, उसका स्वीकार करके तथा उसकी श्रद्धा करके, जो उसमें स्थिर होता है, उसे भव दावानल के क्लेश को शान्त करनेवाली समिति होती है। देखो, यह कहकर ऐसा कहना चाहते हैं कि निश्चयसमिति तो राग को मिटानेवाली है किन्तु राग को उत्पन्न करनेवाली नहीं है। अहा! शान्तस्वरूप भगवान आत्मा शान्तरस, अकषाय रसमय - ऐसा निजतत्त्व है। ऐसे आत्मा का आश्रय लेने पर जो समिति प्रगट होती है,

वह तो भव-दावानल को शान्त करनेवाली है। रागरूपी उदय भावना, जो कि भव-दावानल है, संसार का दावानल है, उसके क्लेश को यह समिति, शान्त करनेवाली है।

**प्रश्न –** शुभभाव भी दावानल है?

**उत्तर –** हाँ, वह भी दावानल है; इसीलिए तो छहढाला में कहा है कि **यह राग आग दहै सदा**... तो वहाँ राग; अर्थात्, दोनों शुभ और अशुभराग। अरे, लोग विचार नहीं करते और अपनी दृष्टि की पकड़ रखकर तद्नुसार शास्त्रों के अर्थ करते हैं; इसलिए उन्हें सत्य नहीं सूझता; जैसा है, वैसा नहीं सूझता तथा शास्त्र के अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

अरे! अज्ञानी, राग में आनन्द मानता है परन्तु वहाँ आनन्द है कहाँ? वह तो दुःखरूप है। शुभराग हो तो भी दुःखरूप है, अग्नि है; वह आत्मा के अमृतस्वरूप से विरुद्धभाव है। अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ भगवान आत्मा से शुभभाव विपरीत है; इसलिए दुःखरूप है, उसे समिति मिटानेवाली है परन्तु उत्पन्न करनेवाली नहीं है। देखो, यहाँ तो यह कहना है।

**प्रश्न –** अन्तरङ्ग में ऐसा शील (चारित्र) प्रगट हुआ और समिति प्रगट हुई; अर्थात्, शुद्ध गति हुई तो वह राग को – व्यवहार को उत्पन्न करती है न?

**उत्तर –** नहीं; राग-विकार की परिणति स्वतन्त्र उत्पन्न होती है और यह समिति तो राग को नष्ट करनेवाली है।

....**तथा समस्त सुकृतरूपी धान्य की राशि को ( पोषण देकर ) सन्तोष देनेवाली मेघमाला है....**

सुकृत; अर्थात्, जो कर्तव्य (कार्य) निश्चय-शुद्ध है – ऐसी सम्यग्दर्शन-चारित्र आदिरूप निर्मलपरिणति। **णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं** – ऐसा पाठ इस नियमसार की तीसरी गाथा में है, उसका अर्थ यह है कि जो नियम से करने योग्य है, वह, अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; और वह निर्विकारी, निर्मल, निर्विकल्प वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अन्दर में सुकृत है, कर्तव्य है। अहा... हा! अन्तर के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कर्तव्य है किन्तु यह व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं; अत: नियम से जो करने योग्य है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। पूर्णानन्द स्वभावी प्रभु आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसकी निर्मल वीतरागीपरिणति निश्चय से करने योग्य है। लो, यह नियम, नियम से करने योग्य है।

www.vitragvani.com



**विवरीयपरिहरत्थं,** अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय, जो कि विकल्परूप है, वह विपरीत है और उसे छोड़ने के लिये **भणिदं खलु सारमिदि वयणं** वास्तव में 'सार' – ऐसा वचन कहा गया है।

**प्रश्न** – नियम का 'सार' – ऐसा क्यों कहा?

**उत्तर** – रत्नत्रय से विपरीत के परिहार के लिये; अर्थात्, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प है, उसके अभाव के लिये 'सार' शब्द कहा गया है। देखो, अन्दर में एक-एक शब्द कैसा पड़ा है।

देखो, जैसे समय, अर्थात् आनन्दस्वरूप, ऐसा प्रभु आत्मा और सार, अर्थात् कर्म के निमित्त से होनेवाले पुण्य-पाप के विकाररहित, अर्थात् पुण्य-पाप के विकाररहित – ऐसा पूर्णानन्द के स्वभाववाला भगवान आत्मा है, उसे समयसार कहते हैं; उसी प्रकार यह नियमसार; अर्थात्, पूर्णानन्दस्वरूप वस्तु जो त्रिकाली प्रभु भगवान आत्मा है, उसके अन्तरसन्मुख होकर, उसे जानकर और उसकी प्रतीति करके, उसमें स्थिरता करना। यदि नियम से करने योग्य कोई कर्तव्य हो तो वह यही है तथा यही सुकृत है। इसी गाथा के ८२ वें कलश में सुकृत शब्द है। वहाँ कहा है कि इस सुकृतरूपी धान्य की राशि को / ढेर को; अर्थात्, आनन्द, शान्ति, ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों की निर्मलपरिणति को सन्तोष देनेवाली मेघमाला, वह ईर्यासमिति है।

अनन्त-अनन्त गुणों के पिण्ड प्रभु आत्मा की परिणति में, अनन्त गुणों की निर्मलदशा प्रगट हुई, मानों उस पर्याय में धान्य की राशि ही पकी है – ऐसा कहते हैं। यह ईर्यासमिति उस निर्मलदशारूपी धान्य के पाक का पोषण करनेवाली मेघमाला है। देखो तो सही! कैसी उपमा दी है!! जैसे, खेत में धान्य उगा हो और वर्षा की / मेघ की धारा पड़े तो वह धान्य को पुष्टिदाता है; वैसे ही अन्दर में देखकर परिणमन करनेरूप ईर्यासमिति, अनन्त गुणों की परिणति को सन्तोष देनेवाली है। अहो! मुनिराज को कथन करने के लिए शब्द कम पड़ते हैं। अरे! अभी तो ऐसी बात कान में पड़ना भी कठिन है।

**.... ऐसी यह समिति जयवन्त है।**

ऐसा कहकर क्या कहना चाहते हैं? क्या बताते हैं कि ऐसी समिति अपने में है, उसका अस्तित्व है – ऐसा बताते हैं तथा 'यह' कहकर किसी दूसरे जीव में समिति जयवन्त है – ऐसा नहीं; बल्कि इस प्रकार मुझमें ही मेरी शुद्धपरिणति की धारा बहती है और वह जयवन्त वर्तती है – ऐसा पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं। अहा! क्या रचना है! सिद्धान्त की यह रचना अकेले आत्मा को मुख्य रखकर रची गयी है।

www.vitragvani.com



यह समिति... देखो 'यह' शब्द पड़ा है और 'यह' शब्द प्रत्यक्षपने को बतलाता है। इसलिए कहते हैं कि मेरे पास समिति जयवन्तरूप वर्तती है, अस्तिरूप वर्तती है तथा उसका मुझे पता भी है। कलश में है न कि **जयति समिति** – जयति का अर्थ यह है कि मेरे पास समिति की परिणति है, वह जयवन्त वर्तती है। मुझमें धान्य पका है, उसे सन्तोष देनेवाली जो मेघमाला मुझमें वर्तती है, वह जयवन्त वर्तती है; अर्थात्, ध्रुव भगवान आत्मा का शुद्धपरिणमन है / अनन्त गुण की निर्मलधारा है, उसे यह समिति मेघमाला के समान है और यह समिति जयवन्त वर्तती है।

देखो तो सही शैली! यह तो पहले भी कहा था कि जिनधर्म जयवन्त वर्तता है। पहले गाथा ५६ वीं गाथा के ७६ वें श्लोक में कहा था कि जिनधर्म जयवन्त वर्तता है। इससे यह कहना चाहते हैं कि हमारा जिनधर्म, हमारी पर्याय में वर्तता है। जैनधर्म की पर्याय कहीं बाहर में नहीं होती, परन्तु हमारी श्रद्धा में, हमारे ज्ञान में और हमारे चारित्र में जैनधर्म रहता है, वर्तता है। जैनधर्म–जैनशासन कोई द्रव्य अथवा गुण नहीं है तथा अन्य पर में भी वह नहीं है, वह तो आत्मा की वीतरागीपर्याय है; इसलिए जैनशासन कोई आत्मा की पर्याय से बाहर नहीं होता। यह बात तो समयसार की १५ वीं गाथा में भी आयी है कि अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त – ऐसे पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का, जहाँ उसके अन्तरसन्मुख होकर अनुभव किया, वहाँ प्रगट होनेवाली दशा को जैनशासन कहते हैं। इस प्रकार शुद्धपर्याय को भी जैनशासन कहते हैं किन्तु द्रव्य–गुण को नहीं। यद्यपि गुणरूप जैनपना तो स्वभावरूप है ही परन्तु यह तो प्रगट हुए जैनशासन की बात है।

यह जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है परन्तु वस्तु का स्वरूप है। अहा! वस्तु ही जिनस्वरूप है। जिन, अर्थात् त्रिकाली वीतरागस्वभाव। कहा है न कि जिन, सो ही है आत्मा... तो उस आत्मा का अन्तर आश्रय करने पर, उसकी अन्तरएकाग्रता होने पर जो वीतरागधारा प्रगट होती है, वह जैनधर्म, जैनशासन है और वह तो वस्तु की स्थिति है। वह कोई सम्प्रदाय की बात नहीं है कि हमारे में ऐसा कहा है और तुम्हारे में ऐसा कहा है। अरे! जैनधर्म की बातें और भाव अन्यत्र कहाँ हैं बापू! जैनधर्म क्या चीज है? इसका लोगों को पता नहीं है। अहा! वीतरागमार्ग अनेकान्तरूप है; इसलिए दूसरे सबको एक साथ इकट्ठा करके मिला लेना उन्होंने किया है – ऐसा नहीं है। दूसरे सबके अनेक मत हैं, उन्हें इकट्ठा करके जैनधर्म बनाया गया है – ऐसा नहीं है परन्तु अनेकान्त; अर्थात्, जिसमें अनन्त धर्म गुण हैं, वह। यहाँ कहते हैं कि अनन्त गुणों का एकरूप आत्मा जिनस्वरूप है

www.vitragvani.com



और उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागपर्याय प्रगट हो, उसका नाम जैनशासन है; इस प्रकार वीतरागपर्याय ही जैनशासन है और वस्तु, वह जिनस्वरूप है किन्तु भूमिकानुसार आनेवाला राग, जैनशासन नहीं है – ऐसा सिद्ध करना है।

**ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्री वीतराग।**
**समवसरण के मध्य में श्री सीमन्धर जिनराज॥**

त्रिलोकनाथ परमात्मा श्री सीमन्धर भगवान महाविदेह में सर्वज्ञपद में विराजमान हैं और वहाँ समवसरण में यह मार्ग भगवान् कहते हैं, जिसे इन्द्र सुनते हैं और गणधर झेलते हैं।

अरे! अनादि से आत्मा को राग से मार दिया था परन्तु अब अनन्त गुण का पिण्ड ऐसा जीव जिसने पर्याय में जीवित / प्रगट किया है, उसका अवतार धन्य... धन्य है! उसने जन्म सफल किया है!! इस समिति ने उसके जीवन को जीवित रखा है – यह बात तो एक कलश में आ गयी है। जीव का मरण होता था... जीव मरता था... देखो! मैं विचार करता था कि यह बात कहाँ होगी? वहाँ यही कलश आया, देखो! कुदरत भी सामने हैं न! समयसार कलश टीका का २८ वाँ कलश है। उसमें कहते हैं कि जैसे ढकी हुई निधि प्रगट की जाती है; उसी प्रकार जीवद्रव्य प्रगट ही है परन्तु कर्म संयोग से ढँका हुआ होने से मरण को प्राप्त हो रहा था; अर्थात्, कर्म के सङ्ग से उत्पन्न हुआ राग मैं हूँ – ऐसा जो मानता है, उसने ऐसे वीतरागीस्वभाव का अनादर किया है और वही जीव का मरण है।

'जीवद्रव्य प्रगट ही है' – कहने का आशय यह है कि पूर्ण ज्ञायकस्वभावी प्रभु आत्मा का; अर्थात्, अनन्त गुणरूप जीव का जीवन त्रिकाल रहनेवाला है; अर्थात्, वह त्रिकाल जीवित तत्त्व है। जैसे कि श्रीसीमन्धरस्वामी को जीवन्तस्वामी कहा गया है क्योंकि वे जीवन्त, अर्थात् विद्यमान हैं, जबकि महावीर भगवान आदि मोक्ष पधार चुके हैं; इसलिए बयाना में श्रीसीमन्धर भगवान को जीवितस्वामी / जीवन्तस्वामी कहा है। बयाना में आज से पाँच सौ सोलह वर्ष पूर्व की श्रीसीमन्धर भगवान की एक प्रतिमा विराजमान है, उसमें लिखा है कि जीवन्तस्वामी, अर्थात् जीवितस्वामी, जीते हुए भगवान अहा!

जिस प्रकार श्रीसीमन्धर परमात्मा आयुष्यसहित हैं तो भी अन्दर में जीवन्मुक्त हैं और उन्हें जीवन्तस्वामी कहा है; इसी प्रकार इस पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का जहाँ स्वीकार हुआ, वहाँ

वह जीवितस्वामी है – ऐसा ज्ञात होता है परन्तु जहाँ तक उसका स्वीकार नहीं था, वहाँ तक राग का स्वीकार था और तब आत्मा का मरण होता था।

**प्रश्न –** आत्मा के मरने का क्या अर्थ है ?

**उत्तर –** यही कि ऐसा आत्मा है, उसका स्वीकार नहीं करना; अर्थात्, ऐसा आत्मा नहीं है, मैं आत्मा नहीं हूँ – ऐसा स्वीकार करने को आत्मा का मरण कहते हैं। मैं तो एक समय की पर्याय और राग जितना हूँ – ऐसा जिसने माना है, उसने चैतन्य आत्मा की त्रिकाली जीवन ज्योति का मरण किया है, हिंसा की है – ऐसी बात है।

अहा! कहते हैं कि निधि तो थी ही परन्तु अब देखने में आयी कि अहो! यह निधि!! इसी प्रकार जीवद्रव्य प्रगट ही है क्योंकि वस्तु है, वह अस्तिरूप है, उसका अस्तित्व है, उसकी सत्ता है; एक समय की पर्याय के प्रगट अंश के पीछे सम्पूर्ण अस्तित्व है, वह महातत्त्व है, महाप्रभु है परन्तु कर्म के सङ्ग में पढ़ा–चढ़ा जीव, आत्मा के इस असङ्गतत्त्व को भूल गया है और इस कारण वह मरण का प्राप्त हो रहा था। 'वह भ्रान्ति परम गुरु श्री तीर्थङ्कर का उपदेश सुनने से मिटती है।' त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव तीर्थङ्कर की वाणी में, जीव ऐसा ज्ञानमय है, यह बताया है। तीर्थङ्कर वीतराग की तथा दिगम्बर सन्तों की वाणी के अतिरिक्त तीन काल–तीन लोक में कोई आत्मा को बतानेवाला है ही नहीं, अन्यत्र कहीं यह है नहीं – ऐसी बात है। देखो तो सही शैली!

देखो, यहाँ कहा है कि ऐसा भगवान आत्मा प्रगटरूप वस्तु है। एक समय में उसका ज्ञानस्वभाव अनन्त अपरिमित है; दर्शनस्वभाव अनन्त अपरिमित है; आनन्दस्वभाव अनन्त अपरिमित है। इस प्रकार एक–एक करके अनन्त गुणों का अनन्त अपरिमितपना है – ऐसा अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु आत्मा ध्रुवरूप से प्रगट है, तथापि जब उसका स्वीकार नहीं था, तब उसका मरण हो गया था। जहाँ तक उसकी दृष्टि एक समय के अंश पर और राग पर थी कि यह पुण्य मैंने किया है और यह पुण्य मेरा है, तब तक उस राग की दृष्टि से ऐसे आत्मतत्त्व का मरण किया था; अर्थात्, आत्मा का अस्वीकार किया था कि आत्मा मैं नहीं हूँ, मैं इतना नहीं है – यही आत्मा का मरण था। ऐसी बात है भगवान!

अब, मरण होता था, वह भ्रान्ति परमगुरु श्रीतीर्थङ्कर का उपदेश सुनने से मिटती है। त्रिलोकनाथ भगवान की वाणी में यह आता है कि तू पूर्ण परमात्मा है। देखो भाई! ऐसा कहकर

जिनेन्द्रदेव का उपदेश ऐसा होता था – यह बतलाते हैं परन्तु जिनेन्द्रदेव का उपदेश अन्य प्रकार से होगा भी क्यों? प्रभु तू पूर्ण है, प्रभु तुझमें अनन्त-अनन्त गुणों की पूर्णता पड़ी है। तुझेमें विपरीतता भी नहीं है और अपूर्णता भी नहीं है – ऐसा तेरा पूर्ण स्वरूप है, ऐसा आत्मा का पूर्ण स्वरूप वीतराग की वाणी में आता है।

*(आज प्रवचन दस मिनट अधिक चला। अतः पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा) कितना समय गया? यहाँ तो आनन्द में कितना समय गया – यह भी कुछ पता नहीं पड़ता। लो, नौ बजकर दस मिनट हो गये।*

## कलश ८३ पर प्रवचन

**यहाँ ( विश्व में ) यह निश्चित है कि इस जन्मार्णव में ( भवसागर में ) समितिरहित कामरोगातुर ( इच्छारूपी रोग से पीड़ित ) जनों का जन्म होता है।.....**

इस भवसागर में; अर्थात्, चौरासी लाख योनियों के अवतार में जो समितिरहित; अर्थात्, आत्मा के आनन्दस्वरूप की परिणति से रहित और इच्छारूपी रोग से पीड़ित हैं, वे अवतार धारण करते हैं। जिसे आनन्दस्वरूप आत्मा के अनन्त गुण की परिणति की शुद्धता नहीं है और जिन्हें इच्छारूपी रोग है – ऐसे मनुष्यों का इस जगत् में अवतार होता है। अपना स्वरूप, शुद्ध ध्रुव चिदानन्दमय है, उन अनन्त गुणों में एकतारूप परिणति ही समिति है और उससे रहित जीव को इच्छारूपी रोग होता है। देखो, यहाँ दो बातें की हैं कि —

१- अनन्त गुणों का पिण्ड – ऐसे भगवान आत्मा के अनन्त गुणों में एकतारूप परिणति, अर्थात् समिति से जो रहित हैं, और –

२- जो इच्छारूपी रोग से पीड़ित हैं – ऐसे जनों का / जीवों का चौरासी लाख योनियों में जन्म, अर्थात् अवतार होता है।

अहा! अपना आनन्दस्वभाव है। आत्मा का स्वरूप सुख-आनन्दमय है, तथापि जो उसकी आनन्ददशा के परिणमन से रहित है; अर्थात्, जिसे मुक्ति के कारण ऐसे भगवान आत्मा की अन्तर पवित्र शुद्धसमिति का परिणमन नहीं है; अर्थात्, जो वीतरागभावरहित है और रागभावसहित है, उसका इस जगत् में जन्म होता है – ऐसा श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं, जगत् में प्रसिद्ध करते हैं। देखो, रागभावसहित और वीतरागभावरहित – ऐसा कहकर उन्होंने अस्ति-नास्ति से कथन किया है।

अहा! आत्मा शुद्ध चिद्घन आनन्दघन वस्तु है; आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है – ऐसे आनन्दघन आत्मा की प्रगट परिणति में शुद्धरूप परिणमित होना, वह समिति है। अब, दो बातें लेते हैं कि इस जगत् में – (१) जो ऐसी समिति से रहित हैं; अर्थात्, शुद्ध आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आनन्द की परिणति से जो अन्दर में रहित हैं; अर्थात्, शुद्ध आत्मस्वभाव के प्रति गतिरूपी परिणति से जो रहित हैं, और (२) जो कामरोग से; अर्थात्, इच्छारूपी रोग से पीड़ित हैं, वे अवतार लेते हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि, उसका ज्ञान और उसकी रमणतारूप शुद्ध आनन्दमय परिणतिरूप समिति है, जो उससे रहित हैं और इच्छारूपी रोग से पीड़ित हैं – इसका अर्थ यह है कि जो अन्दर में वीतरागीपरिणति से रहित हैं और जो राग अथवा इच्छा से पीड़ित हैं – ऐसे जीव, चौरासी लाख योनियों में अवतार धारण करते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं। देखो, एकदम मुद्दे की बात की है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा का स्वभाव तो भव और भव के भाव से रहित है – ऐसे नित्यानन्द प्रभु आत्मा की निजस्वरूप की समिति का / गति का शुद्धवीतरागी परिणति का जिसे अभाव है और जो इच्छारूपी रोग से पीड़ित है, भले ही वह कैसी भी इच्छा क्यों न हो, उससे जो पीड़ित हैं – ऐसे जीव चौरासी लाख योनियों में अवतार धारण करते हैं।

एक व्यक्ति मुम्बई में किसी से कहता था कि यह महाराज ऐसा कहते हैं कि तुम सब दुःखी हो परन्तु मुझे तो कोई दुःख लगता ही नहीं, क्योंकि मैं तो दो–पाँच हजार कमाता हूँ और मेरे पुत्रादि सब ठीक हैं।

बापू! तुझे दुःख का पता ही नहीं है। आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा से विरुद्ध जितने शुभ अथवा अशुभभाव हैं वे सब समस्त दुःखमय हैं परन्तु उस दुःख का अज्ञानी को पता ही नहीं है। दुःख न तो प्रतिकूल संयोग में है और न ही स्वभाव में; दुःख तो स्वभाव से विपरीतदशा है। राग, अर्थात् पुण्य–पाप का भाव, वह दुःख है; इस प्रकार राग ही दुःख है किन्तु संयोगी वस्तु दुःखरूप नहीं है, वह तो ज्ञेय है। तथा अज्ञानी को भी पर का वेदन नहीं है क्योंकि पर का वेदन किसी को होता ही नहीं है। अज्ञानी को भी वेदन तो राग और द्वेष का होता है। अहा! पर चीज है, वह तो ज्ञेय है; अर्थात्, ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है। बस, इतनी सी बात है। जबकि आनन्दमूर्ति आत्मा ज्ञाता है। अब, इन दोनों के बीच, आनन्दमूर्ति आत्मा को भूलकर अज्ञानी जो कुछ पुण्य–पाप के भाव करता है और पुण्य–पाप में मुझे ठीक–अठीक है – ऐसा पर्यायबुद्धि भाव / राग बुद्धिभाव / मिथ्यात्वभाव

www.vitragvani.com



करता है, वही दु:ख है। अज्ञानी की पर्याय में उलटी दशा; अर्थात्, विपरीतमान्यता और राग-द्वेष है, वही दु:ख है।

अरे, वास्तविक तत्त्व की इसे अनन्त काल में खबर ही नहीं पड़ी और भान बिना यों ही जीवन व्यतीत कर दिया। अहो! नरक, निगोद, एकेन्द्रिय आदि चौरासी लाख योनियों के अवतार हैं – ऐसे जन्मार्णव में; अर्थात्, चौरासी लाख योनियों के अवतार जो कि जन्मरूपी महा-समुद्र है और उसमें आनन्दस्वरूप आत्मा की सन्मुखता की; अर्थात्, शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागपरिणतिरहित जो है और जो बाह्य पदार्थों की इच्छा की पीड़ा से सहित है, वह जन्म पाता है, अर्थात् उसे जन्म मिलता है।

**.... इसलिए हे मुनि! तू अपने मनरूपी घर में इस सुमुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के लिये निवासगृह रख ( अर्थात्, तू मुक्ति का चिन्तवन कर )।**

यह टीका करनेवाले पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं न? तो मुनिराज, मुनियों से कहते हैं कि हे सन्त....

**प्रश्न** – यह शास्त्र श्रावकों के लिये है या मुनियों के लिये?

**उत्तर** – यह शास्त्र सबके लिये है। यद्यपि मुख्यरूप से तो मुनियों को लक्ष्य करके लिखा है, तथापि सबको, अर्थात् चारों तीर्थ के लिये है। जैसे, चार लड़कों में से बड़े लड़के को कुछ कहते हों तो वह बात, दूसरे तीनों पर भी लागू होती है; उसी प्रकार यहाँ मुख्यरूप से मुनियों का अधिकार है; अर्थात्, मुख्यरूप से उन्हें लक्ष्य करके बात कही गयी है। मुनियों का जितना अधिकार है, उतना सभी मुनिराज को पूर्णरूप से लागू पड़ता है; जबकि श्रावक को आंशिकरूप से लागू पड़ता है। इसलिए श्रावक को भी यहाँ कहते हैं कि भाई! चौरासी लाख योनियों के जन्मार्णव में परिभ्रमण करते हुए पुण्य-पाप के रागरहित और वीतरागी आनन्दसहित तेरा पूर्णानन्द शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप है। प्रभु! तुझे उसकी दृष्टि और ज्ञान नहीं है तो तुझे इच्छा है; अर्थात्, कुछ प्राप्त करूँ, कुछ करूँ, पुण्य करूँ, दया पालूँ, व्रत करूँ, पाप करूँ इत्यादि प्रकार से शुभाशुभराग का कर्तृत्व तेरे पास है, वही इच्छा है और उस इच्छा के दु:ख से तू पीड़ित है – ऐसी बात है बापू! अरे, लोगों को मूल बात ही हाथ नहीं आयी है और मात्र ऊपर की बातों में रुक गये हैं।

अब कहते हैं कि भाई! तू अपनी अन्तरज्ञानपरिणति में सुमुक्तिरूपी स्त्री के लिये निवास

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



गृह रख; अर्थात्, शुद्ध परिणति प्रगट कर! क्योंकि दोनों पुण्य और पापरूप विभावपरिणमन दुःखरूप है। मन, अर्थात् ज्ञान की दशा और सुमुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री, अर्थात् पूर्ण आनन्ददशा, पूर्ण शुद्धपरिणति। पूर्ण आनन्ददशा / पूर्ण शुद्धता प्रगट होना मुक्ति है और वह सुमुक्ति, सुन्दर स्त्री के समान है। अहा! यह सब माँस और हड्डियोंवाली स्त्रियों के सङ्ग में रहकर तो तू पीड़ित है, दुःखी है; इसलिए अब इस सुमुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के लिये; अर्थात्, अपनी पूर्ण शुद्धपरिणतिरूप मुक्ति है, उसरूप स्त्री के लिये निवासगृह, अर्थात् रहने का स्थान रख। पूर्ण शुद्धपरिणतिरूपी स्त्री के लिये अवकाश रख – ऐसा कहते हैं।

अहा! संसार को जन्मार्णव कहा है न? तो, उस चौरासी लाख योनियों के अवतार में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों को यह वीतरागीपरिणति नहीं होती। आनन्द का धाम ऐसे चैतन्यप्रभु आत्मा के सन्मुखता की दृष्टि, ज्ञान और रमणता की परिणतिरहित और परसन्मुखतारूप राग की विभावपरिणति से सहित जीव, संसार में जन्म प्राप्त करते हैं, अवतार धारण करते हैं; इसलिए अब कहते हैं कि सुमुक्तिरूपी अपनी परिणति के लिये शुद्धपर्याय प्रगट कर। 'मोक्ष कहा निज शुद्धता' – ऐसा आता है न! तात्पर्य यह है कि अपनी शुद्ध और आनन्दमय पूर्णदशा, वह मुक्ति / मोक्ष है। मोक्ष, अर्थात् कोई दूसरी वस्तु नहीं।

अहा! अपनी पूर्ण शुद्ध आनन्ददशा का नाम मुक्ति और विकारदशा का नाम संसार है परन्तु मुक्ति अथवा संसार किसी बाह्य वस्तु में नहीं है। मुक्ति और संसार, जीव की पर्याय से दूर नहीं रहते, किन्तु जीव की पर्याय में रहते हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो त्रिकाल आनन्द के धाम भगवान आत्मा पर जिसकी दृष्टि नहीं है और पुण्य-पाप और उनके फल पर ही दृष्टि है – ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है तथा उस सहित जो राग-द्वेषभाव है, वह संसार है और वह संसार कहीं पर्याय से दूर नहीं है। इस प्रकार संसार, जीव की पर्याय से दूर नहीं होता, इसी प्रकार मुक्ति भी जीव की पर्याय से दूर नहीं होती।

**प्रश्न** – क्या स्त्री-पुत्रादि संसार नहीं हैं?

**उत्तर** – नहीं, क्योंकि यदि यह शरीर, स्त्री, परिवार, धन, मकान आदि संसार हो तो देह छूटने पर वे सब छूट जाते हैं, यहीं पड़े रहते हैं; इसलिए संसार भी छूट गया, तब तो इसकी मुक्ति हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा तो नहीं होता; इसलिए यह स्त्री-पुत्रादिक संसार ही नहीं है किन्तु जीव की पर्याय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का उदयभाव है, वह **संसरणम् इति संसार** है। त्रिकाली

www.vitragvani.com



स्वभाव में से हटकर विकार की स्वीकृती में आया; अर्थात्, मैं विकारी हूँ – ऐसा स्वीकार किया, उस भाव को संसार कहते हैं और देह छूटने पर स्त्री–पुत्रादिक सब छूट जाता है, इस विकार को लेकर दूसरे भव में जाता है। इस प्रकार भगवान! तेरी संसार की परिणति ही तेरा भाव, अर्थात् तेरी दशा है। मोक्ष का मार्ग तेरी ही अपूर्ण निर्मलदशा है और मुक्ति भी तेरी पूर्ण शुद्धदशा है। यह सब; अर्थात्, संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष तुझमें ही है।

देखो, कारखाना आदि संसार नहीं हैं – ऐसा कहते हैं क्योंकि वह तो परवस्तु है। अपने ध्रुव शुद्ध आनन्दधाममय पूर्णस्वरूप में से अनादि से हटकर दया, दान, व्रत, भक्ति और हिंसा आदि पुण्य–पाप के विकारीपरिणाम मेरे हैं किन्तु यह त्रिकाली आत्मा, मैं नहीं हूँ – ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, वह संसार है। अरे रे! संसार किसे कहना? इसका भी तुझे पता नहीं है।

श्री पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका (निश्चय पञ्चाशत) में दृष्टान्त दिया है कि जैसे, शरीर में मैल होता है, वह दर्पण में दिखाई देता है; इससे कोई दर्पण को घिसने लगे तो क्या मैल निकलेगा? नहीं निकलेगा। उससे तो दर्पण घिस जाएगा, किन्तु मैल नहीं निकलेगा। इसी प्रकार अपनी दशा में संसाररूपी मैल है, तथापि अज्ञानी स्त्री, पुत्र, व्यापार इत्यादि को छोड़ दे तो संसार छूट जाएगा – ऐसा मानता है परन्तु इस प्रकार संसार नहीं छूटता, क्योंकि इसका संसार पर में कब था? संसार तो इसकी पर्याय में है। अहा! आनन्द का धाम प्रभु भगवान आत्मा तो प्रत्येक गुण से पूर्ण है, उस एक–एक गुण में भी अनन्त सामर्थ्य है – ऐसे अनन्त गुण के सामर्थ्यस्वरूप आत्मवस्तु की प्रतीति–विश्वास से हटकर अल्पज्ञदशा में तथा पुण्यादि रागभाव में अपनेपने की मान्यता ही मिथ्यात्वभाव है और इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वभाव ही संसार है। समयसार–नाटक में भी लिखा है कि सिद्ध है कि मिथ्यात्व ही संसार–आस्रव है।

देखो, यहाँ भी कहते हैं कि जन्मार्णव; अर्थात्, यह बाहर की चौरासी लाख योनियों के अवतार करना, वह संसार नहीं; अपितु जीव का मिथ्यात्वभाव ही संसार है और वह जन्म–मरण का कारण है। भव, अर्थात् शरीरादिक का संयोग है, जबकि मिथ्यात्वभाव तो संसार, अर्थात् उदयभाव है और वह संसार, स्वभावभाव में नहीं है। त्रिकाल आनन्दमूर्ति प्रभु भगवान आत्मा में, जो कि परमपारिणामिक ज्ञायकभावस्वरूप वस्तु है, उसमें संसार कहाँ है? क्योंकि स्वयं आत्मा तो मुक्तस्वरूप है, अबद्धस्पृष्ट ही है – ऐसे आत्मा में से च्युत होकर, मैं पुण्य और पापवाला हूँ, पाप और पुण्य की क्रियावाला हूँ; अर्थात्, मैं रागसहित हूँ – ऐसी मिथ्यामान्यता ही संसार है।

www.vitragvani.com



यही बात श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की चौदहवीं गाथा में कही है —

**एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।**
**प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥**

इस प्रकार यह भगवान आत्मा, कर्मकृत; अर्थात्, कर्म के निमित्त से होनेवाले दया-दान आदि, पुण्य-पाप के रागभाव से और शरीरादि भावों से; अर्थात्, आस्त्रव और अजीवभावों से असंयुक्त / पृथक् है। अहा! नव तत्त्व है न। तो दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, काम, क्रोध आदि भाव आस्त्रवतत्त्व हैं और शरीर, कर्म, लक्ष्मी इत्यादि अजीवतत्त्व हैं। इस आस्त्रवतत्त्व और अजीवतत्त्व से आत्मा समाहित नहीं है, युक्त नहीं है; तथापि **युक्त इव प्रतिभाति,** ऐसा प्रतिभास होता है कि मैं राग और शरीरसहित हूँ, बस – वही मिथ्यात्व है, भव का बीज है। अरे रे! इसने मूल वस्तु को देखा नहीं, सुना भी नहीं और इसके बिना राग की मन्दता-दया, व्रत, पूजा, भक्ति आदि की परन्तु वह तो 'मूल सुरक्षित, ऊपर से पत्ते तोड़ने के समान' निष्फल है क्योंकि पन्द्रह दिन में उस वृक्ष पर फिर से पत्ते आ जाएँगे।

अहा! भगवान सर्वज्ञ परमात्मा परमेश्वर, इन्द्र और गणधरों की सभा में यह प्रसिद्ध करते हैं कि तेरा प्रभु और तेरा स्वभाव पुण्य-पाप के विकल्परूप आस्त्रव से और शरीर, कर्मरूप अजीव से सहित नहीं है, फिर भी तुझे 'मैं उनसे सहित हूँ' – ऐसा अन्तरङ्ग में भासित होता है, वह भव का बीज, अर्थात् मिथ्यात्व है। अरे! इसने मूल मुद्दे की बात सुनी नहीं है और जब सुनने में आयी तो 'यह निश्चय-निश्चय है' इस प्रकार कहकर निकाल दी, अर्थात् लक्ष्य में नहीं ली। यह मूल में भूल है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा को जन्मार्णव में उत्पत्ति का कारण मिथ्यात्वभाव है; अर्थात्, मिथ्यात्व से चौरासी लाख योनियों के अवतार में यह जीव परिभ्रमण करता है और यह शुद्ध पवित्र भगवान आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप वीतराग परिणति से – समिति से रहित है और इच्छा से सहित है। बस! वह इच्छा ही दुःख का मूल है। 'क्या इच्छत खोवत सवै, है इच्छा दुःखमूल' *( श्रीमद् राजचन्द्र, हाथनोंध -१ )* ऐसा करूँ, वैसा करूँ – यह इच्छा मिथ्यादृष्टि को होती है और ऐसे इच्छारूपी रोग से पीड़ित उन जीवों का जन्म होता है; अर्थात्, ऐसे जीवों को भव में अवतार करना पड़ता है।

www.vitragvani.com



अरे! जिसका फल, भव है, जो अनन्त-अनन्त भव का कारण है, वह मिथ्यात्व है। यह अनन्त-अनन्त भव की पोट सिर पर पड़ी है तो भी इसे त्रास नहीं है कि अरे रे! मैं कहाँ जाऊँगा? मेरा क्या होगा? दुनिया की बात दुनिया जाने तथा दुनिया को यह बात जँचे या न जँचे, उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अब, इसे तो यह होना चाहिए कि अहो मैं अनादि काल से अनन्त काल तक रहूँगा तो भविष्य में मैं कहाँ रहूँगा? यदि राग और शरीरसहित अपने को माना तो उसमें रहूँगा; अर्थात्, संसार में परिभ्रमण करता रहूँगा। देखो, धर्म का ऐसा अद्भुत स्वरूप है, जो कि अभी सुनने को मिलना भी कठिन है।

यहाँ कहते हैं कि भाई! चौरासी लाख योनियों के अवतार का कारण मिथ्यात्वभाव है।

**प्रश्न –** यह मिथ्यात्वभाव, अर्थात् क्या?

**उत्तर –** भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धता और आनन्द का धाम है। वह तत्त्व, पुण्य-पाप के भावरूप राग और शरीर, कर्म आदि अजीवतत्त्व से भिन्न है; अर्थात्, आस्रवतत्त्व से और अजीवतत्त्व से ज्ञायकतत्त्व-चैतन्यतत्त्व भिन्न है, असमाहित है, अर्थात् समाहित नहीं है, तथापि इसे सहितपना भासित होता है – यही मिथ्यात्वभाव है और ऐसा शुद्धपरिणति से रहित, इच्छा से पीड़ित जीव, चारगति में अवतार धारण करता है – ऐसी बातें हैं भगवान!

अरे! समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार की ७२ वीं गाथा में आत्मा को भगवान कहकर ही बुलाया है। आचार्य ने आत्मा को यह कहकर बुलाया है कि भगवान आत्मा... क्यों, ऐसा क्यों? क्योंकि आत्मा तो अजीव और आस्रव से रहित ही है; इस कारण वह भगवान ही है; अर्थात्, आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप ही है और उसे ही भगवान आत्मा कहते हैं। वरना क्या पुण्य के परिणाम को आत्मा कहेंगे? नहीं, क्योंकि वे तो आस्रव हैं।

**प्रश्न –** पुण्य से थोड़ा तो लाभ होता है न?

**उत्तर –** हाँ, लाभ होता है, संसार परिभ्रमण का। भाई! प्रवचनसार गाथा ७७ में तो ऐसे शब्द हैं कि जो कोई पुण्य-पाप में विशेषता मानता है, वह घोर संसार में परिभ्रमण करेगा।

**अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति;** अर्थात्, अब पुण्य और पाप का अविशेषपना निश्चित करते हुए उपसंहार करते हैं। अविशेष कहने से पुण्य और पाप दोनों समान हैं, अर्थात् दोनों में सामान्यपना हैं।

www.vitragvani.com



**ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।**
**हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो॥**

पुण्य और पाप में **विशेषः नास्ति,** अर्थात् अन्तर नहीं है – ऐसा जो नहीं मानता; अर्थात्, पुण्य और पाप में अन्तर है, फर्क है, अर्थात् पुण्य ठीक है – ऐसा जो मानता है, वह मोहाच्छादित होता हुआ संसार में **हिण्डदि,** अर्थात् परिभ्रमण करता है। लो, यह प्रवचनसार–वीतराग–वाणी का सार! अरे, मिथ्यात्व क्या है? इसका अज्ञानी को पता भी नहीं है, वह तो अभी यह मानता है कि व्यवहार करूँगा तो निश्चय होगा और व्यवहार, अर्थात् राग। इसलिए राग करूँगा तो निश्चय, अर्थात् वीतरागता होगी; आस्रव करूँगा तो आत्मा को संवर होगा – ऐसा वह मानता है परन्तु यह श्रद्धा ही मिथ्या है। आत्मा रागसहित है और राग करने योग्य है – ऐसी मान्यता ही मिथ्यात्व है।

**प्रश्न –** परन्तु पर के बिना चलता तो नहीं है न?

**उत्तर –** अरे! आत्मा को पर के बिना ही चलता है। हाँ, पर के बिना मुझे नहीं चलता – ऐसा इसने माना है; इसलिए ऐसी मान्यता के बिना इसने अनादि काल से चलाया नहीं है। ऐसा ही प्रश्न विक्रम संवत २०१० में बोटाद में हुआ था कि महाराज! आप पैसे को धूल–जड़ कहते हो परन्तु उसके बिना कुछ चलता नहीं है? तब हमने कहा कि देखो भाई! सुनो, इस एक अंगुली ने क्या दूसरी अंगुली के बिना चलाया नहीं है? – हाँ चलाया है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यह अंगुली टूट जाए तो दूसरी अंगुली भी नहीं रहेगी। इसी प्रकार आत्मा ने परद्रव्य के अभाव से ही चलाया है। आत्मा, स्वद्रव्य से है और परद्रव्य से नहीं है; इस कारण आत्मा का टिकना ही परद्रव्य के अभावरूप है, तथापि अज्ञानी मानता है कि परद्रव्य के अभाव में मैं कैसे रह सकता हूँ? परन्तु यह तो उसकी मिथ्यात्व मान्यता है।

दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान आत्मा, स्वद्रव्य से अस्ति है और परद्रव्य से नास्ति है; इसलिए परद्रव्य के अभावरूप ही स्वयं टिक रहा है। उसका अस्तित्व इस प्रकार ही टिक रहा है, तथापि अज्ञानी को ऐसा हो गया है कि मुझे पैसे के बिना नहीं चलता, परन्तु यह तो उसकी मिथ्यामान्यता ने डेरा डाला है। यह मूल वस्तु है और इस मूल वस्तु पर दुनिया का लक्ष्य गया ही नहीं है।

अहा! अज्ञानी बाहर ही बाहर में पण्डिताई की बड़ी बातें करता है कि भगवान ने व्यवहार से लाभ कहा है और छहढाला में भी व्यवहार को निश्चय का हेतु, अर्थात् कारण कहा है। भाई!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

भगवान ने व्यवहार की बातें कहकर, व्यवहार का ज्ञान कराया है परन्तु उस राग से सहित आत्मा है – ऐसा माननेवाले ने तो राग से आत्मा को लाभ माना है, क्योंकि आत्मा को रागसहित मानो अथवा आत्मा को राग से लाभ मानो – यह दोनों एक ही बात हुई और यह बात मिथ्या है।

अब, छहढाला में 'हेतु नियत को होइ' ऐसा जो कहा है, वह निमित्त का ज्ञान कराया है कि उस भूमिका में ऐसा मन्दराग होता है; बस! राग होता है, इतना ही कहना है परन्तु राग से आत्मा में लाभ होता है, यह नहीं कहना है क्योंकि तब तो परस्पर विरुद्ध वचन हो जाएँगे। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आत्मा को रागसहित मानने को मिथ्यात्व कहा है और यदि फिर यहाँ छहढाला में यह कहें कि राग की मन्दता से आत्मा को लाभ होता है तो यह परस्पर विरुद्ध वचन हुआ, परन्तु वीतराग के वचन ऐसे नहीं होते; वीतराग के वचन तो पूर्वापर विरोधरहित होते हैं।

अहा! एक ओर भगवान ऐसा कहें कि जीव को रागसहित मानना मिथ्यात्व है और फिर दूसरी ओर यह कहें कि जीव को राग से लाभ होता है; अर्थात्, जो आत्मा में नहीं है, उससे आत्मा को लाभ होता है तो यह विरुद्ध वचन हुए, किन्तु सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ की वाणी में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं होता; अत: यहाँ कहा है कि राग से जीव को लाभ होता है; अर्थात्, जो आत्मा में नहीं है, उससे आत्मा को लाभ होता है – ऐसी दृष्टि ही मिथ्या है। अरे! अभी तो मूल तत्त्व की बात की ही अज्ञानी को खबर नहीं है। निश्चय श्रद्धा की बात तो फिर, परन्तु अभी तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

यहाँ प्रवचनसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का वचन है कि जो शुभ और अशुभ – इन दोनों भावों में अन्तर-भेद-विशेष मानता है; अर्थात्, इन्हें एकरूप नहीं मानता, वह घोर संसार में परिभ्रमण करेगा।

**प्रश्न** – शुद्ध घी नहीं मिले तो वेजीटेबिल से चला लिया जाए?

**उत्तर** – परन्तु यह वेजीटेबिल घी नहीं है। यह दूसरी चीज, अर्थात् तैल है और इसे घी नाम दिया है। इसी प्रकार राग की मन्दता, रत्नत्रय नहीं है, मात्र इसे व्यवहाररत्नत्रय का नाम दिया है। दूसरे प्रकार से कहें तो व्यवहाररत्नत्रय, धर्म नहीं है; अर्थात्, राग की मन्दता सच्चा रत्नत्रय नहीं है परन्तु स्वभाव की दृष्टि-ज्ञान और रमणतारूप निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है, उसका राग की मन्दता में मात्र व्यवहाररूप आरोप किया जाता है, वरना वह राग की मन्दता रत्नत्रय कब थी? वह कोई रत्नत्रय नहीं है, वह तो अधर्म है; तो क्या फिर अधर्म, धर्म का कारण होगा? नहीं।

अज्ञानी को लगता है कि क्या ऐसा वीतराग का मार्ग होता है ? परन्तु भाई ! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर, एकावतारी इन्द्रों के समक्ष वाणी बरसाते हैं तो वह वाणी कैसी होगी ? शकेन्द्र, तीन ज्ञान के धनी, क्षायिकसमकिती और एकावतारी हैं, उन्हें भी पता है कि अब मुझे एक ही भव है, इसी प्रकार उनकी स्त्री-इन्द्राणी भी एकावतारी; अर्थात्, एक भव करके मोक्ष जानेवाली हैं। इस प्रकार दोनों पति-पत्नी एकावतारी है और वे भगवान के पास वाणी सुनने आते हैं तो वह वाणी / कथा कैसी होगी ? वह वार्ता कैसी होगी ? 'तू राग-पुण्य और व्यवहार करना, उससे तेरा कल्याण होगा...' - क्या वह वाणी / कथा ऐसी होगी ? नहीं। 'तू राग-रूप नहीं है, तीन काल में तू रागसहित है ही नहीं; तू तो चिदानन्द ध्रुव आनन्दस्वरूप चेतनमूर्ति है - ऐसे आत्मा को रागसहित मानना; अर्थात्, आत्मा को व्यवहारसहित मानना ही मिथ्यात्व, अर्थात् भव का बीज है...' - ऐसी भगवान की वाणी होती है।

देखो, व्यवहार कहो या राग कहो या आस्रव कहो, एक ही है - ऐसा कहते हैं। बीच में / साधकदशा में व्यवहार होता अवश्य है; इसलिए उसे बतलाते भी हैं। जहाँ निश्चय होता है, वहाँ भूमिकानुसार राग की मन्दता, अर्थात् व्यवहार होता है परन्तु वह आश्रय करने योग्य है और उससे लाभ होता है - यह बात बिलकुल झूठ है।

**प्रश्न** – यह बात कितने प्रतिशत झूठ है ?

**उत्तर** – यह बात शत-प्रतिशत झूठ है।

यहाँ कहते हैं कि अरे मुनि ! भगवान ! तू अपनी परिणति में पूर्ण मुक्ति के लिये स्थान रख - शुद्धपरिणति प्रगट कर ! क्योंकि वह शुद्धपरिणति ही पूर्ण मुक्ति का स्थान / निवासगृह है; अर्थात्, शुद्धपरिणति में से मुक्ति होगी, किन्तु राग में से मुक्ति नहीं होगी। देखो, यह व्यवहार ईर्यासमिति का अधिकार चलता है, तथापि उसमें से निश्चय की बात निकाली है। अहा ! यह व्यवहारचारित्र का अधिकार है, इसमें कहते हैं कि यह व्यवहारचारित्र किसे कहा जाता है ? जिसे अन्दर में रागरहित आनन्दस्वरूप भगवान् आत्मा का भान, ज्ञान हुआ है और रमणता हुई है, उसकी राग की मन्दतारूप ईर्यासमिति को व्यवहारचारित्र कहा जाता है - ऐसी बात है और यह कहने के लिये यहाँ बात की है। वरना अभी तो मूल बात में बहुत गड़बड़ चलती है।

अहा ! मुक्ति में पूर्ण शुद्ध चैतन्यघन भगवान आत्मा के आनन्द का अनन्तवाँ भाग प्रगट होता है; अर्थात्, मुक्ति के आनन्द से अनन्त-अनन्त गुना आनन्द ध्रुव सत् के सत्व में पड़ा है।

ध्रुव सत् का सत्व; अर्थात्, ध्रुव का भाव अनन्त... अनन्त आनन्दमय है। इसलिए ऐसे अनन्त... अनन्त आनन्दस्वरूप की दृष्टि कर! पर्यायदृष्टि छोड़! रागदृष्टि छोड़! व्यवहारदृष्टि छोड़! निमित्तदृष्टि छोड़! और ऐसे स्वभाव की दृष्टि करके उसके परिणति कर, जो सुमुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री का घर–निवासगृह है।

इस प्रकार मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के लिये निवासगृह रख; अर्थात्, तू पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये परिणति कर; इतना कर बापू! इसके सिवाय व्यवहार ईर्यासमिति का विकल्प उठता है, वह बन्ध का कारण है। हाँ, मोक्षमार्ग में बीच में वह आता अवश्य है परन्तु वह विकल्प, मुक्ति का कारण नहीं हैं। अद्‌भुत बात है!

## कलश ८४ पर प्रवचन

दिगम्बर मुनियों के कथन तो देखो! केवली का पेट (हृदय) स्पष्ट कर दिया है। दिगम्बर सन्तों ने वीतरागमार्ग को स्पष्ट कर दिया है। देखो न! यह है तो व्यवहारचारित्र का अधिकार है, तथापि इसमें निश्चयचारित्र की बात की है। तो कहते हैं कि व्यवहारचारित्र कब कहलाता है? जब निश्चयसमितिरूप आनन्द की परिणति हो तो व्यवहारचारित्र कहलाता है। यह सिद्ध करने के लिये यहाँ निश्चयचारित्र की बात करते हैं, वरना अकेले व्यवहार को तो व्यवहाराभास कहते हैं।

अहा! निश्चयसमिति कहने से आनन्दादि पूर्ण शुद्ध अनन्त गुणों की शुद्धपरिणति समझना। अरे! सम्यग्दर्शन होते ही जितने गुण हैं, वे सब आँशिक व्यक्त होते हैं और यह निश्चयसम्यग्दर्शन ही यथार्थ सम्यग्दर्शन है; जबकि व्यवहारसम्यग्दर्शन यथार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है, आरोपित है। यहाँ कहते हैं कि पूर्ण अनन्त गुणों के पिण्ड प्रभु आत्मा को जहाँ दृष्टि ने स्वीकार किया, ज्ञान की वर्तमान पर्याय ने पूर्ण निज परमात्मा का आदर किया, अर्थात् उसके सन्मुख हुई, वहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन होते ही जितने अनन्त–अनन्त गुण हैं, उन प्रत्येक का निर्मल अंश व्यक्त–प्रगट होता है और उसे समकित कहते हैं। अब, यहाँ चारित्र की बात है कि जो आनन्दमूर्ति आत्मा में चरता–रमता है, जो नित्यानन्द भोजी है; अर्थात्, जिसे आनन्दरूपी अमृत का भोजन होता है, वह मुनि है। अहा! मुनि तो नित्य अतीन्द्रिय आनन्द के भोजी / अनुभवी हैं किन्तु राग के भोजी नहीं, क्योंकि राग दुःखरूप है। हाँ, पर्याय में व्यवहार–राग है – ऐसा वे जानते हैं; तथापि वह दुःखरूप है। यह बात तो समयसार के बन्ध अधिकार के मङ्गलाचरण के पहले कलश में आती है कि नित्यानन्द भोजी...।

www.vitragvani.com



**प्रश्न** – नित्यानन्द भोजी कहकर क्या कहना चाहते हैं ?

**उत्तर** – नित्यानन्द भोजी; अर्थात्, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभवी-भोग करनेवाला और उसे समकिती कहते हैं और आनन्द, शान्ति आदि शक्ति की अत्यधिक विशेष व्यक्तता के अनुभवी को मुनि कहते हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो आनन्द आदि जितने अनन्त गुण हैं, उतने समस्त गुणों का अंश पर्याय में प्रगट / व्यक्त होता है, उसे जो अनुभव करता है, उसका नाम सम्यग्दृष्टि है; जबकि आनन्दादि अनन्त गुण की विशेष दशा प्रगट हो, उसका नाम चारित्र है और जो उस सहित होते हैं, वे मुनि हैं। बापू! मुनि; अर्थात्, कोई मात्र नग्न होकर घूमे, वह नहीं तथा पञ्च महाव्रत के विकल्प का भी जिनके ठिकाना न हो, वे भी कोई मुनि नहीं हैं।

**यदि जीव, निश्चयरूप समिति को उत्पन्न करे तो वह मुक्ति को प्राप्त करता है – मोक्षरूप होता है....**

देखो, निश्चयरूप समिति को उत्पन्न करता है – ऐसा कहकर पर्याय की बात हुई है। वस्तु तो पूर्ण समितिस्वरूप है ही, परन्तु अब यदि अन्तर्मुख होकर अन्तर में जितने गुण हैं, उन सबको शक्तिपने में से पर्याय में व्यक्त प्रगटदशारूप करे तो वह वीतरागपरिणतिमय निश्चयसमिति है और ऐसी निश्चयसमिति उत्पन्न करे तो मुक्ति को-मोक्ष को प्राप्त होता है। देखो, निश्चयसमितिवाला मोक्ष को प्राप्त होता है परन्तु जिसे बीच में व्यवहार ईर्यासमिति आदि आती है, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। हाँ; व्यवहारसमिति बीच में आती है-होती है; इसलिए वह जाननेयोग्य है, आदरने योग्य नहीं।

**प्रश्न** – ज्ञानी, पाप को भी जानता है ?

**उत्तर** – हाँ पाप को भी जानता है, पुण्य-पाप दोनों को जानता है। अरे! पुण्य-पाप ही नहीं, वह तो किसी भी परपदार्थ को भी जानता है। क्या वह वस्तु नहीं है ? क्या व्यवहारनय का विषय नहीं है ? है, इसलिए देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि परपदार्थ भी जाननेयोग्य है न! परन्तु वे जाननेयोग्य हैं, आदरनेयोग्य नहीं।

अहा! व्यवहारनय है न ? हाँ; तो व्यवहारनय विषयी है; इसलिए उसका विषय कि है या नहीं है। जैसे, निश्चयनय विषयी है और उसका विषय भी है; उसी प्रकार व्यवहारनय विषयी है और उसका विषय भी है। क्या उसका विषय नहीं है ? है। रागादि, व्यवहारनय का विषय है परन्तु

वह आश्रय करने योग्य नहीं है, धर्मस्वरूप नहीं है। समयसार गाथा १२ की टीका में आता है कि यदि तू जैनमत को प्रवर्ताना चाहता है तो व्यवहारनय और निश्चयनय को मत छोड़ो; अर्थात्, व्यवहारनय है ही नहीं – ऐसा मत मानो क्योंकि यदि व्यवहारनय नहीं है तो पर्याय भी नहीं है और इसलिए मोक्षमार्ग भी नहीं है। अरे! मोक्षमार्ग स्वयं व्यवहारनय का विषय है; इसलिए व्यवहारनय हो ही नहीं तो मोक्षमार्ग भी नहीं रहेगा।

**प्रश्न –** भिन्न साधन-साध्य का क्या अर्थ है?

**उत्तर –** वह भिन्न साधन, व्यवहारसाधन है परन्तु निश्चयसाधन नहीं है तथा अपना निश्चयसाधन स्वयं करे, तब राग की मन्दता पर व्यवहारसाधन का आरोप किया जाता है – ऐसी बात है। देखो न! यही बात तो यहाँ कहते हैं। अहा! बात चलती है व्यवहार ईर्यासमिति की, तथापि उसमें निश्चयसमिति की बात करते हैं तथा इस निश्चयसमिति की बात में व्यवहारसमिति की बात को रखते भी नहीं है। कहते हैं कि निश्चय ईर्यासमिति का अर्थ यह है कि पूर्ण स्वरूप ध्रुव चैतन्य को देखकर परिणमन करना। देखकर चलने का विकल्प व्यवहार ईर्यासमिति है, जबकि चलने की क्रिया जड़ की है; इसलिए वह व्यवहारसमिति भी नहीं है, व्यवहारसमिति तो, शुभविकल्प, शुभराग उत्पन्न होता है, वह है। बस! वह व्यवहारसमिति है।

अहा! यहाँ अभी चलने की क्रिया की बात नहीं है क्योंकि वह तो व्यवहारसमिति ही नहीं है। वह तो जड़ की पर्याय है परन्तु गमन के समय अशुभभाव नहीं होता और शुभ होता है, उसे व्यवहार ईर्यासमिति कहते हैं। वह व्यवहार ईर्यासमिति किसे होती है? जिसे आनन्द के परिणमनरूप निश्चयसमिति होती है, उसे व्यवहारसमिति होती है। देखो! ऐसी शर्त है।

भगवान होने का मार्ग ऐसा महँगा है। यद्यपि है तो सरल, परन्तु इसकी समझ और ख्याल में नहीं है कि वस्तु क्या है? इसलिए कठिन लगता है। अरे! अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का माहात्म्य ही नहीं आता; उसे तो राग की मन्दता और बाह्य की प्रवृत्ति का ही माहात्म्य आता है परन्तु यहाँ कहते हैं कि महा-प्रभुमय आत्मवस्तु अनन्त गुण का साहब है कि जिसमें अनन्त केवलज्ञान और आनन्द विद्यमान है – ऐसी वस्तु की अन्दर शुद्धपरिणति करनेवाला मुक्ति को प्राप्त करता है।

**....परन्तु समिति के नाश से ( अभाव से ), अरे रे! वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता, किन्तु संसाररूपी महासागर में भटकता है।**

www.vitragvani.com



जिसे ऐसी समिति नहीं है; अर्थात्, शुद्ध आनन्द के धाम आत्मा की परिणति का जिसे अभाव है, वह बत अरे रे! खेद है कि मोक्ष प्राप्त नहीं करता। 'बत' कहकर मुनिराज खेद करते हैं कि भले ही अज्ञानी को व्यवहार ईर्यासमिति हो, परन्तु ऐसी निश्चयसमिति के भान बिना, उसकी परिणति के बिना, वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता।

अब कहते हैं कि अरे रे! वह मोक्ष तो प्राप्त नहीं करता, परन्तु संसाररूपी महासागर में भ्रमण करता है। देखो! ऐसा अस्ति-नास्ति अनेकान्त है। अहा! जिसे निर्विकल्प अभेद पूर्णानन्द प्रभु आत्मा की दृष्टि और उसके अनुभवरूप शुद्धपरिणति नहीं है और जिसे मात्र व्यवहारसमिति के राग का ही परिणाम है, वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता; अपितु घोर संसार में परिभ्रमण करता है। देखो, व्यवहारसमिति का फल संसार है – ऐसा कहते हैं, क्योंकि व्यवहारसमिति राग है न। अरे! मुनि को भी व्यवहारसमिति का फल संसार है। यद्यपि मुनि को व्यवहारसमिति का आदर नहीं है, तथापि विकल्प के काल में ऐसा भाव आये बिना रहता नहीं है और उसका फल बन्ध है, संसार है। तात्पर्य यह है कि जितना राग उत्पन्न होता है, वह सब संसार है। राग का फल, कर्म-बन्धन है, कर्म-बन्धन का फल संयोग है परन्तु उसमें कहीं स्वभाव का फल नहीं है।

अरे! तुझे अपने घर का पता नहीं है और तू पर-घर में भटकता है तो तुझे चौरासी लाख योनियों के अवतार होंगे – ऐसा कहते हैं। अहा! एक समय में पूर्ण प्रभु आत्मा को ज्ञेय करके जहाँ अभी स्व का ज्ञान नहीं हुआ, वहाँ निश्चयसमिति के भाव बिना; अर्थात्, उसकी परिणति के बिना मात्र व्यवहार ईर्यासमिति आदि तो संसार है। राग, अर्थात् व्यवहार ईर्यासमिति स्वयं संसार है और उसके फल में पुण्यबन्ध होकर देवादि गति प्राप्त होती है, वह भी संसार है।

इस प्रकार यह ८४ वाँ कलश हुआ। इसमें ईर्यासमिति की बात कही। अब, भाषासमिति की बात करेंगे। ●●

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

## गाथा ६२

**पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।**
**परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स॥ ६२॥**

**पैशून्यहास्यकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम्।**
**परित्यक्त्वा स्वपरहितं भाषासमितिर्वदतः॥ ६२॥**

**पैशून्य, कर्कश, हास्य, परनिन्दा प्रशंसा आत्म की।**
**छोड़ें कहे हितकर वचन, उसके समिति है वचन की॥ ६२॥**

**गाथार्थ :** पैशून्य (चुगली), हास्य, कर्कश भाषा, परनिन्दा और आत्मप्रशंसारूप वचन परित्यागी को, जो स्वपरहितरूप वचन बोलता है, उसे भाषासमिति होती है।

**टीका :** यहाँ भाषासमिति का स्वरूप कहा है।

चुगलखोर मनुष्य के मुँह से निकले हुए और राजा के कान तक पहुँचे हुए, किसी एक पुरुष, किसी एक कुटुम्ब अथा किसी एक ग्राम को महा विपत्ति के कारणभूत - ऐसे वचन, वह पैशून्य है। कहीं कभी किन्हीं परजनों के विकृतरूप को देखकर अथवा सुनकर हास्य नामक नोकषाय से उत्पन्न होनेवाला, किञ्चित् शुभ के साथ मिश्रित होने पर भी अशुभकर्म का कारण, पुरुष के मुँह के विकार के साथ सम्बन्धवाला, वह हास्यकर्म है। कर्म छिद्र के निकट पहुँचनेमात्र से जो दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करते हैं, वे कर्कश वचन हैं। दूसरे के विद्यमान-अविद्यमान दूषणपूर्वक के वचन (अर्थात्, पर के सच्चे तथा झूठे दोष कहनेवाले वचन) वह परनिन्दा है। अपने विद्यमान-अविद्यमान गुणों की स्तुति, वह आत्मप्रशंसा है। - यह सब अप्रशस्त वचनों के परित्यागपूर्वक स्व तथा पर को शुभ और शुद्धपरिणति के कारणभूत वचन, वह भाषासमिति है।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में २२६ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

www.vitragvani.com



(मालिनी)

**समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः**
**स्वहितनिहितचित्ताः शांतसर्वप्रचाराः।**
**स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः**
**कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः॥**

(वीरछन्द)

**हेय-ग्राह्य अर्थों को जानें, हिंसादिक पापों से दूर।**
**निज-हित निहित चित्त है जिनका, इन्द्रिय शान्त हुई सम्पूर्ण॥**
**निज-पर हितकारी वाणी है हुए सर्व संकल्प विमुक्त।**
**सर्व प्रपञ्च विहीन मुनीश्वर क्यों न पात्र बन होंगे मुक्त॥**

**श्लोकार्थ :** जिन्होंने सब (वस्तुस्वरूप) जान लिया है, जो सर्व सावद्य से दूर हैं, जिन्होंने स्वहित में चित्त को स्थापित किया है, जिन्होंने सर्व प्रचार शान्त हुआ है, जिनको भाषा स्वपर को सफल (हितरूप) है, जो सर्व सङ्कल्परहित हैं, वे विमुक्त पुरुष इस लोक में विमुक्ति का भाजन क्यों नहीं होंगे? (अर्थात्, ऐसे मुनिजन अवश्य मोक्ष के पात्र हैं।)

और (६२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) —

(अनुष्टुभ्)

**परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम्।**
**अन्तैररप्यलं जल्पैः बहिर्ज्जल्पैश्च किं पुनः॥ ८५॥**

(वीरछन्द)

**परब्रह्म के अनुष्ठान में लीन बुद्धिशाली जन को।**
**बहिर्जल्प की बात कहें क्या? अन्तर्जल्प अहो बस हो॥**

**श्लोकार्थ :** परब्रह्म के अनुष्ठान में निरत (अर्थात्, परमात्मा के आचरण में लीन) ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को–मुनिजनों को अन्तर्जल्प से (विकल्परूप अन्तरङ्ग उत्थान से) भी बस होओ, बहिर्जल्प की (भाषा बोलने की) तो बात ही क्या?

## गाथा ६२ पर प्रवचन

**यहाँ भाषासमिति का स्वरूप कहा है।**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



यह दूसरी भाषासमिति की व्याख्या है। व्यवहार भाषासमिति की; अर्थात्, जो बोलने का विकल्प उत्पन्न होता है, यह उसकी बात है। व्यवहार भाषासमिति, अर्थात् शुभभाव / विकल्प।

**चुगलखोर मनुष्य के मुँह से निकले हुए और राजा के कान तक पहुँचे हुए, किसी एक पुरुष, किसी एक कुटुम्ब अथवा किसी एक ग्राम को महा विपत्ति के कारणभूत ऐसे वचन, वह पैशून्य हैं।**

किसी एक पुरुष के, किसी एक परिवार के अथवा किसी एक गाँव के विरुद्ध, राजा अथवा किसी अन्य के पास जाकर चुगली करना, वह पैशून्य है और उसे छोड़कर बोलना, वह भाषासमिति है – यह कहना है। आत्मज्ञानी-ध्यानी धर्मात्मा मुनि को व्यवहार भाषासमिति में ऐसी भाषा नहीं होती कि यदि हमारा अनादर करोगे तो तुम्हारा सत्यानाश हो जाएगा – ऐसी वाणी नहीं होती।

**कहीं कभी किन्हीं परजनों के विकृतरूप को देखकर अथवा सुनकर हास्य नामक नोकषाय से उत्पन्न होनेवाला, किञ्चित् शुभ के साथ मिश्रित होने पर भी अशुभकर्म का कारण, पुरुष के मुँह के विकार के साथ सम्बन्धवाला, वह हास्यकर्म है।**

कभी / किसी समय; दूसरों का सहजरूप हो, उसमें सहज फेरफार देखकर; अर्थात्, किसी पुरुष ने घोड़े का, हाथी का अथवा स्त्री आदि का रूप धारण किया हो अथवा किसी स्त्री ने पुरुष इत्यादि का रूप धारण किया हो तो उसे देखकर अथवा सुनकर हास्य होता है। ऐसे हास्य को मुनिराज छोड़ देते हैं। 'अहो! तुम तो ऐसे हो' – ऐसा कहकर लोग दूसरों की मज़ाक करते हैं न! परन्तु मुनिराज ऐसी मज़ाक नहीं करते। उन्हें ऐसी भाषा ही नहीं होती। उन्हें तो विचार कर बोली जानेवाली स्व-पर के हितवाली भाषा होती है – ऐसा यहाँ कहते हैं। इस प्रकार मुनिराज, पैशून्य और मज़ाक नहीं करते; अर्थात्, किसी मनुष्य को, किसी परिवार को अथवा किसी गाँव को हानि पहुँचे – ऐसा नहीं बोलते और हास्य भी नहीं करते।

**प्रश्न** – मुनिराज कहाँ राजा के पास चुगली करने जाते हैं कि जिससे यहाँ इन्कार करते हैं?

**उत्तर** – यहाँ राजा के पास जाने की बात नहीं है; अर्थात्, मुनिराज राजा के पास चुगली करने जाते हैं और उनकी यहाँ ना करते हैं – यह बात नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि पैशून्य वचन ही नहीं बोलना – यह कहते हैं; वरना मुनिराज, राजा के पास अथवा अन्यत्र कहीं चुगली करने

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



जाते ही नहीं, क्योंकि उसका निषेध ही है। यहाँ मुनि से कहते हैं कि दूसरों को, अर्थात् किसी पुरुष को, किसी परिवार को अथवा किसी गाँव को हानि हो – वैसा नहीं बोलना तथा हास्य / मज़ाक हो – ऐसा नहीं बोलना। यद्यपि मुनिराज, चुगली करने जाएँ अथवा हास्य करें – यह प्रश्न ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो धर्मात्मा मुनिराज, पैशून्य वचन नहीं बोलते और हास्य नहीं करते – ऐसी बात है। साथ ही पैशून्य और हास्य की व्याख्या करते हैं कि पैशून्य और हास्य किसे कहना? यहाँ एक सामान्य कथन है और यह बात सबके, अर्थात् श्रावकादि के लिये भी है।

इसीलिए कहा है कि धर्मात्मा मुनिराज को भाषासमिति में पैशून्य और हास्य / मज़ाकवाले वचन नहीं हो सकते – ऐसे वचन मुनिराज बोलते ही नहीं। जिसे निश्चयसमिति हो, उसे ही ऐसी व्यवहारसमिति होती है और यहाँ उस व्यवहारसमिति का वर्णन करते हैं।

**कर्ण छिद्र के निकट पहुँचनेमात्र से जो दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करते हैं, वे कर्कश वचन हैं।**

धर्मी–धर्मात्मा मुनि, कर्कश वचन भी नहीं बोलते हैं। यहाँ भाषा बोलने की बात नहीं है क्योंकि आत्मा कहीं भाषा नहीं बोल सकता है, भाषा तो भाषा के कारण निकलती है परन्तु बोलने के भाव में कर्कश वचन बोलने का भाव / विकल्प मुनिराज को नहीं होता है – ऐसा यहाँ कहना है।

**दूसरे के विद्यमान–अविद्यमान दूषणपूर्वक के वचन ( अर्थात्, पर के सच्चे तथा झूठे दोष कहनेवाले वचन ), वह परनिन्दा है।**

दूसरों में होनेवाले तथा नहीं होनेवाले अवगुणों को कहनेवाले वचन, वह परनिन्दा है और मुनि को ऐसे वचन बोलने का भाव नहीं होता है।

**अपने विद्यमान–अविद्यमान गुणों की स्तुति, वह आत्मप्रशंसा है।**

अपने विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों की स्तुति, वह आत्मप्रशंसा है और ऐसी वाणी मुनिराज नहीं बोलते हैं।

**प्रश्न** – ऐसी वाणी मुनिराज नहीं बोलते हैं परन्तु श्रावक तो बोलते हैं न?

**उत्तर** – श्रावक भी ऐसी वाणी नहीं बोलते हैं।

**यह सब अप्रशस्त वचनों के परित्यागपूर्वक स्व तथा पर को शुभ और शुद्ध परिणति के कारणभूत वचन, वह भाषासमिति है।**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



यहाँ भाषा देखो! दोनों; अर्थात्, व्यवहार की / शुभपरिणति की और निश्चय की अर्थात्, शुद्धपरिणति की बात की है। मुनि को ऐसी भाषासमिति होती है कि जो स्वयं को भी शुभ और शुद्धपरिणति में कारणभूत होती है तथा दूसरों को भी शुभ और शुद्धपरिणति में कारणभूत होती है। भले ही शुभ और शुद्धपरिणति करता तो वह जीव स्वयं है, तथापि उसे शुद्धपरिणति होती है तथा शुभभाव होते हैं – ऐसी भाषा / वचन मुनि को होते हैं। बहुत सूक्ष्म बात की है!

अहा! भाषासमिति का निश्चय स्वरूप तो यह है कि परमसत्यस्वरूप भगवान आत्मा में एकत्व होना। निश्चयभाषासमिति तो उसे कहते हैं कि अपनी आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुणों की संख्या है, उन सभी अनन्त गुणों की वर्तमान पर्याय, अपने परम ज्ञानादि अनन्त गुणों के साथ एकत्व हो – मिलन को प्राप्त हो। आत्मा का सत् स्वरूप है, उस सत् स्वरूप आत्मवस्तु में तीन काल के समयों से भी अनन्तगुने अधिक ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि अनन्त गुण हैं – ऐसे अनन्तानन्त गुणों में एकाग्र होना, निश्चय / सत्य भाषासमिति है।

दूसरे प्रकार से कहें तो अनन्त गुण सत्रूप है, उनके सत्पने में उनकी पर्याय की एकता होना; अर्थात्, एक समय की पर्याय का अनन्त गुणों के साथ एकत्व हो, वह परम सत्य भाषासमिति है। ऐसी निश्चय भाषासमितिवाले को, सत्य बोलने का जो शुभभाव होता है, उसे व्यवहार भाषासमिति कहते हैं। भाई! तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है! ऐसी बात है! अरे, वस्तुस्थिति ही ऐसी हे। भाई! वीतराग तत्त्व ऐसा है कि लोगों को उसका ख्याल आना कठिन पड़ता है – ऐसा यह तत्त्व है।

देखो न! क्या कहते हैं? कि जो विकल्प है, वह तो स्वयं अपने को नहीं जानता तथा पर को भी नहीं जानता; वह पर; अर्थात्, आत्मा के द्वारा जाना जाता है; इसलिए ऐसे विकल्प के द्वारा निजस्वरूप में एकाग्रता नहीं हो सकती, किन्तु आत्मा की एक समय की ज्ञान की पर्याय के द्वारा, चाहे तो वह पर्याय एक समय की सम्यक्मतिज्ञान की हो या श्रुतज्ञान की हो, उसके द्वारा निजस्वरूप में एकाग्रता होती है। अहा! ऐसी एक समय की सम्यक्मति या श्रुत की पर्याय जैसी ही अन्य गुणों की अनन्त पर्यायें, वर्तमान एक समय में आत्मा में होती है; अर्थात्, एक समय की सम्यक्मति अथवा श्रुत की पर्याय से संख्या अपेक्षा अनन्तगुनी अपने अनन्त गुणों की वर्तमान पर्यायें होती है, तो भी एक समय की ज्ञान पर्याय, उससे संख्या अपेक्षा अनन्तगुनी अन्य अनन्त गुणों की पर्यायों को जानती है तथा अनन्त गुणों में एकाग्र होकर गुणों को भी जानती है। सूक्ष्म बात है भाई! वीतराग मार्ग ही ऐसा सूक्ष्म है। अरे! लोगों ने इसे स्थूल करके माना है परन्तु वह उस स्वरूप नहीं है।

www.vitragvani.com



अहा! यह निश्चय / सत्य भाषासमिति की बात है न! तो कहते हैं जिसका एक समय का सत्यपना है – ऐसी मति-श्रुतज्ञानपर्याय की, तीन काल के समयों से अनन्तगुने अनन्तानन्त गुणों के साथ एकता होने पर वीतरागता होती है, उसे भाषा की निश्चय / सत्य समिति कहा जाता है।

अहो! द्रव्य को और उसके तीन काल के समयों से अनन्तगुने अनन्तानन्त गुणों को, एक समय की ज्ञानपर्याय, उन अनन्त गुणों में एकत्व होकर जाने तो उस एक समय की ज्ञानपर्याय का सत्पना कितना विशाल! सत्‌रूप भगवान आत्मा में तीन काल के समयों से अनन्तगुने अनन्तानन्त गुण सत्‌रूप हैं। ऐसे अनन्तानन्त गुणों को एक समय की पर्याय जानती है। अहा! यह गज़ब बात है! तो उस एक समय की पर्याय को, जो कि तीन काल के समय से अनन्तगुने – ऐसे अनन्त गुणों में एकत्व होता है, उसे सत्य भाषासमिति कहा जाता है। सूक्ष्म मार्ग है!

कहते हैं कि अपने अनन्तानन्त गुण सत्‌रूप हैं, उनका स्वीकार विकल्प द्वारा नहीं हो सकता है। अरे! शुभरागरूप विकल्प हो तो भी उसमें जानने की सामर्थ्य नहीं है; जानने की सामर्थ्य तो ज्ञान की पर्याय में है। यह ज्ञान की एक पर्याय इतने विशाल सत् का स्वीकार करके / जानकर, अपने अनन्त गुणों में एकत्व को प्राप्त करे तथा इसी प्रकार समस्त अनन्त गुणों की एक समय की प्रत्येक पर्याय भी उन अनन्त गुणों में एकत्व को प्राप्त करे, उसे सत्य भाषासमिति कहते हैं और उसके; अर्थात्, ऐसी भाषासमितिवाले मुनिराज के वचन, शुभ और शुद्धपरिणति के कारणभूत होते हैं – ऐसा कहते हैं। देखो, शुभ और शुद्धपरिणति के कारणभूत होते हैं – ऐसा व्यवहार मुनि को होता है; अर्थात्, मुनि को विकल्प भी ऐसा होता है – यह कहते हैं। यहाँ अशुभभाव की बात नहीं है क्योंकि निश्चय / शुद्ध और व्यवहार / शुभपरिणति बतलाना है न!

अहा! कहते हैं कि अनन्तानन्त गुण के सत्पने में एकत्व होकर सत् की परिणतिरूप / निश्चय शुद्धपरिणतिरूप परिणमित होना, निश्चय भाषासमिति है और विकल्प के काल में कर्कशादि वचन नहीं बोलने का शुभविकल्प होता है, वह व्यवहार भाषासमिति है किन्तु जिसे ऐसी निश्चयसमिति हो, उसे ही यह व्यवहारसमिति होती है, वरना इस निश्चयसमिति के भान बिना अकेले व्यवहार-विकल्प को तो व्यवहार ही नहीं कहते।

देखो, स्वयं मुनिराज ने पहले अर्थ किया था न? भाई! यह बात पहले आ गयी है न? कि 'सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों की संहति, अर्थात् मिलन / संगठन, वह समिति है।' *( गाथा ६१ की टीका )* उसमें यह कहना चाहते हैं कि पाँचों समितियों का निश्चयस्वरूप तो इस प्रकार है कि

www.vitragvani.com



जो राग में एकत्व था, उससे अपने गुणों के साथ का संगठन टूटता था; अब गुणों में एकत्व होकर गुणों के साथ संगठन किया, वह समिति है। वर्तमान एक समय की एक पर्याय ने अथवा अनन्त पर्यायों ने परम सत्स्वरूप अनन्त गुणों के साथ एकत्व / संगठन किया, उसका नाम निश्चयसमिति है। अरे! इस निश्चयसमिति का पता भी न हो और मात्र भाषा बोलकर, अज्ञानी जीव मान लेता है कि हम समिति का पालन करते हैं और वह हमारा संवर है परन्तु उसे धूल में भी संवर अथवा समिति नहीं है।

देखो, 'स्व तथा पर को शुभ और शुद्धपरिणति के कारणभूत' – ऐसी दो बात की है न? अर्थात्, अपने को (समितिवाले को) भी शुद्धपरिणति और शुभविकल्प होता है तथा दूसरे को भी शुद्धपरिणतिसहित शुभविकल्प होता है – ऐसा वचन, समितिवाले को होता है। यद्यपि वह वचन तो जड़ है; अत: वह कहीं समिति नहीं है परन्तु मुनिराज की परिणति के शुभभाव को तथा शुद्धभाव को समिति कहा जाता है। कारणभूत, अर्थात् निमित्तभूत।

अब, टीकाकार द्वारा उद्धृत आधारभूत श्लोक का आशय यह है —

**जिन्होंने सब ( वस्तुस्वरूप ) जान लिया है....**

जिसने अपनी ज्ञानपर्याय में यह सब जान लिया है, जिसके ज्ञान में इस प्रकार सब जानने में आ गया है। अहा! एक जीवद्रव्य में तीन काल के समय से भी अनन्तगुणे गुण हैं, यह गजब बात है न! इसका अर्थ यह हुआ कि संख्या अपेक्षा तीन काल भी छोटा हो गया; अर्थात्, गुण के अनन्तवें भाग का हो गया और गुण, विशाल हो गये – ऐसा यह परम सत्स्वरूप प्रभु आत्मा है।

देखो भाई! समयसार की चौथी गाथा में आता है कि **सुदपरिचिदाणुभूदा...** अर्थात्, राग –विकल्प करना और उसे वेदन करना–भोगना – ऐसी अज्ञान की बात तो / बन्ध कथा तो अनन्त बार अनन्त; अर्थात्, सभी / समस्त जीवों ने सुनी है, उनके परिचय में आयी है और उन्हें वेदन में भी आयी है। अब, 'सभी जीवों ने राग करना और राग को भोगना – ऐसी बन्धकथा तो अनन्त बार सुनी है' – ऐसा उस गाथा में लिखा है। उसका अर्थ यह हुआ कि कितने ही निगोद के जीव, जिन्हें अभी तक कभी त्रसपना प्राप्त नहीं हुआ, उन्होंने भी बन्धकथा सुनी है – ऐसा वहाँ कहा है। दूसरे प्रकार से कहें तो निगोद के सभी जीवों में से कोई जीव तो अनन्त काल में अभी त्रस भी नहीं हुए, तथापि वहाँ चौथी गाथा में यह लिया है कि राग करना और भोगना – ऐसी अज्ञान की बात समस्त जीवों ने अनन्त बार सुनी है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

**प्रश्न** – परन्तु सभी एकेन्द्रिय जीवों ने ऐसी बात कहाँ सुनी है ?

**उत्तर** – उस एकेन्द्रिय जीव को राग का एकत्वरूप परिणमन है, वही बन्धकथा का सुनना है, उसका परिचय है और उसका अनुभव है। सूक्ष्म बात है भाई! भगवान का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

अहा! चौथी गाथा में यह आया है कि समस्त जीवों ने राग का भाव, विभाव, विकल्प; फिर भले ही वह शुभ हो या अशुभ, अनुभव किया है क्योंकि एकेन्द्रिय के भी निरन्तर शुभ और अशुभ विकल्प हुआ करते हैं। देखो, जो अभी तक त्रस भी नहीं हुए – ऐसे निगोद के अनन्त जीवों को भी क्षण में शुभभाव और क्षण में अशुभभाव, इस प्रकार निरन्तर शुभाशुभभाव होता है; इसलिए उस शुभाशुभभावरूप राग का करना – ऐसा एकेन्द्रिय जीव ने भी सुना है, यह चौथी गाथा में भगवान ने कहा है। उन जीवों को शुभाशुभभाव में राग का वेदन है। तात्पर्य यह है कि राग की कथा सुनने का फल जो राग का वेदन है, वह एकेन्द्रिय जीव को है; इसलिए उसने राग की कथा सुनी है परन्तु राग से भिन्न आत्मा की कथा नहीं सुनी है – ऐसा कहा जाता है। बापू! यह तो वीतराग का मार्ग है।

यह भाषासमिति की बात चलती है न! तो कहते हैं कि सच्ची भाषासमिति उसे कहते हैं। एक आत्मा में जो अनन्त गुण सत्‌रूप हैं...।

वे अनन्त गुण कितने हैं ?

तीन काल के समय से भी अनन्तगुणे गुण सत्‌रूप हैं। एक सैकेण्ड में असंख्य समय होते हैं – ऐसे तीन काल के समयों की संख्या से अनन्तगुणे गुण एक जीव में सत्‌रूप हैं। ऐसे अनन्त गुण के सत् को वर्तमान सत्‌रूप ज्ञान की एक समय की पर्याय स्वीकार करती है; अर्थात्, तीन काल के समय से अनन्तगुणे अनन्तानन्त गुण हैं, उन्हें एक समय की पर्याय जो कि तीन काल के समय से अनन्तवें भाग की है, वह एक समय में स्वीकार करती है। इस प्रकार तीन काल के समय से अनन्तवें भाग की एक समय की पर्याय, भगवान आत्मा के तीन काल के समय से अनन्तगुणे सत्‌रूप गुणों को स्वीकार करके उसमें एकाग्र हो, उसे निश्चय भाषासमिति कहते हैं और ऐसी निश्चयसमिति जहाँ होती है, वहाँ उत्पन्न होनेवाले विकल्प को व्यवहारसमिति कहते हैं।

**प्रश्न** – व्यवहार ईर्यासमिति, अर्थात् देखकर चलना – ऐसा नहीं ?

**उत्तर** – नहीं; चलना तो व्यवहार ईर्यासमिति में भी नहीं है। व्यवहार ईर्यासमिति में तो

www.vitragvani.com



दूसरे जीव को दु:ख न हो ऐसा मात्र विकल्प होता है। जबकि चलने की क्रिया / गति तो जड़ की है; इसलिए वह व्यवहारसमिति भी नहीं है। समिति कहीं जड़ में नहीं होती बापू! यह तो परम सत्य बातें हैं।

जो सत्‌रूप वर्तमान ज्ञान का अंश है; अर्थात्, सम्यग्ज्ञानरूप सत् है, क्योंकि यहाँ सम्यक् सत् की बात है; अत: सम्यक् सत् ऐसी एक समय की मति-श्रुत की पर्याय, अपने एक समय की अपेक्षा संख्या अपेक्षा से अनन्तगुणे सत्‌रूप गुण हैं, उनमें एकत्व हो; अर्थात्, परम सत्स्वरूप प्रभु आत्मा में एकत्व हो ओर वीतरागता प्रगट हो, उसे यहाँ सच्ची भाषासमिति कहते हैं। उस जीव को भले ही भाषा नहीं हो तो भी भाषा का फल जो भाव है, वह भाव है; इस कारण व्यवहार भाषासमिति भी है। जैसे, समस्त एकेन्द्रिय जीवों ने राग की कथा नहीं सुनी है परन्तु राग का वेदन है; इसलिए राग की कथा सुनी है – ऐसा कहा है; इसी प्रकार यहाँ भी भाषासमिति में भाषा बोलने की बात नहीं है परन्तु भाव की बात है। अहा! एक समय में भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु है, उसमें तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण हैं परन्तु तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण किसे कहते हैं? अर्थात्, वह कितनी बड़ी संख्या है? तथापि उन गुणों को तीन काल के समय से अनन्तवें भाग की एक समय की पर्याय स्वीकार करके एकाग्र होती है।

दूसरे प्रकार से कहें तो – १. तीन काल के समय हैं, उनसे एक समय की पर्याय का काल अनन्तवें भाग है। और, २. तीन काल के समय हैं, उनसे संख्या अपेक्षा अनन्तगुने गुण आत्मा में हैं; तथापि उन अनन्त गुणों को स्वीकार करके एक समय की पर्याय, उनमें एकाग्र होती है, जिसे समिति कहा जाता है। देखो, यह तो कभी सुना भी नहीं होगा कि वीतराग क्या कहते हैं? और इस मूल बात को चूककर सभी अज्ञानी ऊपर-ऊपर की बातें करते हैं।

यहाँ कहते हैं कि तीन लोक के नाथ भगवान की वाणी में निश्चय समिति इस प्रकार आयी है कि निगोद के अतिरिक्त कोई भव नहीं कर सके, ऐसे जो निगोद के अनन्त जीव हैं, उस एक-एक जीव में भी तीन काल के समय से अनन्तगुने अनन्त गुण हैं – ऐसे अनन्त गुणों में, वर्तमान सत्‌रूप पर्याय उनका स्वीकार करके अन्तर एकाग्र हो, उसे निश्चयसमिति / धर्ममय समिति / शुद्ध परिणतिरूप समिति कहा जाता है। सभी जीवों ने अनन्तानन्त भव किये हैं – ऐसा कथन तो मिथ्यात्व में अनन्तानन्त भव कराने की शक्ति है; इसलिए व्यवहार से कहा जाता है; वरना तो जितनी संसारी जीव की संख्या है, उसके अनन्तवें भाग के जीवों ने ही निगोद के

www.vitragvani.com



अतिरिक्त अनन्तानन्त भव किये हैं, दूसरे जीव तो निगोद में ही ऐसे के ऐसे ही अनादि से / सदा से पड़े हैं।

यहाँ कहा है कि **जिन्होंने समस्त वस्तुस्वरूप जान लिया है...** मुनि ने तथा समकिती ने अपनी एक समय की ज्ञानपर्याय में तीन काल के समय से अनन्तगुणे अपने अनन्तानन्त गुणों को जान लिया है। सम्यग्दृष्टि ने भी जान लिया है; अर्थात्, यह तो अभी मति-श्रुतज्ञान की / चौथे गुणस्थान की बात है। अहा! आत्मा को जाने, वहाँ सम्यग्ज्ञान होने पर साथ ही अनन्त गुण भी जानने में आ गये, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान है, सत्यज्ञान है।

अहा! सम्यग्दर्शन, अर्थात् सत्‌दर्शन, प्रशस्तदर्शन, प्रशंसनीय दर्शन। प्रशंसनीय दर्शन, अर्थात् क्या? वह प्रशंसनीय दर्शन कोई ऐसे विकल्परूप नहीं हैं कि यह देव-गुरु-धर्म सच्चे और जो भगवान कहे वह सच्चा, क्योंकि यह विकल्प तो राग है। परन्तु तीन काल के समय का अन्त नहीं, उससे भी अनन्तगुणे ऐसे अनन्त गुणों की सन्मुखतावाली पर्याय, वह प्रशंसनीय दर्शन है और वह पर्याय विकल्पवाली होती ही नहीं। अहा! तीन काल के समय का अन्त नहीं है और उससे भी अनन्तगुणे गुण!! अहो! ऐसे अनन्त गुण की सन्मुखतावाली पर्याय, विकल्पवाली होती ही नहीं।

भाई! मैं दूसरा क्या कहता हूँ, यह समझ में आता है? अनन्त गुण की सन्मुखतावाली पर्याय, विकल्पवाली होती ही नहीं, परन्तु निर्विकल्प और अनन्त सामर्थ्यवाली होती है – ऐसे अनन्त-अनन्त गुणमय परम सत् परमात्मा... प्रत्येक आत्मा स्वयं ही भगवान-परमात्मा है तो ऐसे अनन्त-अनन्त गुणमय स्वरूप प्रभु आत्मा विराजमान हैं – ऐसा जो सत् का स्वरूप है, उसके अन्तर में जो वर्तमान ज्ञानपर्याय, श्रद्धापर्याय एकाग्र होती है, वह पर्याय निर्विकल्प होकर ही एकाग्र होती है। रागवाली पर्याय अन्दर में एकाग्र नहीं हो सकती, क्योंकि राग में जानने की ताकत नहीं है।

देखो, यहाँ कलश में तो 'वह सब जानता है' – ऐसा कहा है। उसका अर्थ यह हुआ कि जानने की सामर्थ्य उसकी मति-श्रुतज्ञान की पर्याय में है। यह चौथे गुणस्थान की बात है। मुनिदशा में छठवें-सातवें गुणस्थान में स्थिरता अधिक है, जबकि चौथे गुणस्थान में स्थिरता कम है परन्तु जानने में अन्तर नहीं है। यह सूक्ष्म पड़े तो भी मार्ग ऐसा है।

यहाँ प्रभु कहते हैं कि एक समय में पर के प्रति लक्ष्य समेटकर / छोड़कर, जब पर्याय परम सत्‌स्वभाव के सन्मुख आती है, तब उस पर्याय की ताकत अनन्त हो जाती है। चौथे गुणस्थान में

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



भी मतिज्ञान की, श्रुतज्ञान की और श्रद्धा की पर्याय अनन्तगुणी ताकतवाली है क्योंकि वह पर्याय तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुणों को स्वीकार करके उसमें एकाग्र हुई है। बापू! ऐसी बातें हैं भगवान। सम्यग्दर्शन कोई लोग माने ऐसी साधारण वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन, अर्थात् सत्-दर्शन। सत् ऐसा जो भगवान आत्मा का पूर्ण स्वरूप है, उसका दर्शन। गुण सत्‌रूप है न! ध्रुवरूप है न! तो उन तीन काल के समय से अनन्तगुणे परम सत्तारूप अनन्तानन्त गुणों का दर्शन सम्यग्दर्शन है।

अहा! **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** और **सद्द्रव्यलक्षणम्** – ऐसा *( तत्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३०, २९ में )* कहा है, तो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य में से ध्रुव में जो ऐसे अनन्त गुण हैं, उन्हें उत्पाद–व्ययरूप पर्याय स्वीकार करते हैं क्योंकि स्वीकार तो पर्याय ही करती है न! जबकि ध्रुव तो जो है, वह है तथा वह उत्पाद–व्ययरूप पर्याय भी सत् है और ध्रौव्य भी सत् है – तीनों सत् हैं परन्तु उनमें से सत्‌रूप उत्पाद पर्याय कब यथार्थ सत् हुई कहलाये ? जब कि त्रिकाली अनन्त गुणों के पिण्ड प्रभु आत्मा के तीन काल के समय से भी अनन्तगुणे गुण हैं, उन सबको एक समय की पर्याय पचा गयी, तब; अर्थात्, ऐसे सम्पूर्ण तत्त्व को अन्दर प्रतीति और ज्ञान में ले लिया, तब पर्याय 'यथार्थ सत्' हुई कहलाती है और ऐसी निर्मल वीतरागी पर्याय का नाम समिति कहने में आता है कि जो पर्याय, त्रिकाली अनन्त गुणों में एकाग्र हुई है।

अब, ऐसी बात अज्ञानी ने सुनी भी नहीं हो और 'देखकर चलना समिति है' – ऐसा वह मानता है परन्तु वह रञ्चमात्र भी समिति नहीं है क्योंकि चलने की क्रिया तो जड़ की है, वह तो जड़ की उत्पाद पर्याय है, वह आत्मा का उत्पाद कहाँ है ? इसलिए देखकर चलता कौन है ? – यह सुन तो सही! हाँ, शुभविकल्प आवे कि किसी को दुःख नहीं हो – ऐसा चलूँ, परन्तु वह विकल्प / शुभराग पुण्यबन्ध का कारण है, वह शुभविकल्परूप व्यवहार किसे होता है ? जिसे ऐसी निश्चय समिति प्रगट होती है उसे।

एक बार बड़ी संख्या की बात निकलते समय तीन बड़ी संख्याएँ कही थीं —

(१) एक शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवें हजार पाँच सौ चौरासी रोग है।
*( भगवती आराधना, गाथा १०६०, ६१ )*

(२) आकाश में एक सूर्य और एक चन्द्र के साथ छियासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे हैं, और

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



(३) ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को यहाँ की एक श्वाँस जितने काल के फल में सातवें नरक का ग्यारह लाख छप्पन हजार नौ सौ पिचहत्तर पल्योपम का दुःख प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आयु सात सौ वर्ष थी। उसमें उसने जो बाह्य कल्पना का सुख भोगा, उसके फल में उसे सातवें नरक की तैंतीस सागर की आयुष्य प्राप्त हुई, उसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ सात सौ वर्ष में जो श्वाँस हुए, उनमें से एक श्वाँस जितने काल के फल में सातवें नरक का ग्यारह लाख छप्पन हजार नौ सौ पिचहत्तर पल्योपम का दुःख प्राप्त हुआ। जब आत्मा में तीन काल के समय से भी अनन्तगुने गुण हैं तथा उन अनन्त गुणों की एक समय की पर्याय भी तीन काल के समय से अनन्तगुनी है।

देखो, यह क्या कहा ? कि एक जीवद्रव्य के एक गुण की वर्तमान में एक पर्याय होती है तो अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें हैं, वे कितनी पर्यायें हैं ? तीन काल के समय से भी उन पर्यायों की संख्या अनन्तगुनी हैं; अर्थात्, जितने गुण उतनी पर्याय हैं। देखो, आत्मा इतना महा-महात्मा प्रभु है; फिर भी अरे रे ! आत्मा को इसका पता नहीं है। इसने आत्मा को या तो एक अंश में या पुण्य की क्रिया में या देह में अथवा उसकी क्रिया में मान लिया है परन्तु यह तो मिथ्या भ्रम है।

अहा ! वस्तुस्वभाव अमाप है ! परन्तु जिसे स्वभाव कहते हैं, उसका माप क्या ? स्वभाव, अर्थात् स्वरूप; अपना सत्व। सत्‌रूप प्रभु आत्मा का जो सत्व है, उसकी जो शक्ति है, उसके जो गुण हैं, उनका क्या कहना ? वह तो अमाप, अपार है। उन गुणों की सामर्थ्यता तो अमाप है ही, उन गुणों की संख्या भी अमाप है। आकाश के जितने अमाप प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुने एक जीव में गुण हैं। अलोक... अलोक... अलोक – ऐसा आकाश चला ही जाता है। क्या उसका कहीं अन्त है ? नहीं। तो उसके प्रदेशों की संख्या है, उससे भी एक जीव में अनन्तगुने गुण हैं। देखो, यह तो भगवान सर्वज्ञ ने जिसे आत्मा कहा है, वह आत्मा ऐसा अनन्त गुणमय है – यह कहते हैं। यद्यपि सर्वज्ञ के सिवाय दूसरे सभी अज्ञानी भी आत्मा.... आत्मा तो करते हैं परन्तु सर्वज्ञ द्वारा कथित – ऐसे आत्मा के अतिरिक्त दूसरे सब जैसा कहते हैं, वह आत्मा सत्य नहीं है।

आत्मा की बात वेदान्त में भी आती है कि आत्मा निरञ्जन-निराकार है और उसका निर्विकल्प अनुभव होता है परन्तु वह सब मात्र बात है क्योंकि उसे आत्मा कौन है ? इसका पता कहाँ है ? विक्रम संवत् १९६४ में बड़ोदरा में देखे हुए सती अनुसूया नाटक में भी आता था कि बेटा ! सुद्धोऽसि – शुद्ध हो; बुद्धोऽसि-बुद्ध हो – ज्ञान के पिण्ड हो; उदासीनोसि-उदासीन हो,

तेरी वस्तु पर से भिन्न उदास है; निर्विकल्पोसि–निर्विकल्प हो, वस्तु अभेद निर्विकल्प है। देखो, पहले ऐसे संस्कार बालक को नाटक में भी दिये जाते थे, जबकि अभी तो बड़ी उम्रवालों को भी इतना पता नहीं है कि शुद्ध–बुद्ध किसे कहते हैं ?

श्रीमद् में भी आता है कि —

**शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम।**
**दूजा कहिये कितना, कर विचार तो पाम॥** *(आतमसिद्धि गाथा ११७)*

इस गाथा में बहुत सरस कहा है। शुद्ध, अर्थात् परमात्मस्वरूप आत्मा, अनन्त गुणों से शुद्ध है; बुद्ध, अर्थात् आत्मा अकेला ज्ञान का पिण्ड है; चैतन्यघन, अर्थात् आत्मा असंख्य प्रदेशी है। देखो, चेतन्यघन कहकर उसमें असंख्य प्रदेश की बात की है क्योंकि यह असंख्य प्रदेश की बात सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। स्वयं ज्योति, अर्थात् आत्मा जलहल चैतन्यज्योति है कि जो स्वयं अपने से जानती है, उसे किसी पर भी अपेक्षा नहीं है और सुखधाम, अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का क्षेत्र / धाम है। प्रभु! तुझमें तो अतीन्द्रिय आनन्द पकता है – ऐसा तू है परन्तु राग और कर्म का उदय पके – ऐसा तू नहीं है। ऐसा वीतराग का मार्ग है बापू! अहा, जिसकी गम्भीरता का पार नहीं हो – ऐसी भगवान की वाणी खिरने पर उसे गणधर और इन्द्र भी स्वीकार करते हैं कि सत्य है प्रभु! **त्वमेव सच्चं;** अर्थात्, जिस प्रकार आप आत्मा के अनन्त गुणों को सत्स्वरूप कहते हो, इस प्रकार ही है प्रभु! इस प्रकार अन्तर स्वभाव के स्वीकारपूर्वक वे कहते हैं। इस तरह जिसे गणधर स्वीकार करे, जिसे एकावतारी इन्द्र भी सुनने आवे तथा स्वीकार करे, वह सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ की बात कैसी होगी बापू? यह धर्म कथा अलौकिक है भाई!

यहाँ कहा है कि सम्यग्दृष्टि की ओर मुनि की वर्तमान पर्याय में सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञात हो गया है; अर्थात्, जिसने एक आत्मा को जाना, उसने अन्य समस्त आत्माओं तथा दूसरे सभी द्रव्य ऐसे हैं – यह जान लिया। कारण कि एक परमाणु में भी, जितनी संख्या में आत्मा में गुण कहे हैं, उतनी संख्या में गुण हैं; मात्र अन्तर इतना है कि उसमें यह चैतन्य, आनन्द आदि गुण नहीं हैं; बल्कि जड़ के गुण हैं; अर्थात्, आत्मा में चैतन्य, आनन्द आदि गुण हैं, जबकि परमाणु में जड़ गुण है; तथापि वह जड़ गुण भी आत्मा के गुणों की संख्या जितनी ही हैं। जीव के जितने; अर्थात्, आकाश के प्रदेशों से अनन्तगुने गुण हैं, उतने ही गुण परमाणु में हैं, संख्या में अन्तर नहीं है। तात्पर्य यह है कि एक परमाणु में भी आकाश के प्रदेशों की संख्या से अनन्तगुने गुण हैं क्योंकि गुणों को रहने के लिए

www.vitragvani.com



विशाल क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। देखो, परमाणु का क्षेत्र तो मात्र एक प्रदेशी है और आकाश का क्षेत्र इससे अनन्तगुना विशाल है, तथापि उस आकाश के प्रदेशों की संख्या से एक परमाणु में अनन्तगुने गुण हैं – ऐसा वस्तुस्वरूप जिसने अन्तर में / सम्यग्ज्ञान में जान लिया है, उसे मुनि और समकिती / धर्मी कहते हैं।

**जो सर्व सावद्य से दूर हैं...** जो पाप के परिणाम से अन्दर में दूर हो गया है।

**जिन्होंने स्वहित में चित्त को स्थापित किया है....** चित्त; अर्थात्, यहाँ मन की बात नहीं है परन्तु चित्त को; अर्थात्, ज्ञान की पर्याय को जिन्होंने परमात्मा के / आत्मा के अनन्त-अनन्त स्वभाव / गुणों में स्थापित किया है। जिसे अन्दर में ऐसे अनन्त गुणों के सत्पने का भासन हो गया है, जिसकी पर्याय में गुणों का सत्पना भासित हुआ है, उसे समकिती कहते हैं और आगे बढ़कर स्थिरता करनेवाले को साधु कहते हैं।

**जिनके सर्व प्रचार शान्त हुआ है....** यहाँ कहते हैं कि मैंने पाँच लाख रुपये दिये हैं, तुम्हारे नाम की यह पाठशाला बनायी है, तुम्हारे नाम से पाठशाला चला रहे हैं तथा तुम्हारी उपस्थिति में यह बनायी है; इसलिए एक घण्टे तो तुम्हें यहाँ ध्यान देना होगा, इतना काम तुम्हें करना होगा – इस प्रकार ऐसा काम मुनि के माथे पर नहीं होता। यही बात प्रवचनसार गाथा २२१ में भी है। वही – वट; अर्थात्, इतने लड़के पढ़ते हैं, उनका ध्यान रखना पड़ेगा – ऐसा हिसाब-किताब मुनि को नहीं होता। अरे! मात्र ध्यान रखने की जिम्मेदारी ही मुनि को नहीं होती। काम सिर पर लेना कहने से तुम्हें यहाँ तो एक घण्टे उपदेश देना पड़ेगा – इत्यादि ऐसा कोई भी काम मुनि के सिर पर नहीं होता। वे अकषायभाव में स्थिर हैं न! इसलिए उन्हें ऐसा विकल्प उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है।

**जिनकी भाषा स्व-पर को सफल (हितरूप) है...** मुनि, अपने को भी शुद्ध और शुभपरिणति हो ऐसा कहते हैं तथा पर को भी स्व का आश्रय लेकर शुद्धपना कैसे प्रगट हो? और उस भूमिका में पर के आश्रय से कैसा शुभविकल्प होता है? – यह बतलानेवाला उपदेश देते हैं। स्व का आश्रय करावे – ऐसा मुनि की भाषा में आता है; इसलिए वह स्व-पर को हितरूप है – ऐसा कहते हैं। वीतरागी सन्तों का उपदेश ऐसा होता है कि जिससे वीतरागता; अर्थात्, स्व का आश्रय प्रगट होता है – ऐसी वाणी उनकी भाषा में आती है; अर्थात्, दूसरों को उपदेश में भी ऐसा कहते हैं। अहा! मुनिराज के भाव में शुद्धपरिणति है; इसलिए दूसरों को भी स्व के आश्रय से

शुद्धपरिणति हो – ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पर के आश्रय से राग होता है और स्व के आश्रय से निर्मलता होती है – ऐसा बतलानेवाला मुनिराज का उपदेश है।

**जो सर्व सङ्कल्परहित हैं....** जहाँ सङ्कल्प-विकल्प नहीं हैं; अर्थात्, जहाँ राग की उत्पत्ति नहीं है – ऐसे अकेले आनन्दकन्द वीतरागीबिम्ब प्रभु आत्मा में / अन्तर में मुनि एकत्व हुए हैं, इस कारण वहाँ वीतरागता ही उत्पन्न हुई है; अतः अब सङ्कल्प उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है। अरे! व्यवहारसमिति का विकल्प भी उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है – ऐसा कहते हैं। कदाचित् विकल्प, विकल्प के कारण प्रगट होता है परन्तु निश्चयपरिणति में उसे प्रगट होने का अवकाश नहीं है। अहा! मुनिधर्म और सम्यक् धर्म; अर्थात्, जहाँ वीतरागता प्रसिद्धपने को प्राप्त हुई है। निज स्वरूप तो वीतराग है ही परन्तु यह तो पर्याय में वीतरागपने की प्रसिद्धि हुई / वीतरागता प्रसिद्धि को प्राप्त हुई, वह मुनिधर्म और सम्यक् धर्म है – ऐसा कहते हैं। इसलिए अब उन्हें सङ्कल्प उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है। तात्पर्य यह है कि वीतरागभाव में व्यवहार समिति का विकल्प उत्पन्न हो – ऐसा नहीं होता। कदाचित् पर के लक्ष्य से विकल्प हो तो भी वह मुनि अथवा धर्मी के स्वरूप में नहीं है। भाई! अद्भुत बात है।

**वे विमुक्त पुरुष इस लोक में विमुक्ति का भाजन क्यों नहीं होंगे ?....** जिन्हें अन्तर स्वरूप में लीनता / निर्विकल्पता / वीतरागता जम गयी है; अर्थात्, जिन्हें ऐसी मुनिदशा हो गयी है, अरे! वे पूर्णानन्दरूप मुक्तिदशा का भाजन क्यों नहीं होंगे ? अरे! उन्हें मुक्ति क्यों नहीं होगी ? उन्हें मुक्ति होती ही है। अल्प काल में ही वे सिद्धपद को प्राप्त करनेवाले हैं। जैसे, दूज उगी तो वह पूर्णिमा होनेवाली ही है। दूज, पूर्णिमा हुए बिना रहेगी ही नहीं; इसी प्रकार जिसने पूर्णानन्द भगवान आत्मा को सम्यक् सत् की; अर्थात्, सम्यग्दर्शन की पर्याय में स्वीकार करके अनुभव किया है तथा उसी में स्थिर हुआ है; अर्थात्, जहाँ सङ्कल्प का अवकाश नहीं है – ऐसी मुनिदशा हुई है उसे, अरे! मुक्ति क्यों नहीं होगी ? अर्थात्, उसकी मुक्ति होगी ही। अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करके वह मुक्ति प्राप्त करेगा – ऐसा कहते हैं। मुक्ति के कारणरूप बीज प्रगट हुए हैं; इसलिए उस बीज के फलरूप में उन्हें केवलज्ञान और मुक्ति होगी... होगी... होगी... और होगी ही।

देखो! साधकदशा में जो व्यवहारसमिति का विकल्प आता है, उसकी यहाँ बात ही नहीं की है। यहाँ तो निश्चयसमिति की ही बात की है क्योंकि व्यवहार / विकल्प आता है, वह जाननेयोग्य है किन्तु आदर करने योग्य नहीं है। अरे! ऐसी बात जगत् को समझ में आना बहुत कठिन है।

www.vitragvani.com



**...( अर्थात्, ऐसे मुनिजन अवश्य मोक्ष के पात्र हैं। )**

जिसे निश्चयसमिति हो, वही मुनि है और उनकी पर्याय में मोक्ष आयेगा – ऐसे वे पात्र हैं। वे मुनिदशारूपी पात्र / थालीसहित बैठे हैं तो उसमें मुक्तिरूपी लड्डू आयेंगे ही। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने ऐसी दशा प्रगट की है, उन्हें पूर्णमुक्तिरूपी लड्डू आएँगे ही। यहाँ तो ऐसी बात है भगवान्! यह तो धर्म की बात है।

अहा! दृष्टि की अपेक्षा से तो साधक, मुक्त ही है परन्तु अभी पूर्ण; अर्थात्, सर्व अपेक्षा से मुक्ति नहीं हुई है; इसलिए 'उसकी मुक्ति होगी' – ऐसा कहा है। उसे अभी अल्प राग है, वह साधकदशा में है; तथापि साधक है, उसकी मुक्ति होगी ही – ऐसा कहते हैं। अहा! मुनि भी साधक है और उन्हें दृष्टि, ज्ञान स्थिरता – ये तीनों हैं, तथापि अभी स्थिरता अल्प है; इसलिए तीन कषाय चौकड़ी के अभाव जितनी मुक्ति है परन्तु सर्वथा मुक्ति नहीं है, तथापि प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाओं में यह कहा है कि वे तो मोक्षस्वरूप ही हो गये हैं। अहा! आयुष्य होने पर भी तेरहवें गुणस्थान में जिन्हें केवलज्ञान हुआ है, उन केवली को 'जीवन्मुक्त' कहते हैं। उसी प्रकार जिन्हें अन्दर में मुनि के योग्य रमणता है, वह तो मुक्ति के भाजन हैं ही और उस भाजन में अब मुक्ति आयेगी... आयेगी... आयेगी... और आयेगी ही – ऐसा यहाँ कहते हैं।

अब, देखो न! 'भाजन क्यों नहीं होंगे' – ऐसा कहा है। अहो! एक-एक कलश क्या अद्भुत है।

## कलश ८५ पर प्रवचन

**परब्रह्म के अनुष्ठान में निरत अर्थात् परमात्मा के आचरण में लीन – ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को–मुनिजनों को, अन्तर्जल्प से; अर्थात्, विकल्परूप अन्तरङ्ग उत्थान से भी बस होओ; बहिर्जल्प की ( भाषा बोलने की ) तो बात ही क्या ?**

कहते हैं कि मुनि धर्मात्मा तो परमब्रह्मस्वरूप अपने परमात्मा के आचरण में लीन है। परमब्रह्मस्वरूप, परमानन्दस्वरूप ध्रुव ऐसे निज भगवान परमात्मा के आचरण में मुनिराज निरत अर्थात् लीन हैं। देखो, यहाँ व्यवहारसमिति के विकल्प की बात नहीं की है। अरे! लोगों को परम सत्य की बात ही सुनने को नहीं मिलती; इसलिए फिर लोग बाहर के धमाधम में मिथ्यात्व का पोषण करने में चले जाते हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



अहा! वस्तुतः तो सम्यक्सत् का पोषण होना चाहिए और वह तो जहाँ पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा का स्वीकार होकर उसकी प्रतीति और अनुभव हुआ हो, वहाँ होता है; अर्थात्, जब शुद्धपरिणति प्रगट होती है, तब शुद्धता का पोषण होता है परन्तु अज्ञानी को भान भी नहीं है कि शुद्धता क्या है और वह किस प्रकार प्रगट होती है? अज्ञानी तो यह व्यवहार... व्यवहार करो, उससे कल्याण हो जाएगा – ऐसा मानता है परन्तु भाई! अनादि से यह व्यवहार कर-करके उसमें तू पड़ा है। अरे! निगोद में भी शुभभाव होते हैं। कोई जीव अनादि से निगोद में हो तो भी उसे निरन्तर शुभ... अशुभ... शुभ... अशुभ.... ऐसे भाव हुआ करते हैं। शास्त्र में कथन है कि एकेन्द्रिय जीव भी एक क्षण में साता बाँधकर दूसरे समय असाता बाँधता है। जब साता बाँधता है तब शुभपरिणाम होते हैं और असाता बाँधे तब अशुभपरिणाम होते हैं; इस प्रकार एकेन्द्रिय अभव्य जीव को भी ऐसे दोनों शुभाशुभभाव होते हैं। इस कारण यह शुभभाव नयी चीज कहाँ है?

देखो! अज्ञानी को भी विकारधारा-कर्मधारा तो अनादि से चलती ही है; इसलिए यह शुभभाव कोई नयी चीज नहीं है परन्तु इससे रहित आत्मा के अन्तरभान में शुद्धता प्रगट होना ही अपूर्व और नवीन है तथा तभी से धर्म की; अर्थात्, वीतरागता की शुरुआत होती है।

यहाँ कहते हैं कि अनन्त गुणों के पिण्ड पूर्णानन्द प्रभु आत्मा के अनुष्ठान में / आचरण में मुनिराज लीन हैं। देखो, आत्मा का अनुष्ठान, किन्तु विकल्प का अनुष्ठान नहीं। ऐसे चतुर पुरुषों को... देखो, चतुर पुरुष उन्हें कहते हैं, जो अपने अनन्त गुण के पिण्ड में; अर्थात्, अन्तरस्वरूप में रमते हैं। राग में रमनेवाले पुरुष चतुर नहीं हैं परन्तु आत्माराम में अर्थात् निजपद में रमते हैं, वे चतुर पुरुष हैं और उन्हें; अर्थात्, मुनिजनों को, अन्तर्जल्प से भी वश होओ; अर्थात्, अन्तर में शुभविकल्प का / वृत्ति का उत्थान होता है, उससे भी वश होओ। इसका, अर्थात् उस विकल्प का क्या काम है? **अलम्,** अर्थात् अन्तर के विकल्प से सन्तों को वश होओ और तब तो फिर बहिर्जल्प की बात ही क्या है? जहाँ अन्तर का विकल्प भी उत्पन्न नहीं होता, वहाँ भाषा बोलने की तो बात ही क्या करना? – ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भाषा आदि का विकल्प तो होता ही नहीं।

अहा! जो आनन्दघन आत्मा के अनुष्ठान में लीन है, उसे अन्तर और बाह्य विकल्प से क्या प्रयोजन है? विकल्प से क्या लाभ है? अर्थात्, उसे विकल्प होता ही नहीं। इसे मुनिपना कहते हैं... इसे मोक्षमार्ग कहते हैं और उसे अल्प काल में अवश्य मोक्ष में जानेवाला कहते हैं। ●●

## गाथा ६३

**कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।**
**दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी॥ ६३॥**

**कृतकारितानुमोदनरहितं तथा प्रासुकं प्रशस्तं च।**
**दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः॥ ६३॥**

**आहार प्रासुक शुद्ध लें परदत्त कृत कारित बिना।**
**करते नहिं अनुमोदना मुनि, समिति जिनके एषणा॥ ६३॥**

**गाथार्थ :** पर द्वारा दिया गया, कृत-कारित-अनुमोदनरहित, प्रासुक और प्रशस्त[१] भोजन करनेरूप जो सम्यक् आहारग्रहण, वह एषणासमिति है।

**टीका :** यहाँ एषणासमिति का स्वरूप कहा है, वह इस प्रकार है —

मन, वचन और काय में से प्रत्येक को कृत, कारित और अनुमोदनासहित मानकर उनके नौ भेद होते हैं; उनसे संयुक्त अन्न नव कोटिरूप से विशुद्ध नहीं है - ऐसा (शास्त्र में) कहा है; अतिप्रशस्त; अर्थात्, मनोहर (अन्न); हरितकायमय सूक्ष्म प्राणियों के सञ्चार को अगोचर वह प्रासुक (अन्न) - ऐसा (शास्त्र में) कहा है। प्रतिग्रह[२] उच्च स्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, योगशुद्धि (मन-वचन-काया की शुद्धि) और भिक्षाशुद्धि - इस नवविध पुण्य से (नवधा भक्ति से) आदर करके, श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा - इन (दाता के) सात गुणोंसहित शुद्ध योग्य-आचारवाले उपासक द्वारा दिया गया (नव कोटिरूप से शुद्ध, प्रशस्त और प्रासुक) भोजन जो परम तपोधन लेते हैं, उन्हें एषणासमिति होती है। ऐसा व्यवहारसमिति क्रम है।

---

१- प्रशस्त = अच्छा; शास्त्र में प्रशंसित; जो व्यवहार से प्रमादादि का या रोगादि का निमित्त न हो ऐसा।

२- प्रतिग्रह = ''आहारजल शुद्ध है; तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ, (ठहरिये, ठहरिये, ठहरिये)'' ऐसा कहकर आहारग्रहण की प्रार्थना करना; कृपा करने के लिये प्रार्थना; आदरसन्मान। [इस प्रकार प्रतिग्रह किया जाने पर, यदि मुनि कृपा करके ठहर जाएँ तो दाता के सात गुणों से युक्त श्रावक उन्हें अपने घर में ले जाकर, उच्च-आसन पर विराजमान करके, पाँव धोकर, पूजन करता है और प्रणाम करता है, फिर मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक शुद्ध भिक्षा देता है।]

www.vitragvani.com



अब, निश्चय से ऐसा है कि जीव को परमार्थ से अशन नहीं है; छह प्रकार का अशन व्यवहार से संसारियों को ही होता है।

नोकर्म-आहार, कर्म-आहार, लेप-आहार, कवल-आहार, ओज-आहार और मन-आहार - ऐसा क्रमशः छह प्रकार आहार जानना।

अशुद्ध जीवों के विभावधर्म सम्बन्ध में व्यवहारनय का यह (अवतरण की हुई गाथा में) उदाहरण है।

अब, (श्री प्रवचनसार की २२७ वीं गाथा द्वारा) निश्चय का उदाहरण कहा जाता है। वह इस प्रकार —

जिसका आत्मा एषणासमिति है (अर्थात्, जो अनशनस्वभावी आत्मा को जानने के कारण स्वभाव से आहार की इच्छारहित है), उसे वह भी तप है; (और) उसे प्राप्त करने के लिये (अनशनस्वभावी आत्मा को परिपूर्णरूप से प्राप्त करने के लिये) प्रयत्न करनेवाले ऐसे जो श्रमण, उन्हें अन्य (स्वरूप से भिन्न ऐसी) भिक्षा, एषणा बिना (एषणादोष रहित) होती है; इसलिए वे श्रमण अनाहारी हैं।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में २२५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(मालिनी)

**यमनियमनितान्तः शांतबाह्यान्तरात्मा**
**परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकंपी।**
**विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं**
**दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥**

(वीरछन्द)

**नियम और यम में तत्पर जो देहादिक से चित्त निवृत।**
**सब जीवों में अनुकम्पायुत और समाधिदशा को प्राप्त॥**
**आगमोक्त आहार अल्प है, निद्रा को है किया परास्त।**
**पाया है अध्यात्म सार दहते क्लेशों का जाल समस्त॥**

www.vitragvani.com



**श्लोकार्थ :** जिसने अध्यात्म के सार का निश्चय किया है; जो अत्यन्त यमनियमसहित है; जिसका आत्मा, बाहर से और भीतर से शान्त हुआ है; जिसे समाधि परिणमित हुई है; जिसे सर्व जीवों के प्रति अनुकम्पा है; जो विहित (शास्त्राज्ञा के अनुसार) हित-मित[१] भोजन करनेवाला है; जिसे निद्रा का नाश किया है, वह (मुनि) क्लेशजाल को समूल जला देता है।

और ६३ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(शालिनी)

**भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं**
**ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम्।**
**तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी**
**प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवारांगनां सः॥ ८६॥**

(हरिगीतिका)

**भक्त ने हस्ताग्र से भोजन दिया वह ग्रहण कर।**
**पूर्ण ज्ञान प्रकाशमय निज आत्मा का ध्यान कर॥**
**इस तरह सम्यक् तपों को तपे जो सत् तपस्वी।**
**मुक्तिमय वारांगना दैदीप्यमान लहे सही॥**

**श्लोकार्थ :** भक्त के हस्ताग्र से (हाथ की उङ्गलियों से) दिया गया भोजन लेकर, पूर्ण ज्ञानप्रकाशवाले आत्मा का ध्यान करके, इस प्रकार सत् तप को (सम्यक् तप को) तपकर, वह सत् तपस्वी (सच्चा तपस्वी) दैदीप्यमान मुक्तिवाराङ्गना को (मुक्तिरूपी स्त्री को) प्राप्त करता है।

## गाथा ६३ पर प्रवचन

**यहाँ एषणासमिति का स्वरूप कहा है, वह इस प्रकार —**

मुनिपने में आहार ग्रहण के विकल्प की वृत्ति है, वह व्यवहार एषणासमिति है और वह समिति कैसी होती है? उसका यहाँ वर्णन है। निश्चय एषणासमिति तो अपनी आत्मा को शोधकर निर्मलपरिणतिरूप परिणमन करना है। तीन काल के समय से भी अनन्तगुने, अनन्त गुणों का जो एकरूप स्वरूप, उसे अन्दर में शोधकर प्रतीति में और अनुभव में लेना, उसे निश्चय एषणासमिति कहते हैं। अपने परम आनन्द आदि अनन्त गुणों के पिण्ड प्रभु आत्मा को शोधकर, उसमें एकाग्र

१- हित-मित = हितकर और उचित मात्रा में।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



होना, वह निर्विकल्प निश्चय एषणासमिति है। वह निश्चय एषणासमिति ही वास्तविक एषणासमिति है। यह निश्चय एषणासमिति की बात यहाँ प्रवचनसार की गाथा का आधार देकर करेंगे। उससे पूर्व निश्चय एषणासमितिवाले को व्यवहार एषणासमिति कैसी होती है ? उसका यह वर्णन है —

**मन, वचन और काय में से प्रत्येक को कृत, कारित और अनुमोदनासहित मानकर उनके नौ भेद होते हैं; उनसे संयुक्त अन्न, नव कोटिरूप से विशुद्ध नहीं है – ऐसा ( शास्त्र में ) कहा है;**

मन, वचन और काया तथा कृत, कारित और अनुमोदन – इस नव कोटि से संयुक्त अन्न, मुनिराज को नहीं हो सकता, क्योंकि उनसे सहित; अर्थात्, मन, वचन, काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदित अन्न, नव कोटि से शुद्ध नहीं है।

विक्रम संवत् १९६८ में एक गुलाबचन्दजी नामक स्थानकवासी साधु बोटाद में मिले थे। वे कहते थे कि साधु के लिए उपाश्रय बनाया हो और उस उपाश्रय का यदि साधु प्रयोग करे तो वह साधु नहीं है। मुझे तो अभी नवदीक्षित होने की / दीक्षा ग्रहण करने की भावना थी, तब ऐसा सुना। मन में लगा की यह क्या ? हीराचन्दजी महाराज जैसे साधु, उपाश्रय का प्रयोग करते हैं और यह गुलाबचन्दजी कहते हैं कि साधु के लिए बनाये हुए उपाश्रय का प्रयोग करनेवाला साधु नहीं है – यह क्या है ? फिर मन में यह प्रश्न चलने लगा; इसलिए दीक्षा लेने के पूर्व विक्रम संवत् १९६९ के वैसाख महीने में हमारे (सम्प्रदाय के) गुरु हीराचन्दजी महाराज से राणपुर में मैंने यह उपाश्रय सम्बन्धी प्रश्न सीधा किया – 'साधु / मुनि के लिए किसी ने उपाश्रय / मकान बनाया हो, बनवाया हो, उस उपाश्रय का साधु प्रयोग करे तो उसमें मन-वचन-काय और कृत -कारित-अनुमोदना इन नव कोटि में से कौन सी कोटि टूटती है ?' मेरा यह प्रश्न था क्योंकि मैं तो हर समय सूक्ष्मता से काम लेता था न!

हमारे (सम्प्रदाय) के गुरु हीराचन्दजी महाराज को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु किसे कहना ? – उसकी श्रद्धा का भी पता नहीं था तथा उन्हें तत्त्व का भी बोध / पता नहीं था; अर्थात्, उनकी दृष्टि मिथ्या थी, तथापि वे भद्रपरिणामी थे। उनकी उम्र ९८ वर्ष थी और ४६ वर्ष से दीक्षित थे, फिर भी उनके लिए बनाया, बनवाया अथवा अनुमोदित आहार या पानी की एक बूँद भी नहीं लेते थे। आहार और पानी एकदम निर्दोष लेते थे परन्तु साधु के लिए बनाये हुए उपाश्रय का प्रयोग करते थे। वे आहार के लिए जाते और आम का रस होता तो पूछते – क्या अन्दर गुठली है ? उत्तर मिलता

www.vitragvani.com



–महाराज पता नहीं। तो कहते उसे छूना नहीं। फिर रस नहीं लेते, छोड़ देते, क्योंकि गुठली एकेन्द्रिय जीव है। ऐसे निर्दोष आहार–पानी वे लेते थे। उनके आहार–पानी लेने की क्रिया ऐसी कड़क थी कि स्वयं आहार–पानी बनाते नहीं थे, बनवाते नहीं थे और अनुमोदना भी नहीं करते थे। उन्होंने मुझे जबाव दिया कि इसमें नव कोटि कहाँ टूटती है ? जैसे कि तुम्हारे भाई खुशालभाई ने मकान बनाया हो और तुम प्रयोग करो तो उसमें कृत–कारित अनुमोदन कहाँ आया ? – ऐसा उन्होंने कहा, किन्तु मुझे यह बात अन्दर में जँची नहीं, क्योंकि यदि साधु उस मकान का प्रयोग करता है तो वह अनुमोदन ही है।

किसी ने साधु के लिए बनाये हुए आहार–पानी को, भले ही वह साधु ने बनाया नहीं है, बनवाया नहीं है तथा यह ठीक है – ऐसा अनुमोदन भी नहीं किया है; तथापि उस आहार–पानी को साधु लेता है तो उसका अर्थ ही यह है कि साधु को उसकी अनुमोदना है; इसलिए उसकी नव कोटि में से अनुमोदना कोटि टूट जाती है। साधु बाह्य से अनुमोदना नहीं करते, इसलिए उनके अपने लिए बनाये हुए आहार–पानी चल सकते हैं – ऐसा नहीं है क्योंकि वे उस आहार–पानी का प्रयोग करते हैं, वह अनुमोदना ही है। किसी ने मुनि के लिए आहार आदि बनवाया हो, उसे मुनि ने किया नहीं है, कराया नहीं है परन्तु अपने लिए आहार अथवा पानी बना होने पर भी उसे मात्र ग्रहण करता है तो वह भी अनुमोदना है; इस कारण नव कोटि में से तीन मन–वचन–काया से अनुमोदना कोटि टूट जाती है। इसलिए अपने लिए बनाये हुए आहार–पानी, साधु ग्रहण कर लें – यह मार्ग नहीं है।

देखो, यहाँ भगवान क्या कहते हैं ? कहते हैं कि स्वयं मुनि ने आहार बनाया हो, बनवाया हो अथवा अपने लिए बनाया हुआ आहार लेता हो तो वह आहार नव कोटि से शुद्ध नहीं है और उस आहार को लेनेवाला निर्दोष आहार ग्रहण नहीं करता। दूसरे प्रकार से कहें तो यदि अपने लिए बनाया हुआ आहार, मुनि प्रयोग करे तो अनुमोदना कोटि टूट जाती है और एक कोटि टूटने पर सभी कोटि टूट जाती हैं। इसलिए अपने लिए बनाया हुआ आहार, नव कोटि के त्यागवाला आहार है ही नहीं। भाई ! यह तो वीतराग मार्ग है; यह किसी का पक्ष नहीं है !!

हम से एक विद्वान् क्षुल्लक ने प्रश्न किया – 'विकारी परिणमन को पुद्गलपरिणाम क्यों कहा ?' हमने उनसे कहा – 'विकारी परिणाम में जिसका अवलम्बन है, उसके वे परिणाम हैं – ऐसा मानकर उन्हें पुद्गल के परिणाम कहा है किन्तु आत्मा के नहीं।' फिर उन्होंने यह प्रश्न किया

– 'यदि आपकी ओर से उद्देशिक आहार का स्पष्टीकरण हो जाए तो बहुत शान्ति हो?' उनके कहने का आशय यह था कि 'गृहस्थ लोग साधुओं के लिए आहारादि बनावें और उन्हें साधु ग्रहण करे तो उसमें आपत्ति नहीं है न? क्योंकि वह तो गृहस्थों द्वारा बनाया हुआ है न!' हमने कहा – कहो – 'उद्देशीक आहार का क्या स्पष्टीकरण करें?' साधु और क्षुल्लक के लिए गृहस्थ आहार बनाते हैं, चौका लगाते हैं और उसे साधु-क्षुल्लक लेते हैं; इसलिए हम किसी को भाव क्षुल्लक तो मानते ही नहीं, परन्तु अभी कोई द्रव्यलिङ्गी क्षुल्लक है – ऐसा भी नहीं मानते। बापू! मार्ग ऐसा है। अरे, भगवान उपस्थित नहीं हैं; इसलिए उद्देशिक आहार की व्याख्या अन्य प्रकार से नहीं हो सकती है। भगवान का विरह है; इसलिए दूसरा मार्ग है – ऐसा नहीं है।

अहा! कोई भी साधु अथवा क्षुल्लक अपने लिए बनाया हुआ आहार लेता है तो वह जैनदर्शन के व्यवहार से एकदम विरुद्ध है, वह द्रव्यलिङ्गी साधु भी नहीं है और द्रव्यलिङ्गी क्षुल्लक भी नहीं है। बापू! मार्ग यह है। यह व्यक्तिगत बात नहीं है परन्तु यह तो वीतरागमार्ग है। यह मार्ग कोई दूसरे प्रकार से माननेवाले बहुत अधिक हों, इसलिए अन्य प्रकार हो जाए – ऐसा नहीं है तथा पालन नहीं किया जा सके, इसलिए मार्ग दूसरा करना – ऐसा भी नहीं हो सकता। बापू! मार्ग तो ऐसा है भगवान! अरे भाई! व्यवहार क्षुल्लकपना पालन किया जा सके, अभी तो ऐसी स्थिति भी नहीं है। अहा! अभी जिसका व्यवहार सच्चा है, उसका निश्चय झूठा भी हो सकता है और सच्चा भी हो सकता है परन्तु भाई! जिसका व्यवहार ही झूठा है, उसका निश्चय तो झूठा है ही – ऐसी वस्तु की स्थिति है।

यहाँ कहते हैं कि मुनि अपने लिए बनाया हुआ आहार लें तो उनकी नव कोटि विशुद्ध नहीं है, उनका आहार शुद्ध ही नहीं है – ऐसी बात है। मार्ग तो ऐसा है बापू! अरे ऊँचा नाम धराकर नीची दशा के कार्य करना तो जगत् में महापाप है, उसकी अपेक्षा तो हमारी दशा ऊँची नहीं है बापू! हम तो अविरत सम्यग्दृष्टि हैं – ऐसा मानना अथवा कहना, जिससे प्रतिज्ञा भङ्ग का पाप नहीं लगता है परन्तु बड़ा नाम धराकर, यदि प्रतिज्ञा तोड़ दे तो महापाप है। जैसे कि उपवास का नाम धारण करके एक कण भी खाये तो महापाप है, वह महापापी है और 'मुझे उपवास नहीं है, मैं एक बार खाता हूँ' – इस प्रकार एकासन करके एक बार खाये तो प्रतिज्ञा भङ्ग के बिना अकेला शुभभाव है।

**अतिप्रशस्त, अर्थात् मनोहर (अन्न); हरितकायमय सूक्ष्म प्राणियों के संचार को अगोचर, वह प्रासुक (अन्न) – ऐसा (शास्त्र में) कहा है। प्रतिग्रह, उच्च, स्थान,**

www.vitragvani.com



**पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, योगशुद्धि ( मन-वचन-काया की शुद्धि ) और भिक्षाशुद्धि – इस नवविध पुण्य से ( नवधा भक्ति से ) आदर करके, श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ....**

१. नव कोटि से शुद्ध-निर्दोष होना चाहिए,

२. रोग और प्रमाद आदि में निमित्त नहीं हो – ऐसा होना चाहिए, और

३. एकेन्द्रिय जीव का भी अन्दर में सञ्चार न हो – ऐसा होना चाहिए।

– ऐसे आहार को शास्त्र में प्रासुक आहार कहा है और मुनि को ऐसा आहार होता है, यह व्यवहार एषणासमिति की बात है।

निश्चय एषणासमिति में तो प्रभु आत्मा अनाहारी है; अर्थात्, अन्दर में अनाहारीमय परिणमन है, वह निश्चय एषणासमिति है और यह बात बाद में आयेगी। प्रवचनसार की २२७ वीं गाथा का आधार देकर उसमें कहेंगे कि निश्चय एषणासमिति किसे कहते हैं? यहाँ तो व्यवहार एषणासमिति की बात चलती है कि जिसे निश्चय एषणासमिति होती है, उसे ऐसी व्यवहार एषणासमिति होती है परन्तु जिसे अभी व्यवहार एषणासमिति का भी ठिकाना नहीं है, उसे निश्चय एषणासमिति नहीं होती।

१. **प्रतिग्रह –** साधु आहार के लिए आवें, तब गृहस्थ यह कहे कि आहार-पानी शुद्ध है – इत्यादि (पडगाहन करना)।

२. **उच्च स्थान –** गृहस्थ, मुनिराज को उच्च स्थान देता है।

३. **पाद प्रक्षालन –** गृहस्थ, मुनि के पैर धोता है।

४. **अर्चन –** गृहस्थ, मुनि की पूजा करता है।

५. **प्रणाम –** गृहस्थ, मुनि को प्रणाम करता है।

६-८. **योग शुद्धि ( मन-वचन-काय शुद्धि ) –** दातार के मन-वचन-काय में शुद्धि होती है।

९. **भिक्षाशुद्धि** – आहार, शुद्ध होता है।

**इस नव विध पुण्य से ( नवधा भक्ति से ) आदर करके –** ऐसी नवधा भक्ति से जो

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

आदर करता है, उससे मुनिराज आहार लेते हैं परन्तु यदि ऐसी नवधा भक्ति न हो तो मुनिराज आहार नहीं लेते।

अब, आहार लेनेवाले मुनिराज इस प्रकार आहार लेते हैं तो आहार देनेवाला कैसा होता है? – यह बात कहते हैं; अर्थात्, अब दातार के गुणों की बात करते हैं।

१. **श्रद्धा** – दातार में श्रद्धा गुण होना चाहिए, देनेवाले को यथार्थ श्रद्धा होनी चाहिए, तभी वह दातार, आहार देने के लिए पात्र कहलाता है।

२. **शक्ति** – दातार में शक्ति होती है।

३. **अलुब्धता** – दातार में लुब्धता नहीं होती।

४. **भक्ति** – दातार भक्तिवाला होता है।

५. **ज्ञान** – दातार को देनेयोग्य वस्तु का भलीभाँति ज्ञान होता है; अर्थात्, कैसी वस्तु दी जाती है? किस प्रकार दी जाती है? इत्यादि का ज्ञान, दातार को होता है।

६. **दया** – देनेवाले को दया का भाव होता है, और

७. **क्षमा** – दातार को क्षमा होती है।

बापू! बहुत कठिन काम है। अभी तो यह सब गुण लुप्त हो गये हैं।

**प्रश्न** – मुनिराज को कैसे पता पड़ता है कि दातार के पास श्रद्धा, भक्ति इत्यादि गुण हैं या नहीं?

**उत्तर** – पता पड़ता है, पता क्यों नहीं पड़ेगा?

**प्रश्न** – किन्तु यह श्रद्धा आदि गुण तो दातार के पास हैं न?

**उत्तर** – भले ही वह गुण दातार के पास हों, तथापि उन्हें पता तो पड़ता है न कि यह दातार कौन है? उन्हें सब ख्याल आता है। ख्याल नहीं आता – ऐसा होता है? नहीं होता।

**इन (दाता के) सात गुणोंसहित शुद्ध योग्य-आचारवाले उपासक द्वारा दिया गया (नव कोटिरूप से शुद्ध, प्रशस्त और प्रासुक) भोजन, जो परम तपोधन लेते हैं, उन्हें एषणासमिति होती है। ऐसा व्यवहारसमिति का क्रम है।**

देखो! ऐसी व्यवहारसमिति की बातें। अहा! जिसे अन्दर में वास्तविक समिति; अर्थात्,

www.vitragvani.com



तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागदशा प्रगट हुई है, उसे व्यवहार एषणासमिति का ऐसा विकल्प होता है परन्तु इससे विरुद्ध विकल्प; अर्थात्, अपने लिए बनाये हुए आहार आदि के ग्रहण का विकल्प नहीं होता और यदि अपने लिए बनाये हुए आहारादि के ग्रहण का विकल्प हो तो उसे व्यवहार एषणासमिति रहती ही नहीं तथा इस कारण सच्ची निश्चयसमिति भी नहीं रहती – ऐसी बात है। बापू! इस बात को श्रद्धा और ज्ञान में तो लेना पड़ेगा न कि ऐसा मार्ग है! परन्तु मार्ग प्राप्त नहीं हुआ हो, इसलिए दूसरी रीति से मानना – ऐसा नहीं हो सकता।

परन्तु मुनि क्या करें? क्योंकि अभी तो ऐसा काल है और यदि औद्देशिक आहार न लें तो शरीर किस प्रकार टिकेगा? इसलिए गृहस्थ को आहार बना देना चाहिए और मुनि को वह अपने लिए बनाया हुआ आहार ले लेना चाहिए – ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु भाई! ऐसा मार्ग किसने कहा है? यदि पालन नहीं किया जा सके तो उसे किसने कहा था कि तू मुनिपना ले? तथा समझे बिना मुनिपना ले लिया है तो यह तो अज्ञान है। अपनी दशा; अर्थात्, परिणाम की योग्यता और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का निमित्तपना कैसा है? – उसका ज्ञान नहीं है और मुनिपना ले लिया है तो यह तो मिथ्यात्वभाव है।

यहाँ यह कहा है कि – **( १ )** तपोधन, निर्दोष वस्तु हो तो लें परन्तु आहार आदि बनावें नहीं, बनवावें नहीं और बनानेवाले की अनुमोदना भी नहीं करें। तात्पर्य यह है कि वे अपने लिये बनाया हुआ कुछ लें ही नहीं और वह भी **( २ )** प्रमाद और रोगादि का कारण न हो – ऐसा आहार हो तथा वह भी **( ३ )** ऐसी भक्तिवाला और दातार के गुणोंवाला दातार आहार दे तो मुनि लें; इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि अज्ञानी अभक्ति से आहार दे और मुनि लें – ऐसा नहीं होता। भले ही आहार देनेवाला मिथ्यादृष्टि हो, तथापि व्यवहार से तो उसकी श्रद्धा आदि यथार्थ हों – ऐसा यहाँ कहते हैं।

**अब, निश्चय से ऐसा है कि जीव को परमार्थ से अशन नहीं है; छह प्रकार का अशन, व्यवहार से संसारियों को ही होता है।**

आत्मा में आहार लेनेरूप कार्य है ही नहीं तथा निर्दोष आहार लेने का विकल्प भी वस्तु / आत्मा में नहीं है। इसी प्रकार कहा है कि —

**नोकर्म-आहार, कर्म-आहार, लेप-आहार, कवल-आहार, ओज-आहार और मन-आहार – ऐसा क्रमशः छह प्रकार आहार जानना।**

www.vitragvani.com



१. नोकर्म–आहार, अर्थात् साधारण रजकण आते हैं, वे।

२. कर्म–आहार, अर्थात् आठ कर्म के रजकण आते हैं, वे।

३. लेप–आहार, अर्थात् शरीर पर लगाया जाता है, वह।

४. कवल–आहार, अर्थात् ग्रासरूप आहार।

५. ओज–आहार, अर्थात् पक्षी अपने बच्चे को पोसते हैं, वह।

६. मन–आहार, अर्थात् आहार की इच्छा होती है, वह। देव को मन आहार होता है।

**अशुद्ध जीवों के विभावधर्म सम्बन्ध में व्यवहारनय का ( अवतरण की हुई गाथा में ) उदाहरण है।**

इस प्रकार व्यवहार से अशुद्ध जीव की व्याख्या की गयी।

**अब, ( श्री प्रवचनसार की २२७ वीं गाथा द्वारा ) निश्चय का उदाहरण कहा जाता है, वह इस प्रकार —**

देखो, अब निश्चयसमिति की बात करते हैं।

**जिसका आत्मा एषणारहित है ( अर्थात्, जो अनशनस्वभावी आत्मा को जानने के कारण, स्वभाव से आहार की इच्छारहित है ), उसे वह भी तप है; ....**

आहार तो पुद्गल–जड़ है, इसलिए आहार लेना अथवा छोड़ना, वह जड़ की क्रिया है; वह क्रिया आत्मा में नहीं है। भगवान आत्मा, आहार की इच्छा और आहाररहित है; अर्थात्, आत्मा, अशनस्वभावी नहीं; अपितु अनशनस्वभावी है और ऐसा अशनरहित स्वभाववाला आत्मा जानता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि, आत्मा को ऐसा जानता है कि आत्मा, आहार ले अथवा छोड़े – यह आत्मा में नहीं है तथा उस धर्मी के स्वभावी में आहार की इच्छा है ही नहीं। समकिती को आहार की इच्छारूप अस्थिरता उत्पन्न होती है वह व्यवहार से है। निश्चय से आहार की इच्छा नहीं होती।

समयसार में निर्जरा अधिकार (गाथा २१०–२१३) में चार बोल आते हैं न! कि आहार, पानी, पुण्य और पाप – इन चार की इच्छा समकिती को है ही नहीं। वह तो पूर्णानन्द प्रभु आत्मा में अन्दर एकाग्रता करने की भावनावाला जीव है; इसलिए उसे यह आहारादि की इच्छा होती ही

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



नहीं। कदाचित् अस्थिरतारूप इच्छा होती है तो भी धर्मी तो उसका ज्ञाता है परन्तु उसे इच्छा की इच्छा नहीं है तथा इच्छा द्वारा आहार लेता हूँ – ऐसी वृत्ति भी नहीं है क्योंकि पर को ले कौन और छोड़े कौन ? इसलिए ज्ञानी को ऐसी वृत्ति ही नहीं है।

यहाँ कहा है कि मुनि को अन्दर में भान है कि मेरी वस्तु अशनरहित है। आहार, पानी तथा उसकी इच्छा से रहित मेरा आत्मा है, उसे ही तप कहा जाता है तथा यही उनका साधकपना और मुनिपना है।

अहा! भगवान आत्मा, आहार और आहार की इच्छा से रहित है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की चौदहवीं गाथा में आता है कि शरीर, आहार और रागसहित आत्मा नहीं है, तथापि आत्मा को उनसे सहित मानना, मिथ्यात्व है। वही बात यहाँ कहते हैं कि अशन / आहार के भाववाला और अशनवाला भगवान आत्मा है ही नहीं। आनन्दधाम भगवान आत्मा तो अनाहारी है, शुद्ध अखण्ड आनन्दादि गुणों का पिण्ड प्रभु है, वीतरागी भाव के परिणमनवाला आत्मा है; इस कारण उस आत्मा को आहार लेना अथवा आहार की इच्छा होना – यह कुछ है ही नहीं। वह दोनों से; अर्थात्, आहार और उसकी इच्छा से रहित है और ऐसा इच्छा और अशन के रजकणों से, कि जो रजकण भोजन, पान, खाद्य और स्वाद्य हैं, उनसे भगवान आत्मा, रहित है तथा अनन्त-अनन्त गुण के परिणमनसहित है – ऐसा अन्दर में परिणमन होने को ही यहाँ तप कहते हैं।

पञ्च कल्याणक में तप कल्याणक आता है न! वह तप, अर्थात् मुनिपना। इसलिए तप कल्याणक, अर्थात् मुनिपने का कल्याणक। भगवान आत्मा, **असणं पाणं खाईयं और साइयं** – इन चार वस्तुओं से तथा इन चार की इच्छा से भी रहित है – ऐसा परिणमन होने को यहाँ तप कल्याणक कहा जाता है। दूसरे प्रकार से कहें तो अपना स्वरूप अनन्त आनन्दादि से सहित है और राग तथा अशन से रहित है – ऐसा अन्दर में परिणमन हो, उसे ही यहाँ मुनिपना, अर्थात् तप कहा जाता है। जो वन्दनीय है, वह यह मुनिपने की अन्तरदशा है, जो कि अशन के परमाणु तथा इच्छा से रहित है। क्या आहार लेने की वृत्ति वन्दनीय है ? नहीं, क्योंकि वह तो राग है तथा क्या आहार भी वन्दनीय है ? नहीं, क्योंकि वह तो अजीव है; अत: यहाँ कहा है कि इच्छा और आहाररहित अपनी वस्तु को जिसने दृष्टि, ज्ञान और रमणता में लिया है, उसकी वह दृष्टि, ज्ञान और रमणता ही उसका तप है तथा वही उसका मुनिपना है। भाई, अद्भुत बात है!

मुनि, आहार नहीं ले सकते, क्योंकि आहार तो जड़ है तथा आहार की इच्छा होना, वह राग

www.vitragvani.com



है; वह राग, व्यवहार एषणासमिति है परन्तु वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, आत्मा का गुण नहीं है; इसलिए वह आहार और आहार लेने का विकल्प मुनिपना नहीं है। मुनिपना तो अन्दर में आहार और उसकी इच्छारहित जो वस्तु है, उसका अनुभव होना, वह है। तात्पर्य यह है कि आत्मा, शान्ति –आनन्द आदि अनन्त गुण स्वभावसहित है और राग तथा अशनरहित है – ऐसा अन्तर अनुभव होने को यहाँ तप और मुनिपना कहा गया है परन्तु व्यवहार एषणासमिति भी मुनिपना नहीं है। हाँ, मुनि की भूमिका में वह होता है परन्तु वह मुनिपना नहीं है क्योंकि वह व्यवहार एषणासमिति दोषरूप है – ऐसी बात है। देखो, निर्दोष आहार ग्रहण करने की वृत्ति भी राग है, दोष है किन्तु मुनिपना नहीं है – ऐसा कहते हैं। ऐसा मार्ग है बापू! यह तो वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा गया तत्त्व है, जो अन्यत्र कहीं नहीं है; सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग में यह बात नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि तीन काल के समय से अनन्तगुने गुण एक जीव के हैं और उन अनन्त गुणों का धारक एक द्रव्य है; अर्थात्, गुण आधेय हैं और द्रव्य आधार है। अत: जिसने ऐसे भगवान आत्मा को दृष्टि में लिया, उसने अशन और अशन की इच्छारहित आत्मवस्तु है – ऐसा जाना और आत्मा, अशन व उसकी इच्छारहित है – ऐसा जाननेवाले की निरवाँक्षकदशा को तप और मुनिपना कहा जाता है।

अरे, यदि भगवान की बात का एक भाव भी यथार्थ समझे तो सभी भाव यथार्थ समझ में आ सकते हैं परन्तु जिसके एक भी भाव समझने का ठिकाना न हो, उसका कोई ठिकाना नहीं है। उसे दूसरे भावों का ज्ञान है – यह कहना भी यथार्थ नहीं है। यदि एक भाव को इस प्रकार जानें; अर्थात्, वस्तु का स्वरूप ऐसा है – यह जानें तो सब बातें उसके ख्याल में आ जाती हैं। क्योंकि **एकम् जानहि सर्वम् जानहि।** (एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः। **प्रवचनसार, गाथा ४९**) अर्थात्, एक भाव को जाने तो सभी भाव को जाने – ऐसा जयसेनाचार्य की टीका में आता है। भाई! द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय का कोई भी एक भाव जैसा है, वैसा यथार्थ जाने तो उसे सभी भावों का क्या स्वरूप है? – यह ख्याल में आ जाता है।

अहा! दूसरों को / अज्ञानियों को भी यह तो श्रद्धा में लेना चाहिए कि मुनिपना कैसा होता है? कैसा मुनिपना श्रद्धा में लेना चाहिए? जैसा यहाँ कहा है, वैसा। दूसरे प्रकार से कहें तो नव तत्त्व की श्रद्धा में संवर–निर्जरा की श्रद्धा भी आती है न! उस उत्कृष्ट संवर–निर्जरा के धारक मुनिराज हैं; इसलिए कहते हैं कि नव तत्त्व की श्रद्धा करनी हो तो मुनि कैसे होते हैं? यह भी जानना

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



चाहिए और वे यहाँ कहे हैं – ऐसे हों तो सच्चे मुनि हैं। समकिती उनकी श्रद्धा करता है किन्तु वे गड़बड़वाले हों तो श्रद्धा नहीं करता। समकिती को नव तत्त्व की श्रद्धा तो यथार्थ चाहिए न! अतः जो संवर-निर्जरा तत्त्ववाले मुनि हैं, वे ऐसे होते हैं; अर्थात्, उन्हें अशन और अशन की इच्छारहित तत्त्व के अनुभव में स्थिरता होती है और वह यथार्थ मुनिपना है – ऐसी श्रद्धा समकिती करता है। देखो, समकिती को नौ तत्त्व की श्रद्धा में संवर-निर्जरा की; अर्थात्, ऐसे मुनिपने की श्रद्धा होती है परन्तु इससे जो विरुद्ध हो तो वह मुनि नहीं है और इस कारण समकिती को उनकी श्रद्धा नहीं होती – ऐसा मार्ग है।

शास्त्र तो यह कहते हैं कि **जिसे वस्त्र का एक धागा भी ग्रहण करने की वृत्ति है और जो वस्त्र रखता है, उन्हें जो मुनि मानता है; मुनि है, ऐसा मनवाता है** और इस मान्यता को भली जानता **है, वे सब निगोद में जाएँगे। अष्टपाहुड़ में सूत्रपाहुड़ गाथा १८ में यह कहा है। यह श्रीकुन्दकुन्ददेव का वचन है।**

**प्रश्न –** एकमात्र धागा रखने की वृत्ति हो, उसे मुनि मानें तो निगोद में जाएगा?

**उत्तर –** हाँ, निगोद में जाएगा, क्योंकि ऐसी मान्यतावाला मिथ्यादृष्टि है और उसकी नव तत्त्व में भूल है।

१. मुनि को वस्त्र-पात्र का संयोग होता ही नहीं; इसलिए मुनि को कितने अजीव का संयोग होता है, इस बात का उसे पता नहीं है।

२. मुनि हो, उसे वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की वृत्ति ही नहीं होती; इसलिए मुनि को ऐसा आस्रव नहीं होता, इस बात का भी उसे पता नहीं है।

३. मुनि को इतना उग्र संवर होता है कि उन्हें आहार-पानी के अतिरिक्त, वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की वृत्ति का आस्रव होता ही नहीं – ऐसी संवरदशा उन्हें होती है परन्तु इस बात का भी उसे पता नहीं है।

इस प्रकार अजीवतत्त्व में भूल, आस्रवतत्त्व में भूल और संवरतत्त्व में भी भूल है। इस कारण उसकी नव तत्त्वों में भूल है – ऐसी सूक्ष्म बात है। **जाइ णिग्गोदम् –** यह बिना कारण कह दिया है – ऐसा नहीं है; अर्थात्, ककड़ी के चोर को फाँसी की सजा जैसा नहीं है। वह तो बड़ा अपराधी है; उसे मूल में भूल है, उसे नव तत्त्व की भूल है।

www.vitragvani.com



अहा! जिसे मुनिपने की संवरदशा होती है, उसे वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की वृत्ति हो ही नहीं सकती और जिसे वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की वृत्ति हो, उसे मुनिदशा की संवरदशा हो ही नहीं सकती; तथापि जो वस्त्र-पात्रवाले को मुनि मानता है, उसकी तो प्रत्येक तत्त्व में भूल है - ऐसी बात है। भाई। क्या यह किसी का कल्पना किया हुआ मार्ग है? नहीं; यह तो वीतराग का मार्ग है। वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है।

**प्रश्न** – क्या दिगम्बर साधु, पात्र रखते हैं?

**उत्तर** – दिगम्बर साधु, पात्र रखते ही नहीं हैं। वे पानी का कमण्डलु रखते हैं, तथापि भी वह पानी पीने के लिए नहीं है। पीने के लिए वह पानी हो ही नहीं सकता, वह तो शौच के लिए है और वह भी अपवादिक उपकरण है - ऐसा प्रवचनसार, गाथा २२५ में कहा गया है। अरे! गुरु की वाणी सुनना भी अपवादिक उपकरण है —

**प्रश्न** – वाणी सुनना भी अपवादिक उपकरण?

**उत्तर** – हाँ, क्योंकि वाणी परवस्तु है न! तथा सुनना वह भी विकल्प है, जबकि उत्सर्गमार्ग में वह विकल्प भी नहीं है और यहाँ उस उत्सर्गमार्ग की बात की जा रही है। बापू! कठोर बात है, वीतरागमार्ग ऐसा है।

अहा! भगवान आत्मा ऐसा है कि इच्छा, अर्थात् आस्रवतत्त्व और अशन, अर्थात् अजीवतत्त्वरहित है। उसके गुणों की परिणति, वह मुनि की भूमिका के योग्य जितनी अपेक्षित हो, उतनी शुद्ध होती है, उसे मुनिपना और तप कहा जाता है और इस प्रकार मुनि को मानना यथार्थ है। इसके अतिरिक्त इससे विपरीत माननेवाले की दृष्टि विपरीत है। **शास्त्र में आता है कि साधु को कुसाधु मानें तो मिथ्यात्व और कुसाधु को साधु माने तो मिथ्यात्व।** क्या कहा? क्या यह मात्र बात ही है? नहीं; इसमें गहरा मर्म है।

यहाँ कहा है कि जिसका भगवान आत्मा, एषणारहित है; अर्थात्, अनशनस्वभावी आत्मा को जानता होने से 'आहार लेना' वैसी वृत्ति और आहार - इन दोनों से रहित जो आत्मा है, उसे तप है।

**(और) उसे प्राप्त करने के लिए (अनशनस्वभावी आत्मा को परिपूर्णरूप से प्राप्त करने के लिए) प्रयत्न करनेवाले ऐसे जो श्रमण, उन्हें अन्य (स्वरूप से भिन्न ऐसी) भिक्षा / एषणा बिना (एषणा दोषरहित) होती है; इसलिए वे श्रमण अनाहारी हैं।**

www.vitragvani.com



मेरा तत्त्व आहार और इच्छारहित ही है – ऐसा स्वीकार तो धर्मी को भी दृष्टि और ज्ञान में वर्तता है परन्तु अब तदुपरान्त उसे पूर्णरूप से प्राप्त करने के लिए अन्दर आनन्दस्वरूप आत्मा में प्रयत्न करनेवाले श्रमण, आहार आदि एषणा दोषरहित होते हैं; इसलिए वे श्रमण, अनाहारी हैं – ऐसा कहते हैं। देखो, दो प्रकार से अनाहारीपना कहा गया है।

१. अनाहारी; अर्थात्, मुनि का आत्मा, आहार और उसकी इच्छा से रहित है; इसलिए मुनि अनाहारी है।

२. अनाहारी; अर्थात्, मुनि जो आहार लेते हैं, वह निर्दोष, अर्थात् छयालीस दोषरहित और एषणासमितिसहित लेते हैं; इस कारण इस अपेक्षा से मुनि को अनाहारी कहा गया है। यह चरणानुयोग का कथन है।

देखो, यह क्या कहा? (१) आत्मवस्तु स्वयं ही अनाहारी; अर्थात्, आहार और उसकी इच्छा से रहित है – ऐसा मुनिराज को अनुभव है; इसलिए मुनिराज अनाहारी हैं, और (२) वे जो आहार लेते हैं, वह एषणादोषरहित होता है; इसलिए उन्हें चरणानुयोग की अपेक्षा अनाहारी कहा गया है।

अहा! निश्चय से अनाहारी तो वह है कि जिसे निर्दोष आहार लेने के विकल्पसहित निर्दोष आहार लेना भी नहीं है – ऐसे अनाहारी मुनि हैं। यहाँ कलश में पहले ऐसा अनाहारीपना सिद्ध किया गया है। तात्पर्य यह है कि पहले तो एषणा; अर्थात्, निर्दोष आहार लेने की इच्छा / वृत्ति और अशनरहित आत्मा है – जिसे ऐसे आत्मा का भान वर्तता है, वे मुनि अनाहारी हैं – यह कहा है। तत्पश्चात् दूसरे प्रकार से अनाहारीपना यह कहा कि जिसे चरणानुयोग की विधि–अनुसार एषणासमितिसहित निर्दोष आहार–पानी ग्रहण करने की वृत्ति है और जो इस प्रकार आहार आदि लेते हैं, उसे चरणानुयोग की अपेक्षा से अनाहारी कहा जाता है। उसे एषणा / आहार की वृत्ति होने पर भी निर्दोष आहार ग्रहण करने की वृत्ति है; इसलिए व्यवहार से अनाहारी कहा जाता है। भाई! अद्भुत बात है। यह प्रवचनसार में चरणानुयोग चूलिका की गाथा है; इसलिए चरणानुयोग की अपेक्षा भी अनाहारीपने की बात कही गयी है।

देखो, कहा है कि (१) आत्मा, आहार और आहार ग्रहण करने की इच्छा से रहित है – ऐसा अनुभव जिसे वर्तता है, वह मुनि अनाहारी है तथा अपने लिए बनाये, बनवाये अथवा अपनी

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



अनुमोदनावाले आहाररहित, निर्दोष आहार एषणासमिति की शुद्धिपूर्वक लेने का जिसे विकल्प, अर्थात् वृत्ति है, उसे चरणानुयोग की अपेक्षा से अनाहारी कहा जाता है।

**इसी प्रकार ( आचार्यवर ) श्री गुणभद्रस्वामी ने ( आत्मानुशासन में २२५वें श्लोक द्वारा ) कहा है कि —**

**जिसने अध्यात्म के सार का निश्चय किया है......** मुनि कैसे हैं ? जिन्होंने अध्यात्म के सार का; अर्थात्, आनन्दकन्द, अनाकुल शान्ति के पिण्ड प्रभु आत्मा का सम्यग्दर्शन में निश्चय किया है।

**जो अत्यन्त यमनियमसहित है....** मुनि अत्यन्त यमनियम की जो विधि है, उससे सहित हैं।

**जिसका आत्मा बाहर से और भीतर से शान्त हुआ है ......**

शान्त... शान्त... कहने से मुनि को अन्दर में भी अकषायपरिणमन है और बाहर में वाणी तथा शरीर में भी शान्तपना दृष्टिगोचर होता है, स्थिर हो गये दिखाई देते हैं। अहो ! वे तो उपशमरस में, अकषायरस में जम गये हैं। उन्हें मुनि कहते हैं कि जिन्हें गणधर का नमस्कार पहुँचता है। देखो, गणधर भी शास्त्ररचना करते समय नमस्कार-मन्त्र में यह कहते हैं कि **णमो लोए सव्व साहूणं** – हे सन्त ! तुम्हारे चरण में मेरा नमस्कार हो। यद्यपि दूसरे साधु, गणधर से छोटे हैं; इसलिए गणधर उन्हें बाहर में व्यवहार से नमस्कार नहीं करते, परन्तु वे नमस्कार मन्त्र की रचना करते हैं, उसमें साधु को नमस्कार आ जाता है; अत: जिन्हें चार ज्ञान प्रगट हुए हैं, बारह अङ्ग की रचना जिन्होंने अन्तर्मुहूर्त में की है – ऐसी जिनकी सामर्थ्य है तथा जो तीर्थङ्कर के वजीर / दीवान हैं – ऐसे गणधर का नमस्कार जिसे पहुँचे, वह साधुपद कैसा होगा ? यहाँ कहा है वैसा।

अहा ! तीर्थङ्कर, धर्मराजा हैं और गणधर उनके दीवान / वजीर; तथापि वे जब शास्त्र की रचना करते हैं, तब **णमो लोए सव्व आइरियाणं** – ऐसा कहते हैं। तो वे आचार्य कैसे होंगे कि जिन्हें गणधर का नमस्कार पहुँचता है ? गणधर, नमस्कार करते हैं, वे ऐसे हैं कि जिन्हें अनाहारी परिणमन है, जिनकी वीतरागीदशा है और जिन्हें आहार ग्रहण करने का राग का कण उत्पन्न होता है तो निर्दोष आहार लेने की वृत्ति है – ऐसे अन्तररमणतावाले साधु अथवा आचार्य बाहर से और अन्दर से शान्त हुए हैं।

**जिसे समाधि परिणमित हुई है.....**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



समाधि; अर्थात्, यह बाबा समाधि लेते हैं वह? नहीं; वह नहीं। वह सब हठवाले अज्ञानी हैं। आधि-व्याधि और उपाधिरहित आनन्द की रमणता में शान्तरस से जम जाना; अर्थात्, अनाकुल आनन्द की समाधि जम जाना, समाधि कहलाता है। आधि, अर्थात् मन के पुण्य-पापरूप विकल्प; व्याधि, अर्थात् शरीर का रोग; उपाधि, अर्थात् संयोग – इन तीनों से रहित परिणति का नाम समाधि है; अत: कहते हैं कि मुनि, सहजात्मस्वरूप परमानन्द की मूर्ति – ऐसे सर्वज्ञ कथित आत्मा को अनुभव में लेकर समाधिरूप परिणमित हुए हैं।

सामायिक के पाठ में आनेवाले 'लोगस्ससूत्र' में आता है कि **समाहिवरमुत्तमं दिंतु –** भक्त अपनी भावना, सिद्ध भगवान से कहता है कि हे परमात्मा! समाधि के उत्तम वर, अर्थात् फल में हमें अतीन्द्रिय आनन्ददशा दो, अर्थात् आपको अन्तरदशा में जो आनन्द है, वह दो। इस प्रकार प्रार्थना-विनती करते हुए भगवान से कहता है।

यहाँ कहा है कि मुनि को वीतरागभावरूप समाधि जम गयी है। जबकि पञ्च महाव्रत का विकल्प राग तो असमाधि / आकुलता है। अरे! अट्ठाईस मूलगुण भी आकुलता है – ऐसा भगवान का मार्ग है। अहा! मुनिराज शान्त... शान्त... शान्त... हो गये हैं। उनकी निर्विकल्प आनन्द की परिणति गाढ हो गयी है तथा उन्हें अनाकुल समाधि जम गयी है। जैसे, समुद्र के मध्य बिन्दु में से उछलने पर किनारे तक ज्वार आता है; उसी प्रकार आत्मा के मध्य बिन्दु में अनन्त गुण पड़े हैं, उन पर मुनि की दृष्टि का जोर है। इस कारण पर्याय में आनन्दमय समाधि का प्रवाह आता है। देखो, साधुपना ऐसा होता है। अरे अज्ञानी तो सिर मुँडा कर, वस्त्र बदलकर अपने को साधु हो गया मानता है परन्तु वह साधु नहीं है। सुन तो सही!

**मनुष्य होना कठिन है, साधु कहाँ से होय?**
**साधु हुआ तो सिद्ध हुआ, करनी रही न कोय॥**

जिनकी आनन्दमय निर्विकल्प समाधि में जम गयी है, वह सिद्ध समान है और ऐसे साधु को भगवान, साधु कहते हैं। सम्यग्दृष्टि भी ऐसे साधु को साधुरूप से मानता है।

**जिसे सर्व जीवों के प्रति अनुकम्पा है.....**

मुनिराज को सबके प्रति अरागी / अकषायी अनुकम्पा परिणमित हुई है, प्रगट हुई है। किसी भी जीव के प्रति यह ठीक है और यह ठीक नहीं है – ऐसा भाव नहीं है। सभी जीव उन्हें ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं। यहाँ सर्व जीव लिये हैं न! तो एकेन्द्रिय – हरितकाय का एक कण हो या

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

बड़ा नारियल हो, उन सब जीवों के प्रति उन्हें अकषायी अनुकम्पा है; किसी के प्रति उन्हें मारने अथवा बचाने का विकल्प नहीं है। अहा! यह अनुकम्पा तो अपने आत्मा के लिए है, बाकी दूसरे सुखी हों या न हों, वह उनके आधीन है।

**जो विहित ( शास्त्रज्ञान के अनुसार ) हित-मित भोजन करनेवाला है......** विहित, अर्थात् शास्त्र की आज्ञानुसार, भगवान द्वारा कथित; हित, अर्थात् प्रमाद, रागादि न हों - ऐसा और मित, अर्थात् मर्यादावाला - ऐसा भोजन मुनिराज करते हैं।

**जिसने निद्रा का नाश किया है.....** मुनि को बहुत नींद नहीं होती। छठवें गुणस्थान में अत्यन्त अल्प निद्रा होती है। छहढाला में आता है कि **'भू माही पिछली रयन, कछु शयन एकाशन करन'** ( ६/५ ) बस! मुनि एक करवट सोते हैं और वह भी पौन सेकेण्ड की निद्रा होती है। छठवाँ गुणस्थान ही पौन सेकेण्ड की मर्यादावाला है; इसलिए किञ्चित् निद्रा आ जाती है परन्तु इससे अधिक निद्रा उन्हें नहीं होती। यदि उन्हें अधिक निद्रा आ जाए तो मुनिपना नहीं रहता - ऐसा कहते हैं।

**वह ( मुनि ) क्लेशजाल को समूल जला देता है।** ऐसी आनन्द की ज्ञान की धारा जिन्हें अन्दर से प्रगट हुई है, वे मुनिराज क्लेशजाल को जलाकर राख कर देते हैं। देखो, इनको मुनि कहते हैं। इन्हें एषणासमिति से आहार लेनेवाला कहते हैं और इन्हें तपस्वी मुनि कहा जाता है।

## कलश ८६ पर प्रवचन

**भक्त के हस्ताग्र से ( हाथ की उङ्गलियों से ) दिया गया भोजन लेकर.....** मुनि की एषणासमिति की बात चलती है न! तो कहते हैं कि मुनि को आहार दिया जाता है, उसे लेकर.... मुनि को एषणासमिति का / आहार लेने का विकल्प होता है; इसलिए कहते हैं कि आहार लेकर.... बस, इतना कहकर व्यवहार की बात है। अब कहते हैं कि —

**पूर्ण ज्ञानप्रकाशवाले आत्मा का ध्यान करके....** नित्य पूर्ण ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का ध्यान करके.... देखो नित्य, पूर्ण, ज्ञानस्वरूपी आत्मा, वह ध्रुव है; उसका ध्यान करके - यह पर्याय है।

**इस प्रकार सत् तप को ( सम्यक् तप को ) तपकर....**

देखो, सत् तप यह है कि पूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में उसका ध्यान करके लीन होना,

पूर्ण स्वरूप को ध्येय बनाकर, उसके ध्यान में लीन होना, वह सत् तप, अर्थात् सच्चा तप और सच्चा मुनिपना है – ऐसा यहाँ कहते हैं। पूर्ण ज्ञानप्रकाश ही जिसका स्वभाव है – ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेकर और उसका ध्यान करके, उसमें लीनता करना, वह सम्यक् तप है। यह व्यवहार एषणासमिति का विकल्प है, वह सम्यक् तप नहीं है क्योंकि वह तो व्यवहार, अर्थात् राग है परन्तु अन्दर में एकाग्र होना, वह सम्यक् तप है और वह शुद्ध एषणासमिति है। दूसरे प्रकार से कहें तो पूर्ण ज्ञानप्रकाशस्वरूप भगवान आत्मा में लीन होना; अर्थात्, उसकी सन्मुखतावाली एकाग्रता की दशा करना, उसे यहाँ निश्चय एषणासमिति अथवा सच्चा तप और सच्चा मुनिपना कहा जाता है। देखो, इसका नाम सम्यक् तप और सच्चा मुनिपना है परन्तु पञ्च महाव्रत का विकल्प अथवा व्यवहार एषणासमिति सच्चा तप अथवा सच्चा मुनिपना नहीं है – ऐसा कहते हैं।

**वह सत् तपस्वी ( सच्चा तपस्वी ) दैदीप्यमान मुक्तिवाराङ्गना को ( मुक्तिरूपी स्त्री को ) प्राप्त करता है।**

भाषा तो देखो! ऐसी भाषा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। परम सत्, ऐसे पूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को शोधकर, पकड़कर उसमें लीन हो, वही सच्चा तपस्वी है, अर्थात् सच्चा मुनि है। यह सच्चा तपस्वीपना ही सच्चा मुनिपना है। सत् तपस्वी; अर्थात् तप को करनेवाला उसे कहते हैं कि जो पूर्ण ज्ञानघनस्वरूप ज्ञान प्रकाश की मूर्ति प्रभु आत्मा के ध्यान में लीन होता है, इसका नाम सच्चा तप, सच्चा मुनिपना और सच्ची दीक्षा है।

**प्रश्न –** यह सब जानने से पूर्व दीक्षा ले ली हो तो क्या आपत्ति है?

**उत्तर –** परन्तु दीक्षा किसे कहना? दीक्षा की दशा क्या? यह जानने से पहले दीक्षा कैसी?

**प्रश्न –** यह सब तो दीक्षा लेने के बाद जान-सीख लेंगे?

**उत्तर –** फिर क्या सीख लेंगे? क्योंकि अभी जो पहले सीखना है, वह तो सीखा नहीं। यहाँ कहते हैं कि पूर्ण ज्ञानप्रकाश का पुँज – ऐसा प्रभु आत्मा, एक समय में नित्य ध्रुव है। परिपूर्ण ज्ञानप्रकाश आनन्द आदि की पूर्ण मूर्ति है। जिसे उसकी अन्तर्दृष्टि नहीं हुई, उसका सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, उसे स्वरूप का ध्यान, अर्थात् मुनिदशा नहीं हो सकती है। जिसे ऐसे स्वरूप के ध्यान में लीनता हुई है; अर्थात्, शुद्ध और पूर्ण ज्ञानघन ध्रुव चैतन्य आत्मा को शोधकर, जो उसमें लीन हुआ है और जिसे निर्विकल्प वीतरागी दशा प्रगट हुई है, उसे सच्चा मुनिपना होता है और उसे

www.vitragvani.com



सच्चा तपस्वी–सच्चा तप करनेवाला कहते हैं। अन्दर ही है कि पूर्ण ज्ञानप्रकाशवाले आत्मा का ध्यान करके... गजब बात की है न! संक्षिप्त में किन्तु गजब बात है।

अहा! एक समय में ध्रुव भगवान आत्मा पूर्ण ध्रुव वस्तु है और सम्यग्दृष्टि उसका ध्यान करता है परन्तु मति–श्रुतज्ञान की पर्याय का ध्यान करता है – ऐसा नहीं कहा है। सम्यग्दृष्टि को पूर्ण स्वरूप के अवलम्बन से आनन्द की दशासहित सम्यक्मति और श्रुतज्ञान प्रगट हुए हैं, उनका भी ध्यान नहीं होता – ऐसा कहते हैं क्योंकि ध्यान तो पूर्ण ज्ञानप्रकाश की मूर्ति, नित्यानन्द ध्रुव आत्मा का होता है और उसमें लीनता होती है। अत: कहा है कि सम्यग्दृष्टि ने 'ऐसा आत्मा है' – यह शोधकर, उसमें दृष्टि तो की थी परन्तु अब उसमें निर्विकल्प उग्र पुरुषार्थ द्वारा लीनता करता है; अर्थात्, शान्ति की, चारित्र की, वीतरागता की जागृति करता है और उसे सच्चा सन्त, सच्चा मुनि, सच्चा तप करनेवाला तपस्वी कहा जाता है। महीने–महीने के उपवास किये, इसलिए तपस्वी हो गये – ऐसा नहीं है परन्तु सत् स्वरूप पूर्ण शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा को दृष्टि में लेकर, उसमें लीन हो जाना, वह सत् तप है और उस तप को करनेवाला सत् तपस्वी है। इसके भान बिना कोई उपवास आदि करे तो, वह सब लंघन है; वह उपवास नहीं है, अपितु अपवास–माठोवास है, क्योंकि वह राग में और पुण्य की क्रिया में बसता है; अत: वह माठोवास है।

अहा! पूर्ण आनन्दघन भगवान आत्मा में दरबार भरा है। उसका एक–एक गुण परिपूर्ण है – ऐसे अनन्त गुणों का परिपूर्णपना; अर्थात्, अनन्त गुणों का दरबारपना उसमें भरा है। यद्यपि यहाँ तो अभेद लिया है कि ज्ञान प्रकाशवाले आत्मा का... तथापि उस ज्ञान प्रकाश में परिपूर्ण प्रकाशवाले अनन्त गुण विद्यमान हैं, अर्थात् आ जाते हैं, वह आत्मा ऐसा है परन्तु वह पर्यायवाला नहीं है, रागवाला नहीं है और व्यवहार एषणा के विकल्पवाला भी नहीं है – ऐसा कहते हैं। अहा! पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... आनन्दप्रकाश, ज्ञानप्रकाश, श्रद्धाप्रकाश इत्यादि ऐसी जो पूर्ण शक्तियाँ हैं, सत् का सत्व है / सत् का स्वभाव है / सत् का त्रिकाली भाव, अर्थात् गुण है, उससे परिपूर्ण वस्तु है। उस परिपूर्ण वस्तु, अर्थात् सत् का जो ध्यान करता है और उसमें लीन होता है, उसे वीतरागदशा प्रगट होती है। उसे सच्चा तप अथवा मुनि कहा जाता है। देखो, ऐसा मुनिपना होता है।

अहा! श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य आदि सब आचार्य थे। जबकि यह टीका करनेवाले श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि–भावलिङ्गी सन्त हैं और वे स्वयं कहते हैं कि मुनिपना ऐसा होता है। मुनि / सच्चे सन्त उन्हें कहते हैं कि जिसकी अन्तर में; अर्थात् शुद्धोपयोग में रमणता है।

www.vitragvani.com



तात्पर्य यह है कि जिसे शुद्धोपयोग हो, उसे मुनि कहते हैं। पञ्च महाव्रत का विकल्प शुभोपयोगरूप होने से मुनिपना नहीं है। वह तो व्यवहार में, अर्थात् शुभभाव में जाता है; इस प्रकार कहा है कि ध्रुव में / शुद्धोपयोग में लीनता जम जाए, उसे तप कहते हैं, उस तप करनेवाले को तपस्वी कहते हैं, मुनि कहते हैं और तप को मुनिपना कहते हैं।

**प्रश्न** – मुनिराज शास्त्र रचना करते समय तो व्यवहार में होंगे न?

**उत्तर** – शास्त्र रचना के समय भले ही व्यवहार का, अर्थात् शुभराग का विकल्प है, तथापि मुनिराज कहते हैं कि उस विकल्प के समय भी मैं तो ऐसा का ऐसा वीतरागी हूँ। शास्त्र लिखने का विकल्प है, वह भी मैं नहीं हूँ; मैं तो उसके निषेध में हूँ, मैं तो पूर्ण ज्ञानप्रकाश में लीन हूँ; अर्थात्, मेरी लीनता ज्ञान में है, वह मैं हूँ और वह मुनि है। जबकि यह शास्त्र-रचना का विकल्प उत्पन्न हुआ है, वह मुनिपना नहीं है, वह तो राग है। अरे! वीतराग सर्वज्ञ का पन्थ; अर्थात्, अन्दर में से वीतरागीदशा का प्रवाह प्रवाहित हुआ है, वह तो देखो!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा स्वयं ही जिनस्वरूपी प्रभु है। वीतरागस्वरूप ही भगवान आत्मा है। ऐसे वीतरागी धन में जो लीन होता है, उसे शक्ति में से वीतरागता व्यक्त प्रगट होती है और वह प्रगट हुई वीतरागता ही तप है, मुनिपना है। यद्यपि साथ में एषणासमिति का विकल्प होता है, तथापि वह विकल्प मुनिपना नहीं है – ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि ऐसा पूर्णानन्द प्रभु भगवान आत्मा है, उसमें जिसकी शुद्धोपयोगरूप लीनता जमी है – ऐसे मुनि... भले ही उन्हें छठवें गुणस्थान में विकल्प हो, तथापि उस समय भी शुद्धपरिणति अन्दर जमी हुई होती है – ऐसे वे मुनि, दैदीप्यमान मुक्ति वाराङ्गनाओं को प्राप्त करते हैं। देखो, पहले 'पूर्ण ज्ञानप्रकाशवाला आत्मा' यह कहा था, वह द्रव्य की बात की थी; अब, मुनि अपनी पर्याय में दैदीप्यमान मुक्ति को प्राप्त करते हैं – ऐसा कहते हैं; इस प्रकार पर्याय की बात की है। अहो! सन्तों का मार्ग तो देखो!

अरे! अज्ञानी को सन्तपना तो प्रगट हुआ ही नहीं है परन्तु सन्तपना कैसा होता है? – यह भी उसने नहीं जाना है। अहा! कहते हैं कि आनन्ददशा की पूर्ण प्राप्ति, वह मुक्ति है और ऐसी उसकी परिणतिरूपी स्त्री है, उसे मुनि प्राप्त करते हैं। अब, जैसे बाहर की स्त्री, अपने पति को नहीं छोड़ती; इसी प्रकार वह पूर्णानन्द की प्राप्तिरूप परिणति भी द्रव्य को नहीं छोड़ेगी।

इस प्रकार ८६ वाँ कलश हुआ। अब आगे, आदाननिक्षेपणसमिति की बात आयेगी। ●●

## गाथा ६४

**पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।**
**आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा॥ ६४॥**

**पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः।**
**आदाननिक्षपेणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा॥ ६४॥**

**पुस्तक कमण्डल आदि निक्षेपणग्रहण करते यती।**
**होता प्रयत परिणाम वह, आदाननिक्षेपण समिति॥ ६४॥**

**गाथार्थ :** पुस्तक, कमण्डल आदि लेने-रखने सम्बन्धी प्रयत्नपरिणाम, वह आदान-निक्षेपणसमिति है - ऐसा कहा है।

**टीका :** यहाँ आदान निक्षेपणसमिति का स्वरूप कहा है।

यह, अपहृतसंयमियों[१] को संयमज्ञानादिक के उपकरण लेते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली समिति का प्रकार कहा है। उपेक्षासंयमियों[२] को पुस्तक, कमण्डल आदि नहीं होते; वे परमजिनमुनि एकान्त में (सर्वथा) निस्पृह होते हैं; इसीलिए वे बाह्य उपकरणरहित होते हैं। अभ्यन्तर उपकरणभूत, निज परमतत्त्व को प्रकाशित करने में चतुर ऐसा जो निरुपाधिस्वरूप सहज ज्ञान, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ उन्हें उपादेय नहीं है। अपहृतसंयमधरों को परमागम के अर्थ का पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञान होने में कारणभूत ऐसी पुस्तक, वह ज्ञान का उपकरण है; शौच का उपकरण कायविशुद्धि के हेतुभूत कमण्डल है; संयम का उपकरण, पींछी है। इन उपकरणों को लेते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली प्रयत्नपरिणामरूप विशुद्धि ही आदाननिक्षेपणसमिति है - ऐसा (शास्त्र में) कहा है।

---

१. अपहृतसंयमी = अपहृतसंयमवाले मुनि। (अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम, हीन-न्यूनतावाला संयम), सरागचारित्र और शुभोपयोग - ये सब एकार्थ हैं।

२. उपेक्षासंयमी = उपेक्षासंयमवाले मुनि। (उत्सर्ग, निश्चयनय, सर्व परित्याग, उपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग - ये सब एकार्थ हैं।)

www.vitragvani.com



अब, ६४ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(मालिनी)

**समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां**
**परमजिनमुनीनां संहतौ क्षांतिमैत्री।**
**त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यं**
**भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः॥ ८७॥**

(हरिगीत)

**समितियों में समिति यह, उत्तम मुनि को शोभती।**
**उन परम जिनमुनि सङ्ग में, है क्षमा एवं मैत्री॥**
**हे भव्य! तुम भी मन कमल में, सदा यह धारण करो।**
**परमश्रीमय कामिनी के, शीघ्र ही प्रिय कान्त हो॥**

**श्लोकार्थ :** उत्तम परमजिनमुनियों की यह समिति, समितियों में शोभती है। उसके सङ्ग में क्षान्ति और मैत्री होते हैं; अर्थात्, इस समितियुक्त मुनि को धीरज-सहनशीलता, क्षमा और मैत्रीभाव होते हैं। हे भव्य! तू भी मन-कमल में सदा वह समिति धारण कर, कि जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनी का प्रिय कान्त होगा; अर्थात्, मुक्तिलक्ष्मी का वरण करेगा।

## गाथा ६४ पर प्रवचन

श्वेताम्बर में आयानभण्डमत निक्षेपणसमिति - ऐसा आता है; जबकि यहाँ आदान -निक्षेपणसमिति है। आदान, अर्थात् लेना; निक्षेपण, अर्थात् रखना; इसका कारण यह है कि साधु को / मुनि को वस्त्र-पात्रादिक तो होते ही नहीं, तब फिर वे वस्त्र-पात्रादिक को लें अथवा रखें कैसे ? इसलिए यह आदान निक्षेपणसमिति शब्द यथार्थ है। अरे! श्वेताम्बर में तो सम्पूर्ण समिति के नाम में भी अन्तर है। अहा! वस्त्र-पात्र रखे और अपने को मुनि माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ मुनि को वस्त्र-पात्रादि के अतिरिक्त मोरपिच्छी आदि उपकरण होते हैं, उनकी बात है। देखो, यहाँ गाथा में है न कि **पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु** - शास्त्रादि लेते-रखते। पाठ में पोत्थइ शब्द है, उसका अर्थ हरिगीत में शास्त्र किया है और उसे लेते-रखते - ऐसा कहा है परन्तु वस्त्र-पात्र को लेते-रखते - ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वे मुनि को होते ही नहीं। अहा! दिगम्बर और श्वेताम्बर की मुनिदशा में बहुत अन्तर है, पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है। अब, ऐसा

www.vitragvani.com



है, तब उन दोनों को समान किस प्रकार मानना, समन्वय किस प्रकार करना? हाँ, दिगम्बर भी हैं और श्वेताम्बर भी; इस प्रकार दोनों हैं, इतना समन्वय है परन्तु वे दोनों समान हैं – ऐसा समन्वय नहीं है। वस्तुतः किसी व्यक्ति के प्रति निरोध-वैर नहीं होता, तथापि वस्तु की स्थिति जैसी है, उससे विरुद्ध यदि कोई मानता हो तो उसकी दृष्टि मिथ्या है – ऐसा जानना चाहिए।

देखो, श्री कुन्दकुन्दाचार्य की सीधी भाषा में क्या है? शास्त्रादि लेने-रखने सम्बन्धी मुनि के प्रयत्न-परिणाम को; अर्थात्, शुभरागरूप विकल्प को आदाननिक्षेपणसमिति आगम में कहा गया है। देखो, कहते हैं कि भगवान के आगम में; अर्थात्, भगवान की वाणी में से निर्मित आगम में तो यह आया है कि मुनि, मात्र शास्त्रादि लेते-रखते हैं परन्तु वस्त्र-पात्रादि लेना अथवा रखना, यह मुनि को तीन काल में नहीं हो सकता। यदि वस्त्र का एक धागा भी रखे और अपने को मुनि माने अथवा मनवावे तो **जाइ णिग्गोदम्;** अर्थात्, निगोद में जाएगा। ऐसा अष्टपाहुड़ (सूत्रपाहुड़, गाथा १८) में कहा है। देखो, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समान हैं, दोनों का समन्वय होता है – ऐसा नहीं हो सकता, यह कहते हैं क्योंकि सत्यमार्ग का स्वरूप ही ऐसा है, वहाँ दूसरा क्या हो सकता है?

जहाँ तीन कषाय चौकड़ीरहित मुनिपने की वीतरागीदशा अन्दर में प्रगट हुई है, वहाँ उसे वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का विकल्प ही नहीं होता और ऐसा संयोग भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मुनि को वस्त्र-पात्रादिक के संयोग का भी अभाव होता है और वस्त्र-पात्रादि के ग्रहण के विकल्प का भी अभाव होता है, यह वस्तु की मर्यादा है परन्तु क्या हो सकता है? लोग अन्यथा प्रकार से मानते हैं। कोई अज्ञानी अपने माने हुए पक्ष में चढ़ जाए और दूसरे प्रकार से माने तो वह स्वतन्त्र है, वरना मार्ग तो यह है। अब, पहले शब्दार्थ, अर्थात् अन्वयार्थ लेते हैं —

**पुस्तक, कमण्डल आदि लेने-रखने सम्बन्धी प्रयत्नपरिणाम, वह आदान-निक्षेपणसमिति है – ऐसा कहा है।** 'आदि' कहने से मुनि के योग्य वस्तु ऐसी पिच्छी लेना, किन्तु वस्त्रादि नहीं और **णिद्दिट्ठा-निर्दिष्टा;** अर्थात्, भगवान के आगम में यह कहा है, इसके अतिरिक्त अन्य अज्ञानियों के बनाये हुए आगमों में यह कहा हो कि वस्त्र-पात्र लेना-रखना, वह आदान-निक्षेपणसमिति है तो वह भगवान का आगम नहीं है, अपितु कल्पित बनाये गये हैं।

**प्रश्न –** प्रयत्न-परिणाम, अर्थात्?

www.vitragvani.com



**उत्तर –** शुभपरिणाम / शुभराग / शुभभाव; यहाँ बाह्य क्रिया की बात नहीं है।

**यहाँ आदान निक्षेपणसमिति का स्वरूप कहा है।**

**यह, अपहृतसंयमियों को संयम ज्ञानादिक के उपकरण लेते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली समिति का प्रकार कहा है।**

अपहृतसंयमी, अर्थात् व्यवहारसंयमी। इस संयमी को निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चय – सम्यग्ज्ञान तो है परन्तु छठवें गुणस्थान की दशा है; इसलिए उस शुभोपयोगी को अपहृतसंयमी कहा है। तात्पर्य यह है कि जिसमें लेने-रखने का विकल्प उत्पन्न होता है – ऐसे छठवें गुणस्थान की भूमिकावाले को अपहृतसंयमी कहा है। देखो, नीचे फुटनोट है —

**[ १. अपहृतसंयमी = अपहृतसंयमवाले मुनि। ( अपवाद, व्यवहारनय, एकदेश -परित्याग, अपहृतसंयम, हीन-न्यूनतावाला संयम ), सरागचारित्र और शुभोपयोग – ये सब एकार्थ हैं। ]**

अपहृतसंयमी, अर्थात् अपवादीमुनि। अपवादीमुनि का अर्थ यह है कि जिन्हें छठवें गुणस्थान का शुभरागवाला भाव है; अर्थात्, जो छठवें गुणस्थान में हैं, जिन्हें विकल्प उत्पन्न हुआ है, वे **अपवादीमुनि** हैं। यद्यपि उन्हें निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्वरूप का अनुभव है तथा तीन कषाय-चौकड़ी का अभाव भी है, परन्तु संयम के दो प्रकार करने पर उन्हें छठवें गुणस्थान के योग्य शुभराग उत्पन्न हुआ है; इसलिए तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होने पर भी, अभी शुभराग होने से वे अपहृतसंयमी या अपवादीमुनि कहे जाते हैं। वे अभी व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि हैं।

अहा! मुनि को सम्यग्दर्शन; अर्थात्, पूर्ण आनन्दकन्द प्रभु आत्मा का अनुभव होकर सम्यक् प्रतीति हुई है और आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान भी हुआ है, तदुपरान्त छठवें गुणस्थान के योग्य स्वरूप की स्थिरता भी हुई है परन्तु उन्हें संज्वलन का विकल्प उत्पन्न है कि 'यह ग्रहण करूँ और यह छोड़ूँ', इस वृत्तिवाले मुनि को अपवादीमुनि या व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि कहा है। यद्यपि उनको निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो है परन्तु शुद्धोपयोग नहीं है; इसीलिए रागवाले उन मुनि को व्यवहारीमुनि कहा है। जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा नहीं है, उसे तो व्यवहारीमुनि भी नहीं कहते हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



अहा! मुनिदशा की यह एक बात तो देखो! कितनी निर्मल स्पष्ट है!! इसमें कहीं शङ्का / सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है। जिन्होंने पूर्ण ज्ञानप्रकाश की मूर्ति ध्रुव चैतन्य भगवान आत्मा को दृष्टि में जोड़कर अनुभव किया है और जिन्हें निर्विकल्प आनन्द का स्वाद आया है; अर्थात्, जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, सम्यक् स्वसंवेदन; अर्थात्, स्व का प्रत्यक्षज्ञान हुआ है और स्वरूप में तीन कषाय चौकड़ी के अभाववाली स्थिरता भी है, उन्हें शुभविकल्प उत्पन्न होता है तो वे अपवादी साधु, व्यवहाररत्नत्रयधारक साधु कहलाते हैं।

**प्रश्न –** नग्न दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी साधु, व्यवहारीमुनि हैं या नहीं?

**उत्तर –** नहीं; अरे वस्तुस्थिति ही ऐसी है, उसमें दूसरा क्या हो सकता है?

यहाँ कहते हैं कि मुनि के योग्य शुद्धोपयोग; अर्थात्, सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोगसहित मुनि को निश्चय साधु कहते हैं और जिन्हें अन्तर में निश्चयरत्नत्रय तो है, परन्तु मुनि के योग्य (सप्तम गुणस्थान के योग्य) शुद्धोपयोग का अभाव है, उन्हें अपवादीमुनि या व्यवहाररत्नत्रयधारक मुनि कहते हैं, क्योंकि शुभविकल्प अपवाद और दोष है।

अपवादीमुनि को 'एकदेश-परित्यागी' भी कहते हैं, क्योंकि उन्हें अभी शुद्धोपयोग नहीं है। यद्यपि उनके राग की अशुद्धता; अर्थात्, अशुभराग का अभाव है परन्तु शुभराग का अभाव नहीं है और शुभराग आया है; इसलिए उनको एकदेश-परित्यागी मुनि कहते हैं, उन्हें अपहृत संयमी; अर्थात्, हीन-न्यूनतावाले संयमी कहा जाता है, उन्हें सरागीचारित्रवाला भी कहते हैं परन्तु ऐसे मुनि को कि जिन्हें छठवें गुणस्थान में ग्रहण-त्याग का शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है। यद्यपि उन्हें अन्दर में तीन कषाय के अभाववाला चारित्र तो है परन्तु वे शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं हैं; इसलिए उन्हें सरागचारित्रवाला कहते हैं। वे सरागचारित्रवाले हैं; इसलिए उनको अकेला शुभराग ही है – ऐसा नहीं है।

प्रवचनसार की प्रथम पाँच गाथाओं में ऐसा कहा है कि आचार्य, उपाध्याय और मुनि, परम शुद्धोपयोगी ही होते हैं; अर्थात्, उन्होंने परमशुद्धोपयोग को ग्रहण किया है परन्तु व्यवहार को ग्रहण नहीं किया, तथापि बीच में व्यवहार आ जाता है, वह **अपवादमार्ग** है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी ऐसा लिया है कि मुनि, अर्थात् जिन्होंने शुद्धोपयोग ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त मुनि नाम धरा लेने से कोई मुनि नहीं हो जाता तथा कोई नग्न हुआ हो और

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प हो तो भी मुनि नहीं है। वह व्यवहार से भी मुनि नहीं है, कारण कि व्यवहारमुनि तो उसे कहते हैं, जिसे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद आया हो।

उस उग्र स्वाद के लिए समयसार की पाँचवी गाथा में कहा है कि जिसे प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है। अहा! श्रीसमयसार की पाँचवी गाथा में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हमको प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है, वह हमारा निजवैभव है और उससे हम समयसार कहेंगे।

चतुर्थ गुणस्थान में आनन्द का संवेदन तो है परन्तु प्रचुर नहीं। पाँचवें गुणस्थान में चौथे गुणस्थानवाले से विशेष आनन्द का संवेदन है और छठवें गुणस्थान में तो पाँचवें गुणस्थान से भी विशेष आनन्द का संवेदन है। वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की शक्ति में से पर्याय में अत्यधिक व्यक्तता / प्रगटता हुई है, परन्तु वे मुनिराज अभी शुभोपयोग में हैं; इसलिए उन्हें सरागचारित्रवाला कहा गया है।

वे सरागचारित्रवाले हैं; इसलिए उन्हें अकेला शुभराग ही है – ऐसा नहीं है। उन्हें अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो है परन्तु अभी वे शुद्धोपयोग में नहीं हैं; इसलिए जो राग के विकल्पसहित हैं, उन्हें सरागचारित्रवाला कहा है। वे सरागचारित्रवाले '**शुभोपयोगी**' हैं। तात्पर्य यह है कि सरागचारित्रवाला कहो या शुभोपयोगी कहो – एक ही बात है क्योंकि ग्रहण-त्याग शुभराग है न! ऐसे शुभोपयोगी मुनि, **सास्रवी** हैं, **अपवादी** हैं।

कहते हैं कि ऐसे अपहृत संयमियों को संयम, ज्ञान आदि के उपकरण लेने-रखते समय उत्पन्न होनेवाली व्यवहारसमिति का यह प्रकार है। देखो, जिन्हें अन्दर में संयम-दर्शन और ज्ञान के साथ संयम है; अर्थात्, जिन्हें सम्यग्दर्शनपूर्वक अन्दर में स्थिरता-लीनता है, यह उनकी बात है। अहा! कितनी स्पष्ट बात है? इसमें कहीं जरा भी आगे-पीछे करे तो उसकी मान्यता खोटी होती है।

**प्रश्न** – जो ऐसा व्यवहार शुभोपयोग का पालन करते हैं, वे शुभोपयोगी मुनि हैं न?

**उत्तर** – भाई! यहाँ उस द्रव्यलिङ्गी मुनि की बात नहीं है। यह तो जिन्हें अन्दर में निश्चय दर्शन, ज्ञान और संयम है, उन्हें ऐसी समिति का विकल्प उत्पन्न होता है, उन्हें 'शुभोपयोगी मुनि' कहते हैं और विकल्प को व्यवहार समिति कहते हैं – ऐसा कहना है।

अब, छठवें गुणस्थानवाले की बात करने से पहले निश्चयसमिति की; अर्थात्, सातवें गुणस्थानवाले की बात करते हैं – देखो, नीचे फुटनोट है —

**उपेक्षासंयमी = उपेक्षासंयमवाले मुनि। (उत्सर्ग, निश्चयनय, सर्व परित्याग, उपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग - ये सब एकार्थ हैं।)**

१. पूर्व कथित अपहृतसंयमी मुनि, अपवादीमुनि हैं; जबकि यह उपेक्षासंयमी मुनि, उत्सर्ग मुनि हैं।

२. पूर्व कथित अपहृतसंयमी छठवें गुणस्थान की भूमिका के विकल्पवाले व्यवहार -रत्नत्रयवाले मुनि हैं, जबकि यह उपेक्षासंयमी निश्चयनयवाले मुनि हैं। अहा! जिनका उपयोग अन्दर स्थिर हो गया है, जो शुद्धोपयोग में रमते हैं, उन्हें निश्चयनयात्मक साधु कहते हैं। देखो, यह छठवें और सातवें गुणस्थान के बीच की क्रीड़ा की बातें हैं।

३. अपहृतसंयमी को छठवें गुणस्थान के शुभराग में अशुभराग का त्याग है परन्तु शुभराग का त्याग नहीं है; अर्थात्, उन्हें अभी राग का आंशिक त्याग है; इसलिए उन्हें एकदेश-परित्याग मुनि कहा है; जबकि उपेक्षा संयमी को सर्व राग का त्याग है; इसलिए उन्हें सर्व-परित्याग मुनि कहा है। वे तो शुभराग का भी त्याग करके शुद्धोपयोग में रमते हैं; इसलिए उन्हें सर्व-परित्याग मुनि कहा है।

४. अपहृतसंयमी को अपहृत संयमवाला कहा जाता है; जबकि उपेक्षा संयमी को उपेक्षा संयमवाला कहा जाता है, उन्हें कोई अपेक्षा नहीं है, सर्व से उपेक्षा हो गयी है। अरे! शुभराग की भी अपेक्षा नहीं रही है; इसलिए उन्हें उपेक्षा संयम कहा है, अहा! वहाँ रागादि सर्व की उपेक्षा है परन्तु कोई अपेक्षा नहीं रही है; इसलिए उपेक्षा संयम है, जबकि छठवें गुणस्थानवाले में राग की थोड़ी अपेक्षा रही है, अर्थात् शुभराग रहा है; इसलिए वह उत्सर्गमार्ग नहीं है।

भाई! यह तो गजब बात है! सन्तों की कथनी गजब है। अहा! यह तो अनादि सनातन वीतराग पन्थ का प्रवाह है। इसमें कुछ भी फेरफार अथवा कम-ज्यादा करेगा तो मार्ग नहीं रहेगा - ऐसा अद्भुत मार्ग है।

५. अपहृतसंयमी को सरागचारित्रवाला और उपेक्षासंयमी को वीतरागचारित्रवाला कहा जाता है।

६. अपहृतसंयमी को शुभोपयोगी और उपेक्षासंयमी को शुद्धोपयोगी कहा जाता है।

श्वेताम्बर मत तो मुनि के चौदह उपकरण बतलाता है परन्तु वह सब तो कल्पना है।

स्थविरकल्पी साधु हो या जिनकल्पी साधु हो, उन्हें वस्त्र-पात्र का त्याग होता है क्योंकि मुनि ही उन्हें कहते हैं, जिसे वस्त्र का धागा अथवा पात्र नहीं है, अपितु नग्नदशा है तथा अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प और उसके साथ-साथ सर्वसंयम व शुद्धज्ञान अन्दर में वर्तता है।

अब, कहते हैं कि यदि उन्हें शास्त्रादि लेने-रखने का विकल्प उत्पन्न होता है तो वे व्यवहारी साधु, आस्रववाले साधु, शुभोपयोगी साधु, अपहृत संयमी साधु अथवा एकदेशत्यागी साधु कहलाते हैं और जो मुनि अन्दर शुद्धोपयोग में वर्तते हैं, उन्हें निश्चयनयवाले साधु, उत्सर्गी साधु, वीतरागी साधु अथवा सर्वदेशत्यागी साधु कहते हैं। देखो, साधुपना ऐसा है।

अहा! जो ग्रन्थ में से निकल गये हैं; अर्थात्, जिन्हें परिग्रह छूट गया है, उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं और अन्तर में परिग्रह की ममता हुए बिना बाह्य में परिग्रह नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्ग में परिग्रह की मूर्च्छा का भाव न हो और बाह्य में परिग्रह रहे – ऐसा नहीं होता। इसलिए जब तक परिग्रह का मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदन नहीं छूटता, तब तक मुनिपना नहीं आता। इस विषय में मोक्षमार्गप्रकाशक *( ५ वाँ अधिकार, श्वेताम्बर मत निराकरण प्रकरण )* में बहुत सरस कहा है। वहाँ प्रश्न किया है कि मुनि को परिग्रह है, किन्तु उसकी ममता नहीं है। उसके उत्तर में पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि परिग्रह की ममता तो सम्यग्दर्शन में भी नहीं है कि राग मेरा है और वस्त्र मेरे हैं। जबकि यहाँ मुनिपने में तो स्थिरता प्रगट हुई है, उस अन्तरस्थिरता में उतनी वीतरागता होती है कि मुनि को विकल्प उत्पन्न होता है, वह मर्यादित होता है। आहार लेना, ज्ञान और संयम के उपकरण लेना-रखना इत्यादि का बस मात्र इतना विकल्प मुनि को होता है। मुनि को इतनी मर्यादा का ही आस्रव होता है। यदि इससे अधिक आस्रव किसी को हो और उसे मुनि माने तो उस जीव को मुनि के आस्रव का भी भान नहीं है, मुनि के संवर का भी भान नहीं है और मुनि को अजीव का संयोग कितना घट गया है, इसका भी भान नहीं है। वह नव तत्त्व की श्रद्धा से विरुद्ध है। यहाँ तो ऐसी बात है भाई!

किसी को वस्त्र-पात्र का संयोग होने पर भी यदि उससे मुनिपना माना जाए तो उसे :—

१. मुनि को अजीव का कितना संयोग रहा है ? इसका पता नहीं है।

२. मुनि को आस्रवरूप विकल्प कितनी मर्यादा का होता है ? इसका पता नहीं है।

३. मुनि को संवर की कितनी उग्रदशा होती है ? इसका पता नहीं है।

www.vitragvani.com



४. मुनि को निर्जरा किस प्रकार की होती है? इसका पता नहीं है, और

५. मुनि ने द्रव्य का (जीव का) कितना आश्रय लिया है? इसका भी पता नहीं है।

ऐसी बात है। क्या यह बात कोई श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बिना प्रयोजन के कह दी है कि मुनि ने वस्त्र का धागा रखे तो निगोद में जाएगा? वह बात यों ही नहीं कह दी है। उस वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले की तो नव तत्त्व में महाभूल है और वह तो मिथ्यात्वभाव है; इसलिए वह निगोद में जाएगा – ऐसा कहा है। मिथ्यात्व का फल निगोद ही है। समयसार परिशिष्ट में अनेकान्त के चौदह भङ्ग में एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि को पशु कहा है। वहाँ कहा है कि एकान्त माननेवाला मिथ्यादृष्टि तो पशुगति में अवतरित होगा – ऐसा मार्ग है बापू! यह कोई किसी व्यक्ति के लिए बात नहीं है परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा है, वस्तु इस प्रकार रही है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

**उपेक्षासंयमियों को पुस्तक, कमण्डल आदि नहीं होते; वे परमजिनमुनि एकान्त में (सर्वथा) निस्पृह होते हैं; इसीलिए वे बाह्य उपकरणरहित होते हैं।**

अपहृत संयमवाले को शुभभाव होता है; इसलिए शुभभाव का निमित्त पुस्तक, कमण्डल इत्यादि भी होते हैं, जबकि उपेक्षासंयमवाले परम जिन मुनियों को एकान्ततः सर्वथा शुभराग का त्याग होता है; इसलिए बाह्य उपकरणों का भी उन्हें त्याग होता है।

मुनि को छठवाँ–सातवाँ गुणस्थान दिन में हजारों बार आता है। एक अन्तर्मुहूर्त में भी छठवाँ –सातवाँ गुणस्थान अनेक बार आता है। कारण यह है कि छठवें गुणस्थान की स्थिति / मर्यादा भी पौन सेकेण्ड के अन्दर है और सातवें गुणस्थान की स्थिति भी उससे आधी है। मुनि इन दो गुणस्थानों में आया–जाया करते हैं, किन्तु जब छठवें गुणस्थान में होते हैं; अर्थात्, विकल्प उत्पन्न होता है, तब उन्हें व्यवहारी साधु कहते हैं और विकल्प का अभाव होकर जब सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग में स्थित होते हैं, तब उन्हें निश्चय साधु / सर्व त्यागी साधु अथवा उपेक्षासंयमवाले साधु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उन्हें सब उपेक्षा हो गयी है, वे तो अन्दर में स्थिर हैं। यह बात श्री प्रवचनसार के तीसरे अधिकार *(गाथा २२२)* में भी अपवादमार्ग और उत्सर्गमार्ग के रूप में आती है तथा प्रवचनसार में यह भी कहा है कि मुनि को शरीर है, वह जो कि सदा साथ है, उपकरण है; मुनि गुरु की वाणी सुनते हैं, वह भी उपकरण है और मुनि विनय करते हैं, वह भी उपकरण है; तथापि मुनिराज को उसकी स्पृहा नहीं है *(गाथा २२५-२२६)* क्योंकि वह वाणी सुनना, विनय करना इत्यादि विकल्प है न? ऐसा मार्ग है। अहा! निर्मलता की धारा में ऐसा विनय अथवा वाणी सुनने

www.vitragvani.com



का विकल्प उत्पन्न होता है, वह मलिनता है और वे सास्रवी साधु हैं। जबकि सातवें गुणस्थानवाले निरास्रवी साधु हैं – ऐसी प्रवचनसार में मूल गाथा २४५ है। गजब बात है! देखो, सत्य ऐसा है। अहा! सत्य तो सत्य ही है; सत्य को कुछ भी उलटा-सीधा करने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि परमजिन मुनि; अर्थात्, वीतराग जिनस्वरूप आत्मा में अन्दर स्थिर हो गये मुनि, शुद्धोपयोग में रमनेवाले मुनि, सर्वथा निस्पृह होते हैं और इस कारण वे बाह्य उपकरणरहित होते हैं; अर्थात्, उन्हें वाणी सुनना, विनय करना इत्यादि ऐसे उपकरण नहीं होते तथा ज्ञान और संयम के निमित्तरूप जो जड़ उपकरण हैं, वे भी नहीं होते; उन्हें कोई उपकरण नहीं होते। हाँ, अब फिर उन्हें अभ्यन्तर उपकरण होते हैं – ऐसा कहेंगे। जबकि अपहृत संयमी को छठवें गुणस्थान में सच्चा ज्ञान और संयम होने पर भी शुभविकल्प उत्पन्न होता है, शुभरागरूप अल्प स्पृहा रही है; ज्ञान और संयम के उपकरण लेने रखने की वृत्ति होती है; इसलिए वे सर्वथा निस्पृह नहीं हैं – ऐसी बात है। अरे! यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। यह दिगम्बर धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु वस्तु की मर्यादा की स्थिति का वर्णन है; अतः यहाँ वस्तु की मर्यादा के वर्णन में मुनि की भूमिका में मलिनता का अंश कितना होता है और मलिनता मिटकर निर्मलता कितनी होती है? उसका वर्णन है।

**अभ्यन्तर उपकरणभूत, निज परमतत्त्व को प्रकाशित करने में चतुर – ऐसा जो निरुपाधिस्वरूप सहजज्ञान, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ उन्हें उपादेय नहीं है।**

सहजज्ञान, अर्थात् त्रिकाली स्वभाविक ज्ञान। देखो, अब कहते हैं कि अभ्यन्तर उपकरणभूत सहजज्ञान है और वह मुनि का उपकरण है। पूर्णानन्दस्वरूप अखण्ड अभेद निज परमतत्त्व को प्रकाशित करने में चतुर – ऐसा जो यह निरूपाधिस्वरूप स्वाभाविक ज्ञान है, जो पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह एक ही मुनि को उपादेय है; इसके अतिरिक्त वर्तमान पर्याय भी उपादेय नहीं है। अरे! वस्तु की ऐसी स्थिति है। पहले यह निर्णय तो कर! परन्तु जिसे देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं? शास्त्र के कथन कैसे होते हैं? उसके निर्णय का भी ठिकाना न हो, उसे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा ही कहाँ है? अहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी / कथनी तो देखो! वह वस्तु के स्वरूप का ही वर्णन करती है।

यहाँ कहते हैं कि पूर्ण ज्ञानघन, चिद्घन ऐसा जो पूर्ण शक्तिरूप सत्त्व है, वही धर्मी जीव का / मुनि का उपकरण है। मुनि की समीपता में सहजभाव पड़ा है और वह मुनि का उपकरण है।

अहा! पूर्ण ज्ञानस्वरूप, पूर्ण आनन्दस्वरूप, पूर्ण ध्रुवस्वरूप आत्मा के समीप में मुनिराज के परिणाम वर्तते हैं, किन्तु कोई बाहर नहीं रहते हैं; उन्हें शुद्धोपयोग में अकेले स्व का आश्रय होता है, जबकि शुभराग में पराश्रय होता है क्योंकि विकल्प, बहिर्लक्ष्य से उत्पन्न होता है।

यहाँ मात्र 'सहजज्ञान कहा है' किन्तु उसके साथ त्रिकाली सहज आनन्द, त्रिकाली सहज स्थिरता / शान्ति / चारित्र इत्यादि भी ले लेना और इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी मुनि को उपादेय नहीं है – ऐसा कहते हैं। अहा! उपकरण तो उपादेय नहीं, उपकरण सम्बन्धी राग तो उपादेय नहीं; परन्तु निर्मलपर्याय प्रगट हुई है, वह भी मुनि को उपादेय नहीं है। वे तो ध्रुवस्वरूप को ही उपादेय करके अन्दर स्वरूप में स्थित हैं। देखो, यह सातवें गुणस्थान की दशा! ऐसी दशा मुनि को एक दिन में हजारों बार आती है, एक अन्तर्मुहूर्त में अनेक बार सातवाँ गुणस्थान मुनि को आता है – ऐसा धवल में पाठ है। अहो! मुनि तो परमेश्वर पद में शामिल है न! मुनि की दशा तो देखो!!

**अपहृतसंयमधरों को परमागम के अर्थ का पुनः–पुनः प्रत्यभिज्ञान होने में कारणभूत – ऐसी पुस्तक, वह ज्ञान का उपकरण है....**

जो शुभविकल्प में आये हैं – ऐसे अपहृतसंयमवाले को भी है तो शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान और संयम; अर्थात्, उन्हें भी संयम / स्थिरदशा तो है परन्तु उन्हें सातवें गुणस्थान की शुद्धोपयोग दशा नहीं है; इसलिए वे शुभविकल्प में हैं और तब उन्हें ज्ञान के अभ्यास की निमित्तरूप पुस्तक होती है, वह उपकरण है। देखो, शास्त्र भी शुभविकल्प का निमित्त है तथा शास्त्र–पठन और वाँचना भी शुभविकल्प है – ऐसा कहते हैं। शास्त्र–पठन में लक्ष्य जाता है, वह विकल्प है, उससे कहीं शान्ति अथवा स्थिरता नहीं आती है; शान्ति अथवा स्थिरता तो अन्दर ध्रुव का आश्रय करने से आती है।

इस प्रकार कहा है कि शुद्धोपयोगवाले को निश्चय उपकरण आत्मा है; अर्थात्, शुद्धोपयोग का आश्रय आत्मा है, जबकि शुभविकल्पवाले को ज्ञान का उपकरण – ऐसा शास्त्र निमित्तरूप होता है। देखो! साधु, ज्ञान के उपकरण के रूप में शास्त्र पढ़ते तो हैं परन्तु वे व्यवहारी साधु हैं – ऐसा मार्ग है। अरे! ऐसी दशावन्त साधु कहाँ हैं ?

स्त्रियों को साधुपना होता ही नहीं, क्योंकि स्त्री को छठवाँ गुणस्थान ही नहीं होता है बापू! यह तो वस्तु की स्थिति है। भगवान्! यह बात कोई मात्र तेरे लिए ही नहीं है तथा तेरा अनादर करने

www.vitragvani.com



के लिए भी नहीं है। अरे! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है प्रभु! और वस्तु के स्वभाव में ऐसी स्थिति है, वहाँ अन्य प्रकार से कैसे माना जा सकता है? मोक्षमार्गप्रकाशक के छठवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने लिखा है कि 'जैसे, हंस नहीं दिखते, इस कारण कहीं कौए को हंस नहीं माना जा सकता।' बापू! मार्ग ऐसा है। भाई! इसकी श्रद्धा में ऐसा यथार्थ स्वरूप आना चाहिए; अर्थात्, यह निर्ग्रन्थपने को ही मुनिपना मानना चाहिए, किन्तु इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से मुनिपना नहीं मानना चाहिए।

अहा! यह तो वीतरागमार्ग है! क्या यह किसी के पक्ष का मार्ग है? नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ के ज्ञान में यह आया है कि मुनिदशा की भूमिका में ऐसी ही भूमिका होती है; अर्थात्, पाँच महाव्रतादि का विकल्प भी होता है; इसलिए यदि उसका यथार्थ ज्ञान नहीं करेगा तो ज्ञान विपरीत हो जाएगा। अहो! साधुपना किसे कहते हैं? बापू! अभी तो व्यवहारक्रिया का भी कहाँ ठिकाना है? क्योंकि साधु के लिये बनाये हुए चौके का आहार-पानी साधु लेते हैं; इसलिए वह तो एकदम उद्दिष्ट आहार-पानी है। अरे! जैन पत्रिकाओं में लेख आते हैं कि महाराज को आहार देने का लाभ लेने के लिए चौका करने पधारिये। अरे रे! क्या ऐसे लेख जैनदर्शन की पत्र-पत्रिकाओं में हो सकते हैं? एक ओर जैन के पत्र कहना और दूसरी ओर उसमें ऐसी गड़बड़ी की बातें डालना; अर्थात्, सिद्धान्त विरुद्ध लिखना! परन्तु लोगों को भान कहाँ है?

हमारे पूर्व (स्थानकवासी) सम्प्रदाय के गुरु हीराचन्दजी महाराज प्रातः पाँच-पाँच गाँवों का विहार करके आये हों तो पहले गाँव में नहीं जाते, किन्तु गाँव के बाहर कोई नहर हो तो वहाँ एकान्त में बैठकर एक दो घण्टे स्वाध्याय करते, फिर साढे नौ-दस बजने पर गाँव में जाते, वह इसलिए कि गाँव में कोई श्रावक रोटी, चावल अथवा पानी की बूँद भी साधु के लिए नहीं बनावे; तत्पश्चात् वे चार-पाँच घरों से आहार लेते और पानी नहीं मिले तो उसकी जगह छाछ ले लेते। यदि उन्हें पता पड़ जाए कि यह पानी, साधु के लिए बनाया है तो बिल्कुल नहीं लेते – ऐसी बहुत कठोर क्रिया थी। गाँव में हीराचन्दजी महाराज जाते, तब लोगों में हलचल हो जाती थी। वे गाँव में जाते, तब पहले व्याख्यान में यह उपदेश देते कि साधु के लिए आहार-पानी बनाकर साधु को दे, वह तो गर्भ में ही गल जाएगा। यद्यपि उन्हें वस्तु की / तत्त्व की और उसकी दृष्टि की खबर नहीं थी। जबकि यहाँ तो दिगम्बर साधु की क्रिया का भी ठिकाना नहीं है। हमारी भी सम्प्रदाय में बहुत कठोर क्रिया

www.vitragvani.com



थी क्योंकि उस समय ऐसा माना था कि साधु ऐसे ही होते हैं; इसलिए जैसा माना था, वैसा किया था, परन्तु वह साधुपना ही नहीं था; परन्तु उस समय इस बात का पता कहाँ था?

यहाँ देखो तो सही, मुनिराज ने कैसी टीका की है! वे कहते हैं कि मुनि को अभ्यन्तर उपकरणभूत निज भगवान आत्मा है और अपहृत संयमियों को पुनः-पुनः शास्त्र अध्ययन में स्वाध्याय करने में कारणभूत ऐसी पुस्तक, अर्थात् शास्त्र, ज्ञान का उपकरण हैं।

**शौच का उपकरण, कायविशुद्धि के हेतुभूत कमण्डल है; संयम का उपकरण – हेतु पींछी है।** छठवें गुणस्थान में सच्चे सन्त को इसी प्रकार के उपकरण का विकल्प होता है।

**इन उपकरणों को लेते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली प्रयत्नपरिणामरूप विशुद्धि ही आदाननिक्षेपणसमिति है – ऐसा ( शास्त्र में ) कहा है।**

विशुद्धि, अर्थात् शुभभाव। यह व्यवहार समिति की बात है, अर्थात् यह जीव के परिणाम की बात है, किन्तु बाह्य की, अर्थात् जड़क्रिया की बात नहीं है। यह उपकरण परवस्तु है, जड़ है और यह जड़ की क्रिया जीव कर ही कहाँ सकता है। पर की सत्तावाली वस्तु को लेना अथवा रखना यह कार्य जीव नहीं कर सकता; इसलिए इस जड़ की क्रिया को करने का प्रश्न ही कहाँ है? यह तो मात्र मुनि को विकल्प होता है कि यत्न से उपकरण रखना-लेना; इस विकल्प को व्यवहार समिति कहते हैं। बाहर की क्रिया; अर्थात्, परवस्तु लेना या रखना तो जड़ की क्रिया है, उस जड़ की क्रिया को आत्मा शुभभाव द्वारा भी नहीं कर सकता, क्योंकि उस जड़ उपकरण का लेना-रखना जड़ के कारण है। आत्मा को विकल्प आया; इसलिए आत्मा उस जड़ उपकरण को ले अथवा रख सकता है – ऐसा है ही नहीं।

अहा! यहाँ व्यवहारसमिति में अजीव की बात नहीं है परन्तु व्यवहारसमिति का शुभराग है, उसे ऐसा अजीव उपकरण निमित्तरूप होता है! बस; इतनी सी बात है। अहा! मार्ग तो जो है, वही होगा न बापू! वह दूसरा कैसे होगा? यह भगवान द्वारा कथित मार्ग है कि जिसे गणधर अनुभव करते हैं और इन्द्र भी स्वीकार करते हैं। क्या यह कोई दो-पाँच सौ मनुष्य मानते हों – ऐसा मार्ग है? नहीं। यहाँ कहते हैं कि जब मुनिराज, शुद्धात्मा की अनमोलदशा में से, शुद्धोपयोग में से च्युत हो जाते हैं, तब शुभभाव आता है और तब उन्हें ज्ञान का कारण – ऐसा उपकरण निमित्तरूप होता है। यद्यपि है तो यह व्यवहारसमिति का विकल्प भी बन्ध का कारण, तथापि वह आता है; वह शुभराग उत्पन्न हो, उसे आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। गजब बात करते हैं न!

www.vitragvani.com



श्वेताम्बर और दिगम्बर के बीच बहुत अन्तर है बापू! हजारों बोल का मूल में अन्तर है। वे अन्तरवाले बोल मैंने लिखे हैं क्योंकि मैंने तो दिगम्बर और श्वेताम्बर – दोनों के शास्त्र देखे हैं न? श्वेताम्बर के भी करोड़ों श्लोक देखे हैं। वे साधु के लिए वस्त्र-पात्र ग्राह्य मानते हैं और कहते हैं कि हमारे साधु को वस्त्र-पात्र होते ही हैं, किन्तु वे उनके प्रति मूर्च्छा नहीं रखते हैं परन्तु भाई! वस्त्र-पात्र रहे हैं, वह मूर्च्छा को ही बताते हैं; इसलिए वस्त्र-पात्र रखना, किन्तु मूर्च्छा नहीं रखना, यह परस्पर विरुद्ध बात है। अहा! श्वेताम्बर में बहुत अन्तर, अर्थात् विपरीतता है। भाई! बापू! वह तो मजदूर जैसा मार्ग है। यह किसी व्यक्ति के लिए बात नहीं है परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप है, यह कहना है। भाई! क्या हो सकता है? दुनियाँ को अच्छा लगे या न लगे, सत्य तो यह है।

कदाचित् दुनियाँ को यह बात अच्छी न लगे, परन्तु क्या इससे सत्य बदल जाएगा? दिगम्बर मत में '**आयानभंडमत निक्षेपणसमिति**' नाम नहीं है, किन्तु आदाननिक्षेपणसमिति नाम है, क्योंकि भंडमत; अर्थात्, वासन / बर्तन मुनि को कहाँ हैं? इस कारण आयानभंडमत निक्षेपणसमिति, यह श्वेताम्बर की शैली की भाषा है, किन्तु सनातन मार्ग में ऐसी भाषा अथवा समिति है ही नहीं। सनातन मार्ग में; अर्थात्, दिगम्बर मत में तो आदाननिक्षेपणसमिति, बस यह एक ही भाषा है तथा इस समिति में पुस्तक आदि निमित्तरूप होते हैं, जबकि श्वेताम्बर में साधु को वस्त्र-पात्र होते ही हैं – ऐसा कहते हैं। अरे! वस्त्र-पात्रवाले मुनि ही नहीं हैं। स्वयं वस्त्र-पात्र रखे और अपने को मुनि माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

## कलश ८७ पर प्रवचन

**उत्तम परमजिनमुनियों की यह समिति समितियों में शोभती है....** देखो, उत्तम परम जिन मुनियों की तो यह आदाननिक्षेपणसमिति है तथा सभी समितियों में यह समिति शोभित होती है।

**उसके सङ्ग में क्षान्ति और मैत्री होते हैं; अर्थात्, इस समितियुक्त मुनि को धीरज –सहनशीलता–क्षमा और मैत्रीभाव होते हैं.....**

क्षान्ति, अर्थात् क्षमा; जिसे ऐसी समिति होती है, उसे धीरज, अर्थात् सहनशीलता; अर्थात्, क्षमा तथा मैत्रीभाव होता है। अहा! मुनि को धीरज होता है; अर्थात्, वह उतावले नहीं होते, अपितु

www.vitragvani.com



शान्त होते हैं। देखो, वीतराग परमात्मा जिसे मुनिपना कहते हैं, वह ऐसा है। अहा! जिन्हें अन्दर में आत्मानुभव है, तदुपरान्त जिन्हें संयम और स्थिरता भी है तथा ऐसी समिति का भाव / विकल्प भी जिन्हें है, उन्हें साथ ही क्षमा और मैत्रीभाव भी होता है – यह कहते हैं।

**हे भव्य! तू भी मन–कमल में सदा वह समिति धारण कर, कि जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनी का प्रिय कान्त होगा; अर्थात्, मुक्तिलक्ष्मी का वरण करेगा।**

हे भव्य! तू ऐसी समिति को धारण कर! यहाँ तो मुनि की बात है न; इसलिए समिति को धारण करने को कहा है और मुनि की बात करके दूसरों को समझाते हैं कि मुनिपना ऐसा होता है। यदि इसके अतिरिक्त कोई दूसरे प्रकार से मुनिपना माने तो उसकी गुरु की श्रद्धा में भूल है और देव की श्रद्धा में भी भूल है क्योंकि देव; अर्थात्, भगवान् ने तो दूसरे प्रकार से मुनिपना कहा है – वैसा वह नहीं मानता है; अर्थात्, जैसा भगवान ने मुनिपना कहा है, वैसा वह नहीं मानता है तथा उसकी शास्त्र की श्रद्धा में भी भूल है क्योंकि शास्त्र में दूसरे प्रकार से मुनिपना नहीं कहा है, तथापि शास्त्र में दूसरे प्रकार से मुनिपना कहा है – ऐसा वह मानता है। इस प्रकार उसकी देव–शास्त्र–गुरु की; अर्थात्, तीनों की श्रद्धा में भूल है।

यहाँ कहते हैं कि इस समिति को धारण कर, जिससे तू तेरी अतीन्द्रिय परमानन्दरूपी मुक्तदशा का – परिणति का प्रियकान्त होगा, फिर वह परिणति तुझे एक समय भी नहीं छोड़ेगी।

**प्रश्न –** क्या मुनि को विकल्प आना अपवादमार्ग है?

**उत्तर –** हाँ, भाई! वस्तुस्थिति ऐसी ही है —

१. मुनि को विकल्प आवे, वह **अपवादमार्ग** है और विकल्परहित दशा, **उत्सर्गमार्ग** है।

२. मुनि को विकल्प आवे, वह **व्यवहारनय** है और अन्दर स्थिरता हो, वह **निश्चयनय** है।

३. मुनि को विकल्प आवे, वह **अपहृतसंयम** है और अन्दर स्थिरता हो, वह **उपेक्षासंयम** है।

४. मुनि को विकल्प आवे, वह **शुभोपयोग** है और अन्दर स्थिरता हो, वह **शुद्धोपयोग** है।

५. मुनि को विकल्प आवे, वह **एकदेश–परित्याग** है और अन्दर स्थिरता हो, वह **सर्वदेश–परित्याग** है।

अरे! लोगों को पता भी नहीं है कि वीतरागमार्ग क्या है? बस, वे तो जिस कुल में जन्में हों, वह मेरा धर्म – ऐसा मान लेते हैं। ●●

## गाथा ६५

**पासुगभूमिपदेसे गूढे रहित परोपरोहेण।**
**उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स॥ ६५॥**

**प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन।**
**उच्चारादित्यागाः प्रतिष्ठासमितिर्भवेत्तस्य॥ ६५॥**

**जो गूढ़ प्रासुक और पर-उपरोध बिन भू पर यती।**
**मल त्याग करते हैं उन्हें, समिति प्रतिष्ठापन कही॥ ६५॥**

**गाथार्थ :** जिसे पर के उपरोधरहित (दूसरे से रोका न जाये, ऐसा), गूढ़ और प्रासुक भूमिप्रदेश में मलादि का त्याग हो, उसे प्रतिष्ठापनसमिति होती है।

**टीका :** यह, मुनियों को कायमलादित्याग के स्थान की शुद्धि का कथन है।

शुद्धनिश्चय से जीव को देह का अभाव होने से अन्नग्रहणरूप परिणति नहीं है। व्यवहार से (जीव को) देह है; इसलिए उसी को देह होने से आहारग्रहण है; आहार-ग्रहण के कारण मलमूत्रादिक सम्भवित हैं ही। इसीलिए संयमियों को मलमूत्रादिक के उत्सर्ग का (त्याग का) स्थान जन्तुरहित तथा पर के उपरोधरहित होता है। उस स्थान पर शरीरधर्म करके फिर जो परसंयमी उस स्थान से उत्तर दिशा में कुछ डग जाकर उत्तरमुख खड़े रहकर, कायकर्मों का (शरीर की क्रियाओं का), संसार के कारणभूत हों ऐसे परिणामों का तथा संसार के निमित्तभूत मन का उत्सर्ग करके, निज आत्मा को अव्यग्र (एकाग्र) होकर ध्याता है अथवा पुनः पुनः कलेवर की (शरीर की) भी अशुचिता सर्व ओर से भाता है, उसे वास्तव में प्रतिष्ठापनसमिति होती है। दूसरे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यतिनामधारियों को कोई समिति नहीं होती।

अब, ६५ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं —

www.vitragvani.com



(मालिनी)

**समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं**
**जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम्।**
**मधुसखनिशितास्त्रव्रातसंभिन्नचेतः-**
**सहितमुनिमणानां नैव सा गोचरा स्यात्॥ ८८॥**

(हरिगीतिका)

**जिनमार्ग में जो कुशल एवं आत्म चिन्तन लीन हैं।**
**ऐसे यती को यह समिति साम्राज्य-शिव का मूल है॥**
**जिनका हृदय घायल हुआ है काम अस्त्र समूह से।**
**उन मुनिगणों को तो समिति यह कभी भी दिखती नहीं॥**

**श्लोकार्थ :** जिनमत में कुशल और स्वात्मचिन्तन में परायण, ऐसे यतियों को यह समिति मुक्तिसाम्राज्य का मूल है। कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्र समूह से भिदे हुए हृदयवाले मुनिगणों को वह (समिति) गोचर होती ही नहीं।

(हरिणी)

**समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यंगनाभिमतामिमां**
**भवभवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम्।**
**मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा**
**जिनमततपः सिद्धं यायाः फलं किमपि ध्रुवम्॥ ८९॥**

(वीरछन्द)

**मुक्ति कामिनी को जो प्रिय है सर्व समिति में समिति यही।**
**भवभय तम के नाश हेतु जो प्रभा समान कलाधर की॥**
**हे मुनि! जान प्रमोदभाव से, सखि-सत्-दीक्षा-कामिनी की।**
**प्राप्ति करे जिनकथित तपस्या-साध्य किसी शाश्वत फल की॥**

**श्लोकार्थ :** हे मुनि! समितियों में की इस समिति को कि जो मुक्तिरूपी स्त्री को प्यारी है, जो भव-भव के भयरूपी अन्धकार को नष्ट करने की लिये पूर्ण चन्द्र की प्रभा समान है तथा तेरी सत्-दीक्षारूपी कान्ता की (सच्ची दीक्षारूपी प्रिय स्त्री की) सखी है; उसे अब प्रमोद

www.vitragvani.com



से जानकर, जिनमतकथित तप से सिद्ध होनेवाले ऐसे किसी (अनुपम) ध्रुव फल को तू प्राप्त करेगा।

(द्रुतविलंबित)

**समितिसंहतितः फलमुत्तमं**
**सपदि याति मुनिः परमार्थतः।**
**न च मनोवचसामपि गोचरं**
**किमपि केवलसौख्यसुधामयम्॥ ९०॥**

(वीरछन्द)

**समिति संगति द्वारा मुनिगण मन अरु वचन अगोचर जो।**
**ऐसा कोई केवलसुख अमृतमय उत्तम फल पाते॥**

**श्लोकार्थ :** समिति की सङ्गति द्वारा वास्तव में मुनि, मन-वाणी को भी अगोचर (मन से अचिन्त्य और वाणी से अकथ्य) ऐसा कोई केवलसुखामृतमय उत्तम फल शीघ्र प्राप्त करता है।

**गाथा ६५ पर प्रवचन**

**यह, मुनियों को कायमलादित्याग के स्थान की शुद्धि का कथन है।**

यह कायमलादित्याग के; अर्थात्, दिशा-जङ्गल जाने आदि के स्थान की शुद्धि का कथन है।

**शुद्धनिश्चय से जीव को देह का अभाव होने से अन्नग्रहणरूप परिणति नहीं है।**

देखो, मूल, अर्थात् पहली बात यह करते हैं कि शुद्धनिश्चय से आत्मा के देह नहीं है; इसलिए अन्न ग्रहण करने का विकल्प भी आत्मा को नहीं है। आत्मा में वैसा विकल्प है ही नहीं। वस्तु की शुद्धदृष्टि और शुद्धपरिणति में अन्न ग्रहण का विकल्प ही नहीं है। जीव को अन्न ग्रहण परिणति नहीं है, यह कहने से अन्न ग्रहण करने का विकल्प ही वस्तु में; अर्थात्, जीवद्रव्य में नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मल-मूत्रादि के त्याग के काल में पाँचवीं समितिरूप शुभभाव व्यवहार से जीव को होता है, किन्तु निश्चय दृष्टि में तो जीव को यह राग नहीं है क्योंकि शुद्धनिश्चय से जीव के देह ही नहीं है तो फिर मल-मूत्र का त्याग करना भी नहीं है। जिसे जड़ देहरहित ज्ञान विग्रह है; अर्थात्, जिसे ज्ञान

www.vitragvani.com



और आनन्दरूप शरीर है – ऐसे शुद्ध स्वरूप आत्मा को, जब यह जड़ शरीर ही नहीं है तो फिर इस शरीर के मल–मूत्र का त्याग करना है – ऐसे विकल्परूप परिणति ही वस्तुतः उसे नहीं है। देखो, यह बात चलती है पाँचवीं समिति की; अर्थात्, काया के मल–मूत्र के त्याग की; इसलिए यह बात जिसे ऐसे विकल्प का काल हो, उसके लिये है; तथापि यहाँ सर्व प्रथम वस्तुस्थिति की बात करते हैं कि वस्तुस्थिति में; अर्थात्, जीव के स्वभाव में मल–मूत्र के त्याग का विकल्प ही नहीं है।

अन्तर में चिदानन्द भगवान आत्मा, परम अतीन्द्रिय आनन्द की कतली है और उसके रस को चूसनेवाले मुनिराज हैं। अहा! मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द के चूसनेवाले हैं। जैसे, लोग गन्ने का रस चूसते हैं; उसी प्रकार वस्तुतः मुनिराज / सन्त तो अतीन्द्रिय आनन्दरसकन्द प्रभु भगवान आत्मा में एकाग्र होकर उसके आनन्दरस को चूसते हैं। उन्हें निश्चय अन्तरस्वभाव की दृष्टि और परिणति है। उसमें अन्न ग्रहण के विकल्प का अभाव है; अर्थात्, मुनि को व्यवहार का अभाव है – ऐसा कहते हैं। देखो, यह बात सबसे पहले सिद्ध करते हैं – ऐसी चीज है। बहुत अद्भुत बात है।

अरे! जिसने अन्दर में राग का मल / मैल छोड़ दिया है, उसे मल–मूत्र का त्याग क्या? अर्थात्, उसे मल–मूत्र के त्याग का विकल्प क्यों होगा? जिसने अन्दर में ग्रहण योग्य पूर्णानन्दस्वरूप चैतन्य का ग्रहण करके शुद्धपरिणति प्रगट की है, उसे देह ही नहीं है तो फिर देह के मल–मूत्र के त्याग का विकल्प उसकी शुद्धपरिणति में हो – ऐसा कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि उसे इस प्रकार के विकल्प का अभाव है। इस प्रकार कहकर यहाँ दो बातें सिद्ध करते हैं कि निश्चय सम्यग्दृष्टिवन्त मुनि को मल–मूत्रादिक के त्याग का विकल्प आता है, उसका अपनी शुद्धपरिणति में अभाव है। ऐसा विकल्प, वह व्यवहार है और उसका वस्तु की अन्तरपरिणति में ग्रहण नहीं है। निर्मलानन्द प्रभु आत्मा शुद्ध आनन्दघन है और अकेले ज्ञान का पुञ्ज है। उसे चूसने में जो एकाग्र है, उस मुनि की अन्तरपरिणति में ऐसे व्यवहार के विकल्पों का अभाव है। बापू! तेरा मार्ग तो ऐसा है। अन्दर का उत्सर्गरूप प्रवाहमार्ग; अर्थात्, शुद्ध चैतन्य में आरूढ़ होकर निर्मलपरिणति प्रवाहित होना, वह तेरा मार्ग है और उसमें इस व्यवहार के शुभविकल्प का अभाव है – ऐसा कहते हैं।

एक बार सम्प्रदाय के एक आचार्य को यहाँ के कितने ही शास्त्र दिये थे। उन्होंने पढ़े और फिर कहा कि हम तो व्यवहार में पढ़े हैं, इसमें हमें तो कुछ समझ नहीं पड़ती। परन्तु व्यवहार भी किसे कहना? कि जिसे अन्दर में शुद्ध चैतन्य का निर्मल वीतरागी परिणमन हुआ है, उसे जो

विकल्प आता है, उसे व्यवहार कहा जाता है, तथापि साधक जीव के निश्चय परिणमन में वह व्यवहार है ही नहीं।

**प्रश्न –** सम्यक्व्यवहार, अर्थात्?

**उत्तर –** निश्चयसहित के व्यवहार को सम्यक्व्यवहार कहते हैं; इसके अतिरिक्त अकेला व्यवहार; अर्थात्, शुभभाव हो, वह व्यवहार है ही नहीं। यहाँ कहते हैं कि निश्चयपरिणति में विकल्परूप व्यवहार का अभाव है क्योंकि वह राग है। अरे! जहाँ धर्मी जीव / सम्यग्दृष्टि भी अन्दर में राग से मुक्त है तो मुनि की दशा तो बहुत ही वीतरागी परिणतिरूप से परिणमित हुई है; इसलिए उन्हें सञ्ज्वलन के राग का जो मन्द उदय है, उसका भी निश्चयपरिणति में त्याग है। बापू! वीतराग बात तो ऐसी है।

अहा! आत्मा वीतरागपिण्डमय प्रभु है। पण्डित बनारसीदासजी के नाटक – समयसार में आता है कि '**जिनपद नाही शरीर कौ, जिनपद चेतनमाही...**' *(जीवद्वार, पद २७)* शरीर आदि जिनपद नहीं हैं, रागादि भी जिनपद नहीं हैं; जिनपद तो चैतन्य में है। ज्ञान-आनन्द और वीतरागी स्वभावमय यह जिनपद चेतन्यमय है – ऐसे जिनपद का अनुभव जिसे वर्तता है, वह समकिती है। तदुपरान्त जिन्हें उग्र आनन्द में प्रचुर स्वसंवेदनमयदशा प्रगट हुई है, वे मुनि हैं; उन्हें अन्न ग्रहण की परिणति का अभाव है; अर्थात्, वे राग से भिन्न रहते हैं।

**व्यवहार से ( जीव को ) देह है; इसलिए उसी को देह होने से आहारग्रहण है...**

जीव को; अर्थात्, मुनि को निमित्तरूप से संयोगी वस्तु ऐसी देह है। निमित्तरूप से देह है, इसलिए आहारग्रहण का विकल्प होता है। 'आहारग्रहण है' का अर्थ यह है कि मुनि को आहारग्रहण करने का विकल्प होता है, इतना कहना है। आहारग्रहण तो आहार के; अर्थात्, पुद्गल के कारण हो जाता है परन्तु उस समय आहारग्रहण का विकल्प होता है – यह कहना है।

**आहारग्रहण के कारण मलमूत्रादिक सम्भवित हैं ही ....** आहार किया है; इसलिए फिर मल-मूत्रादि होते ही हैं, मल-मूत्रादि, अर्थात् विष्ठा, पेशाब, थूक इत्यादि।

**इसीलिए संयमियों को मलमूत्रादिक के उत्सर्ग का ( त्याग का ) स्थान जन्तुरहित तथा पर के उपरोधरहित होता है।**

जहाँ वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव भी न हों और 'इतने क्षेत्र में किसी को नहीं आना

www.vitragvani.com



है', इस प्रकार किसी की आज्ञा से विरुद्ध न हो; अर्थात्, किसी का विरोध न हो, वहाँ मुनि, मल-मूत्रादि का त्याग करते हैं। अभी तो देखो न! चारों ओर हरियाली है, वह एकेन्द्रिय जीव है, उसके एक-एक टुकड़े में असंख्य जीव हैं। जो पहिले ताजे अंकुर फूटते हैं, उनमें तो अनन्त जीव होते हैं, किन्तु फिर उसमें प्रत्येक जीव हो जाता है; अत: ऐसे जीव-जन्तुवाली जमीन पर मुनिराज, मल-मूत्र का त्याग नहीं करते हैं।

पाँचवीं समिति के विकल्प में ही इस जाति की मर्यादा होती है कि जन्तुवाली जमीन पर मल-मूत्र के लिए नहीं बैठना। जहाँ अंकुर नहीं उगे हो, हरियाली भी न हो – ऐसी चींटी आदि जीव-जन्तुरहित जमीन को देखकर मुनिराज, मल-मूत्र का त्याग करते हैं क्योंकि मुनि तो छह काय की हिंसा के त्यागी हैं न! यह व्यवहारसमिति के विकल्प की बात है।

अहा! यह वनस्पति एकेन्द्रिय जीव है, इसके एक-एक टुकड़े में असंख्यात जीव हैं। राई के टुकड़े जितनी हरित वनस्पति लो तो उसमें असंख्य शरीर हैं और उस एक-एक शरीर में एक-एक जीव है; जबकि नये उगनेवाले अंकुर में तो एक शरीर में अनन्त जीव हैं और ऐसे असंख्य शरीर का एक अंकुर होता है। वीतराग के मार्ग में इस प्रकार इतने ज्ञेय हैं और उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी उतना ही विशाल है – ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आता है! उन एकेन्द्रिय जीवों की दया पालना या नहीं ? उसका यहाँ प्रश्न नहीं है, क्योंकि आत्मा पर की दया पालन नहीं कर सकता, किन्तु यह तो इतने अधिक जो जीव और जड़रूप ज्ञेय हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी इतना ही विशाल है, यह कहना है।

यहाँ कहते हैं कि मुनि को मल-मूत्रादिक के त्याग का विकल्प होता है परन्तु जहाँ जीव की स्थिति हो – ऐसी जीव-जन्तुवाली जमीन में मल-मूत्रादि का त्याग नहीं करते हैं। बापू! यह तो वीतरागमार्ग है भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर ने एक समय में तीन काल और तीन लोक देखा है तो उस पर्याय की सामर्थ्य कितनी है ? और ऐसे सर्वज्ञदेव ने बिना इच्छा के ओम् ध्वनि / दिव्यध्वनि द्वारा यह कहा है कि मुनियों का मार्ग ऐसा होता है।

देखो, अन्वयार्थ में पहला शब्द है न कि **परोपरोधेनरहिते;** अर्थात्, इन्कार किया हो कि आपको इस जगह नहीं आना है, मल-मूत्र नहीं करना है तो वहाँ मुनिराज नहीं जाते, मल-मूत्र का त्याग नहीं करते। जङ्गल में किसी ने तार की बाड़ से जमीन को बाँध दिया हो कि इतनी जमीन हमारी है, वहाँ से साधु निकलते हों, तब मल-मूत्र के त्याग का प्रसङ्ग हो तो मुनिराज उस जमीन

www.vitragvani.com



पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करते। अहा! सच्चे मुनि तो जङ्गल में बसते हैं, उन्हें आत्मध्यान के आनन्द में इतनी अधिक मस्ती चढ़ गयी होती है कि जहाँ मनुष्य का आवागमन हो, वहाँ उनका स्थान नहीं होता – ऐसे एकान्त स्थान में भी मल-मूत्र का त्याग करना हो तो जहाँ जन्तुरहित और पर के उपरोधरहित जमीन हो, वहाँ मल-मूत्र का त्याग करते हैं – ऐसी छह काय के जीवों की रक्षा का विकल्प मुनिराज को होता है। अहो! गजब बात है।

**उस स्थान पर शरीरधर्म करके.....** देखो! मल-मूत्र को त्यागने के लिए जाना – यह शरीर का धर्म; अर्थात्, स्वभाव है, किन्तु जीव का धर्म नहीं है – ऐसा यहाँ कहते हैं। वह शरीरधर्म करके.... **फिर जो परसंयमी उस स्थान से उत्तर दिशा में कुछ डग जाकर, उत्तरमुख खड़े रहकर, कायकर्मों का ( शरीर की क्रियाओं का ) का..... उत्सर्ग करके.....**

**प्रश्न –** मुनिराज उत्तर दिशा में किसलिए जाते हैं ?

**उत्तर –** पूर्व और उत्तर, यह विशेष दिशा है न! अतः यहाँ उत्तर दिशा विशेष गिनी है।

**प्रश्न –** ऐसी क्रिया आवश्यक है ?

**उत्तर –** आवश्यक नहीं है परन्तु ऐसी क्रिया होती है, फिर भी मुनि उस क्रिया को भी लक्ष्य में से छोड़ देते हैं। शरीर की इस प्रकार की क्रिया हो, तब वे जानते हैं कि ये क्रिया होती है तथा उस समय व्यवहारसमिति का विकल्प होता है, उसे भी वे जानते हैं कि यह विकल्प है, फिर उसे भी लक्ष्य में से छोड़ देते हैं – ऐसी बात है। यह तो सर्वज्ञ का कहा हुआ पन्थ है, यह कोई साधारण व्यक्ति का कहा हुआ पन्थ नहीं है; इसलिए बापू! वीतरागमार्ग समझना दुर्लभ है। 'कायकर्मों का उत्सर्ग करके' अर्थात्, आत्मध्यान के समय शरीर की क्रिया का लक्ष्य भी छूट जाता है – ऐसा कहते हैं।

**संसार के कारणभूत हों – ऐसे परिणामों का..... उत्सर्ग करके.....**

भाषा देखो, अहो! ऐसा करना, ऐसा छोड़ना यह राग है, जो व्यवहारसमिति है; वस्तुतः वह भी संसार का कारणभूत परिणाम है – ऐसा यहाँ कहते हैं क्योंकि वह शुभविकल्प है न! जीव-जन्तुवाली जगह पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना – ऐसा विकल्प है, वह भी राग है, संसार है, संसार का कारण है। 'संसार के कारणभूत हों – ऐसे परिणामों का.....' कहने से मुनि को व्यवहारसमिति का विकल्प उत्पन्न होता है, वह संसार का कारण है क्योंकि उन्हें दूसरा कोई

www.vitragvani.com



संसार का कारण नहीं है; अर्थात्, उन्हें अशुभ विकल्प नहीं होता; उन्हें शुभभावरूप उदयभाव होता है, वही संसार है, संसार का कारण है।

अहा! भगवान आत्मा का स्वरूप तो संसार के कारण से रहित है। ऐसा शुद्ध आनन्दघन प्रभु आत्मा, जिसकी निर्मलानन्ददशा में / परिणति में वर्तता है, उस मुनि को ऐसी समिति का विकल्प आता है, वह संसार का कारण है और उस विकल्प को मुनि छोड़ देते हैं। देखो, यहाँ तो व्यवहार-एषणासमिति का विकल्प; अर्थात्, निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करने की वृत्ति और व्यवहार प्रतिष्ठापनसमिति का विकल्प; अर्थात्, निर्दोषरूप से मल-मूत्र का त्याग करने की वृत्ति भी संसार का कारण है - ऐसा कहते हैं। अरे! अज्ञानी को अभी व्यवहारसमिति किसे कहते हैं और निर्दोष आहार-पानी कैसे लिये जाते हैं? इसकी समझ का भी ठिकाना नहीं है और अपने को मुनि मानता है।

यहाँ कहते हैं कि वीतरागस्वभाव में आरूढ़ हुए आत्मा को यह व्यवहारसमिति का राग संसार का कारण है। धन्य रे मार्ग!

**प्रश्न –** व्यवहारसमिति का राग करना तो पड़ता है न?

**उत्तर –** भाई! मुनि को व्यवहारसमिति का राग आता है, करना नहीं पड़ता; वे उस राग के भी कर्ता नहीं हैं। यहाँ व्यवहारसमिति के राग की बात है, किन्तु बाह्य जड़क्रिया की बात नहीं है क्योंकि बाह्य जड़क्रिया जीव कब करता है? इसलिए कहा है कि व्यवहारसमिति का राग आता है, उसके कर्ता भी मुनि नहीं हैं; वे तो राग आता है, वह संसार का कारण है - ऐसा जानकर अन्दर स्वभाव में स्थिर होते हैं। अब, जहाँ मुनि को व्यवहारसमिति का विकल्प भी संसार का कारण है, वहाँ अज्ञानी के आर्तध्यान-रौद्रध्यान, कमाना, खाना, भोगना इत्यादिरूप पाप तो महा-संसार का कारण है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा के ज्ञानी-ध्यानी, आत्मा में रमनेवाले मुनियों को, सन्तों को भी शरीर का निमित्त (संयोग) सम्बन्ध है; इसलिए मल-मूत्र के त्याग का प्रसङ्ग होता है; अर्थात्, ऐसा विकल्प आता है, तथापि मुनिराज वह सब शरीरधर्म करके संसार का कारण - ऐसा व्यवहारसमिति का विकल्प छोड़ देते हैं।

**तथा संसार के निमित्तभूत मन का उत्सर्ग करके.....** मन का सम्बन्ध करता है, वहाँ

www.vitragvani.com



राग उत्पन्न होता है, जो कि संसार का कारण है; इसलिए मुनि, मन का भी उत्सर्ग करते हैं। मन का सम्बन्ध करना, वह संसार है और भगवान आत्मा का सम्बन्ध करना, वह मोक्ष का मार्ग है। अहा! सन्त तो अन्तरस्वभाव में शान्तरस से, वीतरागरस से जम गये हैं। श्लोक ८७ में भी आया था कि मुनि को धीरज, सहनशीलता, क्षमा और मैत्रीभाव होता है। मुनिराज को धीरज; अर्थात्, अत्यन्त शान्तरस प्रगट हुआ है, बहुत ही सहनशीलता है, बहुत ही शान्ति; अर्थात्, क्षमा प्रगट हुई है और समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव है – ऐसे मुनि को मल-मूत्र का त्याग करनेरूप देहक्रिया के समय विकल्प होता है परन्तु फिर मन के सम्बन्ध से हुए उस विकल्प को वे तोड़ देते हैं।

देखो, भाषा क्या है ? कि 'संसार के निमित्तभूत मन का उत्सर्ग करके' अर्थात्, यहाँ हृदय में जड़ मन है, उसके सम्बन्ध में आने पर राग होता है और वह राग संसार का कारण है; इसलिए उसका मुनिराज उत्सर्ग करते हैं। अहा! वाणी जड़, शरीर जड़ और खिले हुए पंखुड़ीवाले कमल के आकाररूप हृदय में द्रव्यमन है, वह भी जड़ है। वाणी, शरीर और मन – ये तीनों जड़ हैं और अजीव होकर रहे हैं। जबकि उनसे भिन्न स्वयं भगवान आत्मा है। अत: कहते हैं कि मन का सम्बन्ध होने पर भी राग होता है, फिर भले ही वह शुभराग हो और वह राग, संसार का ही कारण है।

देखो, यहाँ व्यवहारसमिति की बात में भी यही बात कहते हैं कि मल-मूत्र का त्याग देखकर करना इत्यादि व्यवहारसमिति के विकल्प के समय मन का सम्बन्ध होता है, राग का सम्बन्ध होता है; जबकि भगवान आत्मा तो मन के सम्बन्धरहित वस्तु है। अब, ऐसी वस्तु जिसे दृष्टि में / सम्यग्दर्शन में आयी है, तदुपरान्त जिसे राग के अभावस्वरूप शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, उस मुनि को व्यवहारसमिति का विकल्प आता अवश्य है, क्योंकि अभी शरीर है; इस कारण मल-मूत्र के त्याग का विकल्प होता है परन्तु फिर उस विकल्प को वे मुनिराज छोड़ देते हैं। अहा! यह मार्ग कायरों द्वारा झेलना अथवा सुनना भी कठिन पड़े, ऐसा है। कहा है न कि —

**वचनामृत वीतराग के, परम शान्तरस मूल**
**औषध जो भवरोग के, कायर को प्रतिकूल**

भगवान की वाणी शान्त... शान्त... शान्त... होती है। वह वीतरागता को बतानेवाली, ग्रहण करानेवाली और राग को छुड़ानेवाली है। हाँ, वीतरागवाणी, राग का ज्ञान करनेवाली है कि इस भूमिका में ऐसा राग होता है। इससे तू भी 'ऐसा राग यहाँ होता है' इस प्रकार जाननेवाला है, तथापि

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



वह राग छोड़ने योग्य है, आदर करने योग्य नहीं। अरे, व्यवहारसमिति भी आदर करने योग्य नहीं है – ऐसा वीतराग की वाणी कहती है।

भाई! तेरा स्वभाव वीतराग मूर्ति है न! प्रभु! तू राग से रहित निष्क्रिय, अकषायस्वभाव का पिण्ड है – ऐसे अकषायस्वभाव का आश्रय लेकर, जिसने प्रथम समकित के योग्य और फिर मुनि के योग्य अकषायस्वभाव की निर्मलदशा प्रगट की है, उसे संसार के निमित्तभूत मन का सम्बन्ध उत्सर्ग करने / छोड़ देने योग्य है। देखो, यहाँ जड़ मन को संसार का निमित्त और उसके सम्बन्ध से जो परिणाम होते हैं, वह संसार का मूल है – ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है कि जड़कर्म है, वह तो संसार का निमित्त है और उसका सम्बन्ध करने से जो परिणाम होते हैं, वह संसार का मूल कारण है – ऐसा कहते हैं। देखो, ऊपर कहा है न कि संसार के कारणभूत हों – ऐसे परिणाम का तथा संसार के निमित्तरूप मन का... इस प्रकार कहा है न भाई! इसका आशय यह है कि व्यवहारसमिति का शुभविकल्प / विकार, संसार का कारण है और उस विकल्प में मन का सम्बन्ध; अर्थात्, मन निमित्त होने से मन, संसार का निमित्त है। दूसरे प्रकार से कहें तो संसार का निमित्त, जड़मन और संसार का उपादान; अर्थात्, मूल कारण अपना विकारीपरिणाम, इन दोनों को; अर्थात्, संसार के निमित्तभूत मन और संसार के कारणभूत विकारीपरिणाम को मुनिराज लक्ष्य में से छोड़ देते हैं।

अहा! जिसकी दृष्टि में अपूर्णता व विपरीतता भी नहीं है; अरे! यह व्यवहारसमिति का विकल्प उठे, वह भी जिसकी दृष्टि में नहीं है, किन्तु जिसकी दृष्टि में निर्मलानन्द प्रभु चैतन्य भगवान आत्मा / परिपूर्ण परमात्मा मैं हूँ – ऐसा दिखता है, उन मुनि की बात करते हुए यहाँ कहते हैं कि ऐसी मुनिपने की स्थिति में भी शरीर का सम्बन्ध होने से मल-मूत्र उत्पन्न होने का तथा उनके त्याग का प्रसङ्ग बनता है और तब मल-मूत्र के त्याग सम्बन्धी जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह संसार का कारण है; उस विकल्प में / परिणाम में मन का सम्बन्ध होता है, मन निमित्त होता है।

अब कहते हैं कि मुनिराज —

१. व्यवहारसमिति के शुभपरिणाम के समय मल-मूत्रादिक निकलनेरूप काया की जड़रूप क्रिया है, उसे छोड़ देते हैं; अर्थात्, मुनिराज शरीर की क्रिया का लक्ष्य छोड़ देते हैं।

२. संसार के मूल कारण – ऐसे व्यवहारसमिति के परिणाम को छोड़ देते हैं, और

www.vitragvani.com



३. व्यवहारसमिति के शुभपरिणाम का निमित्त – ऐसा जड़मन है, उसका भी सम्बन्ध छोड़ देते हैं।

देखो, यह मुनिराज की बात चलती है।

**प्रश्न –** मुनिराज, मन का सम्बन्ध छोड़ दें, तब तो वे वीतराग हो जाएँ?

**उत्तर –** सुन! जितना मन का सम्बन्ध छूटा है, उतने वीतराग ही हैं – ऐसा मुनिपना है। अरे! सम्यग्दर्शन भी कैसा है बापू! कि उसमें समकिती को पूर्णानन्द का नाथ दृष्टि में आया है और उसे व्यवहार का; अर्थात्, दया-दान-व्रतादि की शुभक्रिया के परिणाम का भी त्याग वर्तता है, क्योंकि उस राग का स्वभाव में अभाव है। जब समकिती की दशा ऐसी है, तब यहाँ तो मुनि की बात चलती है कि जो अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं, वे संसार के कारणरूप परिणाम का त्याग करते हैं और कायोत्सर्ग करते हैं; अर्थात्, काया का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप में स्थिर होते हैं। देखो, इसे यहाँ कायोत्सर्ग कहते हैं तथा वे मन का भी उत्सर्ग करते हैं; अर्थात्, मन के सम्बन्ध का त्याग करते हैं, मन का सम्बन्ध छोड़ते हैं; ध्यान में लीन होकर मन को भी छोड़ देते हैं, यह नास्ति से बात की है।

अब, फिर वे क्या करते हैं, यह कहते हैं।

**निज आत्मा को अव्यग्र ( एकाग्र ) होकर ध्याता है...**

मल-मूत्रादि का त्याग करके, फिर मुनिराज अपने आनन्दस्वरूप आत्मा को ध्यान में लेकर अव्यग्ररूप से / एकाग्ररूप से उसका ध्यान करते हैं; अर्थात्, आत्मा को ध्येय बनाकर उसमें स्थिर होते हैं। देखो, व्यवहारसमिति के विकल्प के बाद मुनि का यह कर्तव्य है कि काय-क्रिया का लक्ष्य, विकल्प और मन का सङ्ग छोड़कर अन्दर ध्यान में जाना – ऐसा यहाँ कहते हैं। अरे! श्वेताम्बरों ने तो सम्पूर्ण बात ही बदल डाली है। वीतराग का जो परम्परा मार्ग था, वह सब बदल डाला है। अरे, सब शास्त्र ही नये कल्पित बनाये हैं न!

यहाँ कहते हैं कि मुनि को व्यवहार से शरीर है; इसलिए अन्न ग्रहण है और इसलिए मल -मूत्रादि भी है। उन मल-मूत्रादि के त्याग के समय जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह विकल्प भी स्वरूप में नहीं है; इसलिए ऐसा विकल्प भी बन्ध का-संसार का कारण है। तात्पर्य यह है कि मन का सङ्ग करके जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, वह बन्ध का कारण है; इस कारण मुनिराज उन्हें

www.vitragvani.com



छोड़कर निज आत्मा को ध्याते हैं। देखो, 'मुनि निज आत्मा को ध्याते हैं' – ऐसा यहाँ कहा है परन्तु भगवान को अथवा अरहन्त को ध्याते हैं – ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वे भगवान और अरहन्त तो पर हैं और पर का ध्यान करने से राग होता है।

अहा! मिथ्यादृष्टि को कहाँ कुछ है? निश्चय भी कहाँ है और व्यवहार भी कहाँ है? जबकि यहाँ तो जिसे स्वरूप की दृष्टि / भान और अनुभव प्रगट हुआ है तथा स्वसंवेदन की / प्रत्यक्ष आनन्द की उग्रता जिसकी दशा में वर्तती है – ऐसे मुनि की बात है और वे ही सच्चे मुनि हैं; अत: कहते हैं कि मुनि, निज आत्मा को अव्यग्र होकर ध्याते हैं। देखो, अव्यग्र होकर कहने से यह बात भी आ जाती है कि व्यवहारसमिति का विकल्प है, वह व्यग्रता है और उसे छोड़कर चिदानन्द भगवान आत्मा में अव्यग्र / एकाग्र होकर आत्मा को ध्याते हैं। देखो, यह निर्विकल्प ध्यान!

अहा! व्यवहारसमिति की बात करते हैं तो भी उसमें यह निश्चय की बात की है, क्योंकि निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? और निश्चयसहित व्यवहार होने पर भी, व्यवहार का निश्चय में अभाव है – ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। शुद्धपरिणति में शुभराग का अभाव है, तथापि मुनि को शुभराग होता है और तब भी वे उसे छोड़कर निज स्वरूप के ध्यान में लीन होते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

यह मार्ग है बापू! अरे, भाई! यह रीति है – ऐसा पहले जान तो सही! परन्तु अभी जिसे इस मार्ग को अथवा रीति को जानने का ठिकाना भी नहीं है, जिसकी श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है, वह मार्ग को अथवा रीति को किस प्रकार प्राप्त करेगा? यह तो अभी व्यवहारश्रद्धा है, परलक्ष्यी ज्ञान है, परन्तु जिसके परलक्ष्यी ज्ञान में भी यथार्थता नहीं है, उसे स्वलक्ष्यी ज्ञान की यथार्थता आती ही नहीं। अहा! परलक्ष्यी ज्ञान में भी अभी जिसे यथार्थता नहीं आयी है; अर्थात्, व्यवहार से लाभ होता है – ऐसा जो जानता है, उसका तो वह परलक्ष्यी ज्ञान भी मिथ्या है परन्तु जो परलक्ष्यी ज्ञान में यथार्थपना आया है; अर्थात्, राग से, व्यवहार से लाभ नहीं है और समकिती, व्यवहार से मुक्त है – इत्यादि ऐसा ज्ञान समकित होने के पूर्व हुआ है, वह भी अभी परलक्ष्यी ज्ञान है, किन्तु सम्यग्ज्ञान नहीं; सम्यग्ज्ञान तो उस परलक्ष्यी ज्ञान का भी लक्ष्य छोड़कर स्व-चैतन्य का लक्ष्य करने पर प्रगट होनेवाली ज्ञान की दशा को कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि मुनिराज 'मेरा पूर्ण प्रभु मैं हूँ, मैं ही भगवान हूँ' – ऐसा; मात्र ऐसा विकल्प

www.vitragvani.com



नहीं, किन्तु आत्मा को ध्यान में लेकर अपने पूर्ण महिमावन्त भगवानस्वरूप स्वभाव में एकाग्र होते हैं, उसे ध्याते हैं, धाते हैं, अर्थात् आनन्द का स्वाद लेते हैं। जैसे, बालक माता को धाता है, तब दूध पीता है न! इसी प्रकार मुनिराज, अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ भगवान आत्मा में एकाग्र होकर उसे धाते हैं, तब आनन्द पीते हैं; निर्विकल्प आनन्द का स्वाद लेते हैं। अद्भुत काम है भाई। अरे! यह सुनकर कायर का कलेजा तो काँप उठता है कि ऐसा हो सकता है ? ऐसा हो सकता होगा ? हाँ भाई, ऐसा ध्यान करके अनन्त जीव, मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं।

**अथवा पुनः-पुनः कलेवर की ( शरीर की ) भी अशुचिता सर्व ओर से भाता है....**

मुनिराज या तो आत्मा का ध्यान करते हैं या ऐसा विचार-विकल्प करते हैं कि अहो! इस शरीर में तो माँस, हड्डियाँ, विष्ठा, मूत्र, चमड़ी भरे हुए हैं। इस प्रकार शरीर का और शरीर के प्रत्येक अवयव का अशुचिपना है – ऐसी भावना करते हैं। वे शुभविकल्प से इस शरीर का-कलेवर का अशुचिपना भाते हैं कि यह शरीर तो माँस, हड्डियाँ, खून, पीप इत्यादि का पिण्ड है; जबकि भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द आदि गुणों का पिण्ड है। इस प्रकार यह आत्मा शुचि है और शरीर अशुचि है। समयसारजी की ७२ वीं गाथा में आता है कि —

१. पुण्य-पाप के परिणाम अशुचि हैं। देखो, दया, दान, व्रत, भक्ति के पुण्यपरिणाम / शुभविकल्प भी अशुचि है – ऐसा वहाँ आता है। तदुपरान्त वहाँ यह भी कहा है कि —

२. पुण्य-पाप के परिणाम विपरीत; अर्थात्, जड़ हैं। दया, दान अथवा मुनिव्रत का विकल्प उत्पन्न हो, वह भी अचेतन-जड़ है, क्योंकि राग में जानने की शक्ति नहीं है, तथा

३. पुण्य-पाप के परिणाम दुःखकारण हैं। देखो, शुभराग भी दुःखकारण है – ऐसा वहाँ कहा है। जबकि भगवान आत्मा – ( १ ) अशुचि के समक्ष शुचि है, ( २ ) जड़ के-राग के सामने चैतन्यस्वरूप है, और ( ३ ) दुःखकारण के सामने आनन्दस्वरूप है – ऐसा भेदज्ञान करके मुनिराज आत्मा को ध्याते हैं परन्तु यदि वे आत्मा में स्थिर नहीं रह सकते हों तो कलेवर का-शरीर का अशुचिपना भाते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

अहा! यह शरीर-कलेवर तो अशुचि है, उसमें अकेले मल, मूत्र, वीर्य, अंतड़ियाँ, चर्बी इत्यादि भरे हैं और ऊपर से मिट्टी की तरह चमड़ी लपेटी गयी है, अन्दर चमड़े में माँस, मल-मूत्रादि भरे हैं; इस प्रकार शरीर की अशुचि का मुनिराज विचार करते हैं। बारह भावना में एक अशुचिभावना

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



भी आती है न! यहाँ कहते हैं कि शुचिस्वरूप आत्मा की एकाग्रता करने से पहले ऐसी भावना कर कि मैं तो शुचि, उज्ज्वल, निर्मल हूँ; जबकि यह शरीर, अशुचि है, वह मेरा नहीं है; तथापि वह सम्बन्ध में / संयोग में है, फिर भी अशुचि है।

अरे! अज्ञानी को तो जरा सुहाना मक्खन जैसा शरीर हो तो मानो मैं क्या कर दूँ – ऐसा लगता है परन्तु बापू! प्रभु! यह तो माँस और हड्डियों पर चमड़ी की मिट्टी है। जैसे, ऊपर से गन्ने का छिलका निकाल दो, उसी प्रकार इस शरीर पर गन्ने के छिलके जैसी चमड़ी निकाल दो तो यह शरीर थूकने जैसा भी नहीं दिखता। तू शरीर को अच्छा, सुन्दर, सुहावना कहता है परन्तु यह सब समझने जैसा है। जब राग की छाल उखाड़कर देखेगा तो भगवान आत्मा अकेला आनन्दकन्दमय दिखाई देगा। बापू! मार्ग तो ऐसा है। वीतरागमार्ग; अर्थात्, आत्मा का मार्ग कोई अलौकिक है। दुनिया ने उसे बाहर से माना है, कल्पित किया है, किन्तु वह ऐसा मार्ग नहीं है। अरे! जिससे सम्पूर्ण संसार उड़ जाए और मुक्तदशा की अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो, वह मार्ग कोई साधारण चीज नहीं होती बापू! लौकिक (अज्ञानी) के साथ उसका मेल कभी नहीं होता।

यहाँ देखो, क्या कहते हैं ? कि मुनिराज कलेवर का सर्व ओर से / चारों ओर से अशुचिपना भाते हैं। अब, अस्ति-नास्ति करते हैं।

**.....उसे वास्तव में प्रतिष्ठापनसमिति होती है। दूसरे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यतिनामधारियों को कोई समिति नहीं होती।**

– ऐसे सन्त को प्रतिष्ठापनसमिति; अर्थात्, मल-मूत्रादि परित्यागरूप समिति होती है परन्तु वीतरागमार्ग को छोड़कर अपनी कल्पना के मार्ग में पड़े हों – ऐसे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यति / साधुनामधारियों को एक भी समिति नहीं होती। देखो, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं यह बात कहते हैं क्योंकि गाथा में **पइट्ठासमिदी हवे तस्स** – ऐसा है न! उसमें से टीकाकार मुनिराज ने अस्ति-नास्ति निकाली है कि उपरोक्त कथनानुसार मुनिराज को समिति होती है परन्तु दूसरे स्वच्छन्दियों को कोई समिति नहीं होती। देखो, मुनिपना ऐसा होता है परन्तु कोई गृहस्थाश्रम में हो और वस्त्र पहने हो, उसे मुनिपना हो जाए – ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ कहते हैं कि कोई वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। कठोर काम है भाई!

**प्रश्न –** अपवादमार्ग तो होता है न?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



**उत्तर –** अपवाद, विकल्प का होता है; अर्थात्, अपवादमार्ग अट्ठाईस मूलगुण के विकल्परूप होता है, किन्तु वस्त्र-पात्रसहित नहीं होता तथा उत्सर्ग के बिना अपवादमार्ग होता ही नहीं; इसलिए यह कथन है कि मुनि को अन्दर में निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसंयम तो प्रगट हुए हैं परन्तु चारित्र की पूर्णता होनी चाहिए, वह नहीं है; इसलिए विकल्प उत्पन्न होता है और उसे अपवादी संयम कहा जाता है।

**प्रश्न –** मुनि को चाहे जैसा निमित्त होता है न?

**उत्तर –** नहीं; मुनि को चाहे जैसा निमित्त नहीं होता। मुनि को यहाँ कहा है, उतना ही निमित्त होता है, इसके अतिरिक्त दूसरा निमित्त नहीं होता। आदान-निक्षेपणसमिति में पुस्तक, पीछी और कमण्डल लेने अथवा रखने का विकल्प / शुभराग मुनि को होता है; इसलिए बाहर में निमित्तरूप से वे ही होते हैं; अन्य वस्तुएँ नहीं होती। भाई! मार्ग तो ऐसा है, यही सत्य है। वस्तु का स्वरूप तो यही है। भाई, इसमें वाद-विवाद करने योग्य नहीं है। किसके साथ वाद -विवाद करना?

अहा! स्वच्छन्दवृत्तिवाले; अर्थात्, भगवान आत्मा रागरहित वस्तु है, वह जिसकी दृष्टि में नहीं आया, उसे जिसने अनुभव में नहीं लिया और जो राग से ही निश्चय होना मानकर बैठ गया है, वह और उसकी जो सब व्यवहार की क्रियाएँ हैं, वह स्वच्छन्दी क्रियाएँ हैं।

ऐसा क्यों कहा; अर्थात्, अज्ञानी की क्रियाओं को व्यवहार न कहकर स्वच्छन्द क्रिया क्यों कहा? क्योंकि व्यवहार तो जिसे आत्म-अनुभव और आनन्दस्वरूप का भान हुआ है – ऐसे धर्मी जीव को जो शुभराग वर्तता है, उसे कहा जाता है; इसके अतिरिक्त जिसे आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मानुभव नहीं है, उसकी वृत्तियाँ तो पूर्णरूप से स्वच्छन्द है। ऐसे यति नामधारी को तो स्वच्छन्दी वृत्ति ही है। लो भाई! यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

अहा! जिन्हें राग की क्रिया से रहित निर्विकल्प चैतन्य भगवान आत्मा का अनुभव और स्वीकार नहीं हुआ है, जिन्हें अन्तर्मुख होकर पूर्णानन्दस्वभाव की प्रतीति नहीं हुई है, जिनके ध्यान में आत्मद्रव्य नहीं आया है, जिन्हें भगवान आत्मा भाषित नहीं हुआ है, जिन्हें परमानन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा का दृष्टि / सम्यग्दर्शन में और सम्यग्ज्ञान में साक्षात्कार नहीं हुआ है और जो अकेले क्रियाकाण्ड में; अर्थात्, शुभराग में वर्तते हैं, वे स्वच्छन्दवृत्तिवाले, व्यवहाराभासवाले हैं; उन्हें ऐसी समिति का शुभविकल्प होने पर भी वह सब स्वच्छन्दवृत्ति है परन्तु व्यवहारसमिति नहीं है।

www.vitragvani.com



**प्रश्न** – यतिनामधारी, अर्थात् ?

**उत्तर** – नामनिक्षेप से यति। जो अट्ठाईस मूलगुण पालन करता है और जिसे लोग यति कहते हैं, वह; किन्तु वास्तविक यति नहीं। एक बहुरूपिया था। उसने साधु का वेष धारण किया, उसने साधु को वेष ऐसा धारण किया कि राजा प्रसन्न हो गया और धन देने लगा। बहुरूपिया ने वह धन नहीं लिया और कहा कि पैसा नहीं लूँगा, क्योंकि मैं अभी साधु हूँ; इसलिए हमारे धन नहीं चल सकता। देखो, अब साधु के वेषवाला बहुरूपिया भी यह कहता है कि हम को परिग्रह नहीं चल सकता, तो फिर सच्चे साधु की तो बात ही क्या कहना ?

रावण की बात भी शास्त्र में आती है न! रावण कहता है कि सीताजी प्रसन्न नहीं होती तो क्या करना चाहिए ? तब किसी ने रावण से कहा कि तुम राम का वेष धारण कर लो, क्योंकि सीताजी सम्यग्दृष्टि और महाब्रह्मचारिणी सती है, ऊपर से इन्द्र उतर का आवे तो भी उन्हें रामचन्द्रजी के अतीरिक्त दूसरे का विकल्प नहीं आ सकता। एक पति के विकल्प के अतिरिक्त दूसरे का विकल्प नहीं हो सकता। तब रावण कहने लगा कि भाई! तुम मुझे शिक्षा देते हो कि राम का वेष धारण करके जाओ, सीताजी प्रसन्न हो जाएँगी, परन्तु जब मैं राम का वेष धारण करता हूँ, राम का रूप धारण करता हूँ और सीताजी के समीप जाता हूँ तो मुझे वे मातारूप में दिखती हैं। अहा! तो फिर यदि साक्षात् राम होऊँ तो उसकी क्या बात करना ? इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि निजपद रमैं सो राम कहिये; अर्थात्, जो निजपद में रमता है, उसे राम कहते हैं।

देखों न! यहाँ क्या कहते हैं ? जो निज आत्मा को ध्याता है, उसे वास्तव में समिति होती है, किन्तु स्वच्छन्दवृत्तिवाले अज्ञानियों को समिति नहीं होती। इस प्रकार कहकर अकेली व्यवहार समितिवाले यतिनामधारियों का निषेध किया है। द्रव्यलिङ्गी भले ही अत्यन्त नग्न हों और उन्हें पञ्च महाव्रत का विकल्प भी भले ही हों; तथापि वे सब स्वच्छन्दवृत्तिवाले हैं क्योंकि उन्हें अन्दर में से भगवान आत्मा जागृत नहीं हुआ है। व्यवहार को जाननेवाला जगे बिना, व्यवहार की समस्त वृत्तियों को स्वच्छन्दवृत्ति कहा है।

## कलश ८८ पर प्रवचन

**जिनमत में कुशल और स्वात्मचिन्तन में परायण – ऐसे यतिओं को यह समिति मुक्तिसाम्राज्य का मूल है।**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



भाषा देखो! क्या कहते हैं ? कहते हैं कि जिनमत में कुशल; अर्थात्, वीतरागी दृष्टि और वीतरागी भाव में कुशल। अहा! जिनमत कोई सम्प्रदाय नहीं, अपितु वस्तु का स्वरूप है। भगवान आत्मा, वीतरागी अकषायस्वरूप वस्तु है, उसमें जिसने पर्याय में निपुणता प्राप्त की है, उसे जिनमत कुशल कहा जाता है।

**प्रश्न** – मुनिराज किसमें कुशल हैं ?

**उत्तर** – मुनिराज, जिनमत में; अर्थात्, वीतरागी भाव में कुशल हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं तथा वे स्वात्म-चिन्तवन में परायण हैं। तात्पर्य यह है कि अपने पूर्णानन्दमय ज्ञायक आत्मा में एकाग्र होने के लिए परायण-तत्पर हैं।

यहाँ चिन्तवन का अर्थ एकाग्रता है। ऐसे यतियों को; अर्थात्, स्वरूप का यत्न / जतन करनेवालों को....

**प्रश्न** – मुनि ने स्वरूप का यत्न / जतन किस प्रकार किया है ?

**उत्तर** – मुनिराज ने वीतरागभाव में कुशलता द्वारा स्वरूप का यत्न / जतन किया है। अहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप दशा जिसे प्रगट हुई है और उसमें जो कुशल है तथा आत्मा में एकाग्रता करने में जो तत्पर हैं – ऐसे यतियों को यह निश्चयसमिति, मुक्ति साम्राज्य का मूल कारण है। देखो, मुक्ति साम्राज्य का मूल कारण यह समिति है – ऐसा कहते हैं परन्तु यह एक ही समिति कारण है; व्यवहारसमिति नहीं। यहाँ तो व्यवहारसमिति की बात भी नहीं की है।

अहा! श्री पद्मप्रभमलधारिदेव भावलिङ्गी मुनि हैं। वे यहाँ कहते हैं कि जिसे जिनमत में; अर्थात्, आत्मा के वीतरागस्वरूप में कुशलता पर्याय में प्रगट हुई है; अर्थात्, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति जिसे प्रगट हुए हैं और जो उनमें निपुण हैं तथा जो अपने स्वरूप के ध्यान में परायण हैं, किन्तु रागादि अथवा व्यवहारसमिति में परायण नहीं हैं, उसे यह निश्चयसमिति, मुक्ति का कारण है। देखो, मुनिराज रागादिक अथवा व्यवहारसमिति में परायण नहीं हैं – ऐसा कहते हैं क्योंकि मुनिराज, राग-व्यवहार से तो मुक्त हैं। हाँ, उन्हें व्यवहारसमिति का राग होता है, आ जाता है परन्तु वह बन्ध का कारण है; इसीलिए तो कहा है कि जिसके भान में अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा नहीं है, उसकी व्यवहारसमिति तो स्वच्छन्दवृत्ति में गिनी जाती है, किन्तु जिसे आत्मा का ध्यान वर्तता है, उसकी निश्चयसमिति मुक्तिराज्य का मूल है।

www.vitragvani.com



**कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्रसमूह से भिदे हुए हृदयवाले मुनिगणों को वह ( समिति ) गोचर होती ही नहीं।**

कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्रसमूह से भिदे हुए हृदयवाले; अर्थात्, मात्र इच्छा में ही जुड़े हुए; इच्छारहित वस्तु – ऐसे आत्मा की दृष्टि और अनुभव से रहित। अहा! सम्यग्दर्शन और ज्ञान में अकेला आत्मा झूलता हो, परन्तु ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जिसे नहीं है, वह अज्ञानी, इच्छा में; अर्थात्, कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्रसमूह की धारा में वर्तता है – ऐसा यहाँ कहते हैं। ऐसे अज्ञानी से कहते हैं कि भाई! राग की भावना से तेरा हृदय भिद गया है। पूर्णानन्द का नाथ वीतरागी भगवान आत्मा के पक्ष में तो तू चढ़ा नही है और इस राग के पक्ष में तू चढ़ गया है; अतः तेरा हृदय कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्रसमूह से भिद गया है, इसलिए तुझे ऐसी निश्चयसमिति नहीं होती; भले ही तू द्रव्यलिङ्गी होकर बाह्य में वस्त्र-त्यागी हो और पाँच महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण पालन करता हो तो भी तुझे यह समिति नहीं होती है।

लोगों को यह ऐसा लगता है कि क्या मुनि का स्वरूप ऐसा है ? अर्थात्, यह तो बहुत ऊँची बात है परन्तु बापू! मुनि का स्वरूप ऐसा ही है न भाई! देखो न! यहाँ तो राग की क्रियारहित अक्रियस्वरूप शुद्धचैतन्य आनन्दघन आत्मा का अनुभव जिसे नहीं है, उन सब द्रव्यलिङ्ग यतियों के पञ्च महाव्रत के परिणामों को स्वच्छन्द में डाल दिया है, क्योंकि भगवान की आज्ञा का निश्चयसहित का व्यवहार उन्हें नहीं है; उनका व्यवहार तो उनका स्वयं का माना हुआ है और इसलिए स्वच्छन्द है। अहो! सन्तों की वाणी भी कोई अलौकिक है न!

श्रीमद्जी ने कहा है कि श्वेताम्बरों की शिथिलता को लेकर रस मन्द पड़ता है और दिगम्बरों के तीव्र वचनों को लेकर रहस्य कुछ समझ सकते हैं कि ऐसी वस्तु है। विपरीतदृष्टि होने के बाद, जब से श्वेताम्बर पन्थ निकला है, तब से ही वे ढीला / विपरीत करते गये हैं। सबमें अपवाद मानने लगे हैं। जैसे कि, मुनि को वस्त्र-पात्र चल सकते हैं; जो मुनि द्रव्यानुयोग में निपुण हो, वह सदोष, अद्यःकर्मी अपने लिए बनाया हुआ आहार ले तो उसमें आपत्ति नहीं है – यह सब बातें एकदम गप्प है। वस्तुतः मुनिराज को वस्त्र-पात्र नहीं हो सकते तथा यदि मुनि द्रव्यानुयोग में निपुण नहीं हो तो मुनि किस प्रकार होगा ? अरे! जो सच्चे महान् सन्त होते हैं, उन्हें अपने लिए बनाया हुआ आहार ग्रहण करने का विकल्प ही नहीं होता। यदि अपने लिए बनाया हुआ आहार लेने का विकल्प हो तो वह भोग का ही अभिलाषी है। **भोगनिमित्तं** – ऐसा

समयसार के बन्ध अधिकार की गाथा २७५ में आता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यलिङ्गी का राग, भोग के लिए ही है, किन्तु अतीन्द्रिय आनन्द के भोग के लिए नहीं। रागरहित चैतन्य आत्मा उसे भान में नहीं आया है; इसलिए उसके पञ्च महाव्रतादि के समस्त परिणाम, भोग के लिए हैं – यहाँ ऐसा कहते हैं।

केवली के आढ़तिया दिगम्बर मुनियों की–सन्तों की बात गजब है! जो मार्ग, केवली ने प्ररूपित किया है, वही मार्ग दिगम्बर मुनियों ने सन्तों ने कहा है – ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। यहाँ कहा है कि अज्ञानी को व्यवहारसमिति भी गम्य नहीं है; अर्थात्, व्यवहारसमिति का भी भान नहीं है, क्योंकि जहाँ निश्चय नहीं है, वहाँ व्यवहार का भी भान नहीं होता है।

## कलश ८९ पर प्रवचन

**हे मुनि! समितियों में की इस समिति को कि जो मुक्तिरूपी स्त्री को प्यारी है....** समितियों में की यह समिति; अर्थात्, पाँचवीं प्रतिष्ठापनसमिति। अन्दर शुद्ध परिणमनरूप समिति है, वह मुक्तिरूपी स्त्री को प्रिय है; अर्थात्, निश्चयसमिति से मुक्ति होती है; शुद्धस्वभाव के अन्तर आश्रय से शुद्धपरिणतिरूप निश्चयसमिति प्रगट होती है। यह निश्चयसमिति की बात है; अत: कहते हैं कि पूर्ण शुद्धस्वभाव का ग्रहण और रागादि का त्याग – ऐसी जो समिति है, वह मुक्तिरूपी स्त्री को प्रिय है; अर्थात्, उससे मुक्ति प्राप्त होती है।

**जो भव–भव के भयरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए पूर्ण चन्द्र की प्रभा समान है....** भव–भव का भय; अर्थात्, रागादिभाव। रागादिभावरूप अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने के लिए निश्चयसमिति, पूर्ण चन्द्र की प्रभा के समान है।

**तथा तेरी सत्–दीक्षारूपी कान्ता की (सच्ची दीक्षारूपी प्रिय स्त्री की) सखी है....** सत्–दीक्षा, अर्थात् सच्ची दीक्षा; जिसने वीतरागस्वभाव का आश्रय लेकर वीतरागी परिणति प्रगट की है, उसे सत् / सच्ची दीक्षा होती है। देखो, यह सब द्रव्यलिङ्गी, व्यवहार दीक्षा अङ्गीकार करते हैं, वह सच्ची दीक्षा नहीं है – ऐसा कहते हैं। यहाँ कहा है कि यह निश्चयसमिति, सत् –दीक्षारूप कान्ता की सखी है।

**.... उसे अब प्रमोद से जानकर....** अर्थात्, अन्दर में आनन्दस्वरूप आत्मा के परिणमनरूप – ऐसी पाँचवीं समिति है, उसे प्रमोद से जानकर, **.... जिनमतकथित तप से सिद्ध होनेवाले**

www.vitragvani.com



**ऐसे किसी ( अनुपम ) ध्रुव फल को तू प्राप्त करेगा।** जिनमतकथित तप; अर्थात्, वीतराग देव द्वारा कथित मुनिपना। सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ वीतरागी दशारूप मुनिपना है, उससे सिद्ध होनेवाले – ऐसे अनुपम ध्रुवफल को तू प्राप्त करेगा; अर्थात्, तू मुक्ति को प्राप्त करेगा – ऐसा कहते हैं। अहा! पद्मप्रभमलधारिदेव की भाषा तो देखो!

**प्रश्न –** क्या इस श्लोक में व्यवहारसमिति की बात है ?

**उत्तर –** नहीं; निश्चयसमिति की बात है। भले ही गाथा में व्यवहारसमिति की बात चलती है परन्तु उस व्यवहारसमिति की बात में से निश्चयसमिति की बात निकाली है कि ऐसी निश्चयसमितिवाले को ही व्यवहारसमिति होती है और तो भी निश्चयसमिति है, वही मुक्ति का कारण है – ऐसा यहाँ बतलाना है। इसलिए कहा है कि अन्तर में पूर्णस्वरूप आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह जिनमत कथित मुनिपना है और ऐसे मुनिपने से तू मोक्षदशा को प्राप्त करेगा।

## कलश ९० पर प्रवचन

**समिति की सङ्गति द्वारा....** अर्थात्, शुद्ध वीतरागी परिणतिरूप समिति के सम्बन्ध द्वारा **....वास्तव में मुनि, मन-वाणी को भी अगोचर ( मन से अचिन्त्य और वाणी से अकथ्य ) ऐसा कोई केवलसुखामृतमय उत्तम फल शीघ्र प्राप्त करता है** – अर्थात्, मोक्ष को प्राप्त करते हैं। अहा! मुनि को अपने पूर्ण स्वभाव की वीतराग निर्विकल्पपरिणति है, उसके साथ सङ्गति की है, सम्बन्ध किया है और ऐसे मुनि, केवलसुखरूपी अमृतमय – ऐसी मुक्ति को शीघ्र पाते हैं; अर्थात्, अल्प काल में मुनि की मुक्ति होती है।

**प्रश्न –** यहाँ 'शीघ्र पाते हैं' – ऐसा कहा है, तो क्रम कहाँ रहा, क्रमबद्ध कहाँ रहा ?

**उत्तर –** भाई! इसका अर्थ यह है कि उसे क्रमबद्ध में अल्प काल में ही मुक्ति होने का प्रसङ्ग है।

इस प्रकार पाँच समितियों का वर्णन किया।

अब, मन-वचन-काया की तीन गुप्तियों का वर्णन करते हैं। अहा! यह तो अलौकिक बातें हैं भाई! व्यवहार की साधारण बातें करते-करते भी मुनिराज बात को निश्चय में ले जाते हैं।

●●

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

## गाथा ६६

**कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं।**
**परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं॥ ६६॥**

**कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम्।**
**परिहारो मनोगुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता॥ ६६॥**

**कालुष्य, संज्ञा, मोह, राग, द्वेष के परिहार से।**
**होती मनोगुप्ति श्रमण को, कथन नय व्यवहार से॥ ६६॥**

**गाथार्थ :** कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभभावों के परिहार को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा है।

**टीका :** यह, व्यवहारमनोगुप्ति[१] के स्वरूप का कथन है।

क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायों से क्षुब्ध हुआ चित्त, सो कलुषता है। दर्शनमोह और चारित्रमोह – ऐसे (दो) भेदों के कारण मोह दो प्रकार का है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा – ऐसे (चार) भेदों के कारण संज्ञा चार प्रकार की है। प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग – ऐसे (दो) भेदों के कारण राग दो प्रकार का है। असह्य जनों के प्रति अथवा असह्य पदार्थसमूहों के प्रति वैर का परिणाम, वह द्वेष है। – इत्यादि अशुभपरिणामप्रत्ययों[२] का परिहार ही (अर्थात् अशुभपरिणामरूप भावपापास्रवों का त्याग ही) व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति है।

अब ६६ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

---

१. मुनि को मुनित्वोचित शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) मन-आश्रित, वचन-आश्रित अथवा काय-आश्रित शुभोपयोग, उसे व्यवहारगुप्ति कहा जाता है, क्योंकि शुभोपयोग में मन, वचन या काय के साथ अशुभोपयोगरूप युक्तता नहीं है। शुद्धपरिणति न हो, वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहारगुप्ति भी नहीं कहलाता।

२. प्रत्यय = आस्रव; कारण। (संसार के कारणों से आत्मा का गोपन-रक्षण करना सो गुप्ति है। भावपापास्रव तथा भावपुण्यास्रव संसार के कारण हैं।)

(शिखरिणी)

**गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-**
**चिंतासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य।**
**बाह्यान्तरंगपरिषंगविवर्जितस्य**
**श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वितस्य॥ ९१ ॥**

(वीरछन्द)

**जो परमागम कथित अर्थ का चिन्तक अरु विजितेन्द्रिय है।**
**बाह्याभ्यन्तर संगरहित, जिनपद ध्याता को गुप्ति कहें॥ ९१ ॥**

**श्लोकार्थ :** जिसका मन परमागम के अर्थों के चिन्तनयुक्त है, जो विजितेन्द्रिय है (अर्थात् जिसने इन्द्रियों को विशेषरूप से जीता है), जो बाह्य तथा अभ्यन्तर सङ्गरहित है और जो श्री जिनेन्द्रचरण के स्मरण से संयुक्त है, उसे सदा गुप्ति होती है।

### गाथा ६६ पर प्रवचन

**यह, व्यवहारमनोगुप्ति के स्वरूप का कथन है।** इसका स्पष्टीकरण नीचे फुटनोट में किया गया है, जो कि पूर्व में तीन बार आ चुका है। (अत: वहाँ से देख लें।)

**क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायों से क्षुब्ध हुआ चित्त, सो कलुषता है।** ऐसे अशुभभाव को स्वरूप की दृष्टि और अनुभवपूर्वक तथा तीन कषाय के अभावरूप अन्तरङ्ग के चारित्रपूर्वक मुनिराज छोड़ते हैं - यह कहना है।

**दर्शनमोह और चारित्रमोह - ऐसे (दो) भेदों के कारण मोह दो प्रकार का है।** मोह को भी मुनिराज छोड़ते हैं, अर्थात् उसका परिहार करते हैं। देखो, गाथा में यह है न कि **परिहारो।**

**आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा - ऐसे (चार) भेदों के कारण संज्ञा चार प्रकार की है।** ऐसे संज्ञा के अशुभपरिणाम को भी मुनिराज छोड़ते हैं। अहा! मुनिराज, आहार करते हैं, किन्तु वह आहारसंज्ञा नहीं है, क्योंकि आहारसंज्ञा तो आहार की गृद्धिवाले को होती है। मुनिराज को स्वयं को व्यवहारमनोगुप्ति है, उसमें आहार की गृद्धि छोड़ते हैं; इसलिए उन्हें आहारसंज्ञा नहीं है। आहार लेना / खाना, वह आहारसंज्ञा है - ऐसा नहीं है, क्योंकि तब तो मुनिराज, आहार लेते हैं, वह आहारसंज्ञा हुई और वह तो अशुभभाव है परन्तु मुनिराज को

www.vitragvani.com



अशुभभाव तो होता नहीं; इसलिए आहार ग्रहण करना, वह आहारसंज्ञा नहीं है, किन्तु आहार की गृद्धि, वह आहारसंज्ञा है और ऐसे अशुभभाव को मुनिराज छोड़ते हैं।

बहुत से अज्ञानी यह कहते हैं कि मुनिराज आहार लेते हैं, इसलिए उन्हें आहारसंज्ञा है परन्तु यहाँ उससे इन्कार करते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि आहारसंज्ञा की ऐसी व्याख्या ही नहीं है। आहारसंज्ञा तो गृद्धिसहित आहार लेने को कहते हैं, अर्थात् आहार में गृद्धि हो, वैसे अशुभभाव को आहारसंज्ञा कहते हैं। इस प्रकार आहारसंज्ञा वह अशुभभाव है और उसे मुनिराज छोड़ते हैं, किन्तु मुनि, आहार लेते हैं, वह शुभभाव है और वह तो मुनि को होता है। दूसरे प्रकार से कहें तो अशुभभावरूप आहारसंज्ञा है, उसे मुनि छोड़ते हैं परन्तु आहार का शुभभाव तो उन्हें होता है, भले ही वे आहार के लिये गोचरी करते हैं; तथापि वह शुभभाव / शुभविकल्प है और वह उन्हें होता है। जबकि आहारसंज्ञा का अशुभभाव उन्हें नहीं होता। इस प्रकार मुनि को आहारसंज्ञा नहीं है – ऐसा यहाँ कहना है।

**प्रश्न –** मुनिराज, आहार-ग्रहण तो करते हैं न?

**उत्तर –** मुनिराज, आहार-ग्रहण नहीं करते। वे तो आहार आवे, उसे जानते हैं; उन्हें आहार का भाव आता है, वह शुभभाव है; जबकि यह आहारसंज्ञा आदि सब भाव अशुभभाव हैं, जिन्हें वे छोड़ते हैं। देखो न! यही बात अन्दर में है न कि '**....इत्यादि अशुभपरिणाम प्रत्ययो का परिहार...**'

यहाँ कहते हैं कि आहारसंज्ञा आदि चारों संज्ञाएँ अशुभ हैं, उनमें शुभभाव नहीं होता और उन्हें मुनिराज छोड़ते हैं; अर्थात्, आहारसंज्ञा आदि सभी अशुभपरिणामों का मुनि को परिहार है परन्तु शुभभाव का नहीं। कारण कि शुभभाव / व्यवहार तो उन्हें है तथा यहाँ व्यवहारमनोगुप्ति की बात करना है; अतः व्यवहारमनोगुप्ति में अशुभपरिणाम का त्याग है परन्तु शुभपरिणाम का नहीं।

अहा! अभी तो यह बड़ी चर्चा चलती है कि देखो! मुनिराज आहार लेते हैं, इसलिए उन्हें आहारसंज्ञा होती है। भाई! यह बात मिथ्या है, ऐसा बिलकुल नहीं है क्योंकि आहार लेने का भाव, आहारसंज्ञा नहीं है परन्तु आहार की गृद्धि, वह आहारसंज्ञा है और वह मुनि को नहीं होती तथा आहार के अतिरिक्त दूसरी तीन संज्ञाएँ होने का, अर्थात् भय, मैथुन, परिग्रह में गृद्धि होने का तो प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वे सब तो अशुभभाव होने से मुनि को है ही नहीं। इस प्रकार यह आहारसंज्ञा आदि चारों ही संज्ञाएँ अशुभभाव में जाती हैं और मुनिराज, आहार लेते हैं, वह अशुभभाव नहीं

www.vitragvani.com



है, अपितु शुभभाव है; इसलिए मुनिराज, आहार लें तो भी उन्हें आहारसंज्ञा नहीं है। भले ही मुनि को आहार लेने का भाव है तो आस्रव, तथापि वह शुभभाव है, अशुभभाव नहीं। देखो भाई! मुनि को आहार-ग्रहण करने का विकल्प होता है, वह पुण्यास्रव है, किन्तु आहारसंज्ञा नहीं; आहारसंज्ञा का अशुभभाव नहीं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

**प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग – ऐसे ( दो ) भेदों के कारण राग दो प्रकार का है। असह्य जनों के प्रति ....** अर्थात् कठोर मनुष्यों और वचनों इत्यादि के प्रति **....अथवा असह्य पदार्थसमूहों के प्रति वैर का परिणाम, वह द्वेष है – इत्यादि। अशुभपरिणामप्रत्ययों का परिहार ही; अर्थात्, अशुभपरिणामरूप भावपापास्रवों का त्याग ही व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति है।**

देखो, कहते हैं कि ऊपर कहे गये समस्त अशुभपरिणामप्रत्ययों का / आस्रवों का परिहार ही व्यवहार के अभिप्राय से मनोगुप्ति है।

नीचे फुटनोट में लिखा है कि प्रत्ययों / आस्रवों / कारणों। संसार के कारणों से आत्मा का गोपन करना, रक्षण करना, वह गुप्ति है। भावपापास्रव तथा भावपुण्यास्रव, संसार के कारण हैं। अहा! शुभपरिणाम भी प्रत्यय / आस्रव है।

**प्रश्न –** टीका में तो भावपुण्यास्रव के त्याग की बात नहीं की है? तो फिर यहाँ फुटनोट में वह बात क्यों की गयी है?

**उत्तर –** टीका में व्यवहारगुप्ति की बात है न! और व्यवहारगुप्ति में शुभपरिणाम का त्याग नहीं होता, अपितु अशुभपरिणाम का त्याग होता है; इसलिए टीका में अशुभपरिणाम के त्याग की ही बात ली गयी है परन्तु भावपुण्यास्रव के त्याग की बात नहीं ली गयी है। अहा! है तो शुभपरिणाम भी आस्रव, परन्तु यहाँ टीका में व्यवहारमनोगुप्ति की व्याख्या है; इसलिए अशुभपरिणाम के त्याग की बात की है किन्तु शुभ-पुण्यास्रव के त्याग की बात नहीं की गयी, जबकि फुटनोट में 'अशुभपरिणामरूप आस्रव' – ऐसा टीका में कहा तो उसके साथ शुभपरिणामरूप आस्रव भी है, यह सिद्ध करना है। देखो, टीका में पाठ यह है कि अशुभपरिणाम प्रत्ययों, अर्थात् अशुभपरिणामरूप आस्रव; तो उसमें से फुटनोट में यह निकाला कि शुभपरिणामरूप आस्रव। अहो! ऐसी अद्भुत बात है।

www.vitragvani.com



अहा! जब अशुभपरिणाम प्रत्यय हैं तो उसका अर्थ यह हुआ कि शुभपरिणाम प्रत्यय भी हैं और ऐसा शुभभाव अभी यहाँ मनोगुप्ति में है क्योंकि व्यवहारमनोगुप्ति की बात है न!

**प्रश्न** – यहाँ शुभ-अशुभ दोनों भावों के त्याग की बात है?

**उत्तर** – नहीं; यहाँ व्यवहारमनोगुप्ति में तो एकमात्र अशुभभाव के त्याग की बात है। यद्यपि शुभ और अशुभ दोनों परिणाम, संसार के कारण हैं; तथापि यहाँ व्यवहारमनोगुप्ति की बात करना है, इस कारण व्यवहारमनोगुप्ति में अकेले अशुभभाव के त्याग की बात की गयी है। जबकि निश्चयमनोगुप्ति में तो दोनों, अर्थात् शुभाशुभभावों का त्याग होता है परन्तु वह बात अभी नहीं है। देखो न, एक व्यवहारमनोगुप्ति की बात में ही कितनी स्पष्टता कर दी है।

अहा! फुटनोट में स्पष्टीकरण किया है कि अशुभपरिणाम भी आस्रव है और शुभपरिणाम भी आस्रव है। दूसरे प्रकार से कहें तो फुटनोट में यह समझाया है कि जब टीका में अशुभपरिणाम प्रत्यय कहा तो उसका अर्थ यह हुआ कि शुभपरिणाम प्रत्यय भी है – ये दोनों शुभाशुभभाव, आस्रव हैं और संसार का कारण है। यद्यपि यहाँ टीका में मात्र अशुभपरिणाम के एक के ही त्याग की बात है। नीचे फुटनोट में जो अर्थ किया है, वह बात, अर्थात् शुभ-अशुभभाव के त्याग की बात टीका में नहीं है। टीका में भावपापास्रव के त्याग की इतनी ही बात है क्योंकि पुण्यास्रव का विकल्प तो मुनि को होता है, कारण कि उन्हें व्यवहारमनोगुप्ति है न!

अहा! जिसे निश्चय का / आत्मा का भान है, उसे अन्तरस्वरूप की वीतरागता है – ऐसे जीव को / मुनि को ऐसी व्यवहारमनोगुप्ति होती है परन्तु अज्ञानी को, अर्थात् अकेले व्यवहार क्रियाकाण्डी को ऐसी व्यवहारमनोगुप्ति होती है, यह बात यहाँ है ही नहीं। जिसने अन्तरङ्ग में निर्विकल्प आनन्दस्वरूप आत्मा का आश्रय लेकर, निर्विकल्प शुद्धपरिणति प्रगट की है, उसे उस भूमिका में अशुभपरिणाम के त्यागरूप शुभभाववाली मनोगुप्ति होती है। उसे अशुभभाव का त्याग है परन्तु अभी शुभभाव होता है और जितना शुभभाव है, उतना आस्रव भी है। इस प्रकार अशुभभाव के त्यागरूप शुभविकल्प हों, उसे व्यवहारमनोगुप्ति कहते हैं।

जिसे अन्तरङ्ग में मूलवस्तुभूत निश्चय का / स्व का आश्रय है, निश्चय के अवलम्बन से वीतराग शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, उसे अशुभभाव का त्याग होता है और उसे व्यवहारमनोगुप्ति कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिसे सम्यक् आत्मानुभव, आत्मदृष्टि और आत्म-अवलम्बन से

www.vitragvani.com



प्रगट होनेवाली वीतरागता है ही नहीं, उसे तो व्यवहारमनोगुप्ति भी नहीं हो सकती। देखो, कठिन शर्त है परन्तु वस्तु ही ऐसी है।

देखो, आहारसंज्ञारूपी अशुभपरिणाम का त्याग – ऐसा यहाँ कहा है; इसलिए उसका अर्थ यह है कि आहारसंज्ञा को ही अशुभपरिणाम कहा है, किन्तु आहार लेना, वह अशुभपरिणाम है – ऐसा नहीं है। तीर्थङ्कर भी, जब तक केवलज्ञान न हुआ हो और छद्मस्थ हों, तब कवलाहार लेते हैं क्योंकि तब वे छद्मस्थ हैं न! तत्पश्चात् केवलज्ञान होने पर कवलाहार नहीं होता; इसलिए कहा है कि जब तीर्थङ्कर भी छद्मस्थरूप से छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हों, तब छठवें गुणस्थान में विकल्प उत्पन्न होता है और आहार-ग्रहण करते हैं। वह आहार-ग्रहण का भाव, शुभभाव है, पुण्यास्रव है क्योंकि उसमें गृद्धिपने का त्याग है; इस प्रकार अशुभपरिणति का त्याग है, उसे व्यवहारमनोगुप्ति कहते हैं – ऐसी बात है। भाई! यह तो भगवान का मार्ग है, उसमें एक-एक बात का जवाब दिया है परन्तु जैसा मार्ग का स्पष्ट स्वरूप है, वैसा इसे जानना तो चाहिए न!

अहा! भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा – ये तीनों संज्ञाएँ तो अशुभभाव हैं ही; इसी प्रकार आहारसंज्ञा भी अशुभभाव है। इस प्रकार यह चारों संज्ञाएँ अशुभभाव हैं और उन्हें मुनिराज छोड़ देते हैं।

अब, कहते हैं कि मुनि, आहारसंज्ञा आदि के अशुभभाव को छोड़ते हैं, इसलिए आहार लेने का भाव है, उसे भी छोड़ देते हैं – ऐसा नहीं है, क्योंकि आहार ग्रहण का भाव शुभ है। देखो, मुनि को आहार ग्रहण करने की वृत्ति है, वह आहारसंज्ञा नहीं है, क्योंकि मुनि को आहार ग्रहण का भाव तो होता है परन्तु आहारसंज्ञा के अशुभभाव का त्याग होता है। अहो! मुनिराज के भाव तो देखो!! अहा! आहारसंज्ञा अशुभभाव है, जबकि मुनि को आहार ग्रहण की वृत्ति है, वह संयम के हेतु से होने से शुभभाव है, पुण्यास्रव है। भले ही वह आहार-ग्रहण की वृत्ति आत्मा का स्वरूप नहीं है, संवर-निर्जरा नहीं है; तथापि छठवें गुणस्थानवाले तीर्थङ्कर को अथवा गणधर को अथवा मुनि को होती है और वह शुभास्रव है; इस प्रकार आहारसंज्ञा, अशुभभाव है और आहार ग्रहण की वृत्ति शुभभाव है; अतः आहार लेने की वृत्ति आहारसंज्ञा नहीं है।

**प्रश्न** – यह बात भयसंज्ञा में किस प्रकार लागू पड़ती है?

**उत्तर** – मुनिराज को भय है ही नहीं, उसका तो त्याग ही है क्योंकि भय स्वयं ही अशुभभाव है; इसलिए वह होने का प्रश्न ही नहीं है। जबकि आहारसंज्ञा की बात लें तो मुनि को आहार लेने

www.vitragvani.com



का भाव है, क्योंकि वह शुभभाव है परन्तु आहारसंज्ञा का त्याग है, क्योंकि वह अशुभभाव है। अहा! आहारसंज्ञा अलग है और आहार लेने का भाव अलग है, क्योंकि आहार लेने के भाव में गृद्धिपना नहीं है और वह पुण्यास्रव है; जबकि आहारसंज्ञा में गृद्धिपना है और वह पापास्रव है। इसलिए मुनिराज, आहार की गृद्धि / आहारसंज्ञा को छोड़ते हैं। इसी प्रकार भयसंज्ञा आदि को भी मुनिराज छोड़ते हैं, क्योंकि वह भी अशुभ ही है। इस प्रकार चारों ही संज्ञाएँ अशुभभाव हैं और उन्हें मुनिराज छोड़ते हैं। यहाँ इतना स्पष्ट करना है कि आहारसंज्ञा का आशय आहार लेने का भाव – ऐसा नहीं है परन्तु आहार के प्रति गृद्धिपना ही आहारसंज्ञा है। थोड़ी सूक्ष्म बात है।

अहा! मुनि को आहार लेने का भाव जैसे शुभभाव है, वैसे भयसंज्ञा आदि में अशुभभाव के उपरान्त शुभभाव भी है – ऐसा तो है ही नहीं; यह प्रश्न तो यहाँ है ही नहीं, क्योंकि संज्ञा में अशुभभाव के अतिरिक्त दूसरा भाव है ही नहीं। चारों संज्ञाएँ अशुभभावरूप ही हैं और उनका मुनि को त्याग होता है। जबकि आहार ग्रहण की वृत्ति उनके होती है, वह अलग चीज है, अर्थात् वह शुभभावरूप है और उसके त्याग की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो मात्र आहार लेने के प्रति गृद्धि की वृत्ति, जो कि अशुभभावरूप आहारसंज्ञा है, उसके त्याग की बात है। इस प्रकार चारों ही संज्ञाएँ पापास्रव परिणाम हैं और मनोगुप्ति में उस पापास्रव का त्याग होता है परन्तु पुण्यास्रव का त्याग नहीं होता, क्योंकि यह मनोगुप्ति, व्यवहार है और व्यवहार है; इसलिए शुभविकल्परूप है।

देखो, इसमें तो स्पष्ट बात है कि मुनिराज, आत्मा का निश्चय अनुभव और सम्यग्दर्शनसहित तथा निर्विकल्प परिणतिसहित हैं। उन्हें अशुभभाव के त्यागपूर्वक शुभभाव होता है और उसे व्यवहारमनोगुप्ति कहते हैं। तदुपरान्त यहाँ विशेषता क्या है कि टीका में 'अशुभपरिणाम प्रत्ययों' कहा है तो उसमें से फुटनोट में यह निकाला है कि शुभपरिणाम प्रत्ययों भी है, अर्थात् शुभपरिणाम भी आस्रव है परन्तु उसका मुनि को व्यवहारमनोगुप्ति में परिहार नहीं है। भाई! यहाँ टीका में यह नहीं समझाना है कि शुभ और अशुभभाव दोनों आस्रव हैं और उनका त्याग व्यवहारमनोगुप्ति में है – ऐसा नहीं कहना है। यह तो मात्र अशुभपरिणाम प्रत्यय – ऐसा शब्द टीका में आया, इसलिए उसमें से अर्थ निकाला कि शुभपरिणाम भी आस्रव है।

अहा! यहाँ व्यवहारमनोगुप्ति में भावपुण्यास्रव का गोपन होता है – ऐसा नहीं कहना है परन्तु यहाँ तो इतनी व्याख्या है कि भावपुण्यास्रव तथा भावपापास्रव, संसार का कारण है। इस प्रकार पुण्यास्रव भी संसार का कारण है, यह बात समझाना है।

www.vitragvani.com



**प्रश्न –** हमें सब जगह समझना ही है, अर्थात् मात्र समझ ही करनी है ?

**उत्तर –** आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिए उसके हिस्से में समझना ही आता है; इसके अतिरिक्त दूसरा क्या आयेगा ? ज्ञानी, व्यवहारमनोगुप्ति में अशुभभाव का त्याग है – ऐसा जाने और उस व्यवहारमनोगुप्ति में शुभराग, बन्ध का कारण है – ऐसा भी जाने तथा निर्विकल्पधारा, अर्थात् ज्ञानधारा वर्तती है, वह मोक्ष का कारण है – ऐसा भी जानें; इस प्रकार ऐसे भाव होते हैं, उन्हें आत्मा / ज्ञानी जानता है।

अहा ! मुनि की आहार-ग्रहण की वृत्ति, अशुभभाव नहीं है; तथापि वह है तो रागधारा -कर्मधारा। तीर्थङ्कर जब मुनिरूप से छद्मस्थ हों, तब उन्हें भी आहार-ग्रहण की वृत्ति होती है परन्तु वह वृत्ति अशुभभाव नहीं है, वह शुभभाव है। मोक्षमार्गप्रकाशक में यह बात आती है कि मुनि को अशुभभाव का त्याग ही है, उन्हें अशुभभाव होता ही नहीं। कदाचित् धर्म के लोभी, अर्थात् धर्म समझने के इच्छुक कोई जीव आवें और शुभराग हों तो उपदेश देते हैं; बस, वह उपदेश देने का विकल्प, समझाने का भाव शुभराग है, पुण्यास्रव है। वह शुभराग भी अपने कारण से आता है, उन्हें, अर्थात् धर्म के लोभी जीवों को समझाते हैं, इसलिए शुभभाव आता है – ऐसा नहीं है।

यहाँ कहा है कि अशुभपरिणाम का / भावपापास्रव का त्याग, वह व्यवहारमनोगुप्ति है परन्तु भावपुण्यास्रव का त्याग, वह व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति नहीं है।

## कलश ९१ पर प्रवचन

**जिसका मन परमागम के अर्थों के चिन्तनयुक्त है....** मुनि को ऐसा विकल्प होता है, जिसमें अशुभभाव का त्याग है।

**जो विजितेन्द्रिय है ( अर्थात् जिसने इन्द्रियों को विशेषरूप से जीता है ), जो बाह्य तथा अभ्यन्तर सङ्गरहित है.....** मुनि को बाह्य में वस्त्र-पात्र आदि का सङ्ग नहीं है और अन्तरङ्ग में राग का सङ्ग भी नहीं है।

**और जो श्री जिनेन्द्रचरण के स्मरण से संयुक्त है, उसे सदा गुप्ति होती है।**

मुनि, अत्यन्त वीतरागभाव के स्मरण में है, वह निश्चयमनोगुप्ति है और स्वरूप के भानसहित की स्थिरता के साथ जिनेन्द्र के स्मरण का विकल्प है, वह व्यवहारमनोगुप्ति है। उस मनोगुप्ति में मात्र अशुभभाव छूटा है, जबकि निश्चय-परमार्थमनोगुप्ति में शुभ और अशुभ दोनों

www.vitragvani.com



भाव छूटकर मुनिराज, वीतरागी परिणतिरूप से परिणमित हुए हैं। देखो, यह परमार्थ-निश्चय मनोगुप्ति है, जो कि मोक्ष का कारण है।

गाथा ६६ की टीका में 'अशुभपरिणाम प्रत्ययों' – ऐसा शब्द लिया है, इसलिए नीचे फुटनोट में स्पष्टीकरण किया है कि अशुभपरिणाम के साथ शुभपरिणाम भी आस्रव है, बन्ध का ही कारण है; इस प्रकार स्पष्ट किया है परन्तु इससे शुभपरिणाम का त्याग, वह व्यवहारमनोगुप्ति है – ऐसा नहीं समझना, क्योंकि अशुभपरिणाम का त्याग, वह व्यवहारमनोगुप्ति है, जबकि दोनों, अर्थात् शुभ-अशुभभाव का त्याग, वह निश्चयमनोगुप्ति है और यह बात आगे कहेंगे। निश्चयमनोगुप्ति, निश्चयवचनगुप्ति और निश्चयकायगुप्ति – इस प्रकार तीनों निश्चयगुप्ति की बात आगे गाथा ६९-७० में करेंगे। अहा! एक-एक बात जैसी है, वैसी जाननी चाहिए, यदि उसमें कोई भी गड़बड़ करेगा तो चलेगी नहीं।

अन्तरङ्ग में जितनी वीतरागभाव की निर्विकल्पदशा प्रगट होती है, उतनी ही सच्ची दिखती है और वही मोक्ष का कारण है, जबकि उस भूमिका में अशुभभाव का त्याग और शुभभाव का विकल्प होता है, उसे व्यवहारगुप्ति कहा जाता है, जो कि आस्रव है। व्यवहारमनोगुप्ति में आत्मा का अशुभभाव से गोपन होता है, किन्तु शुभभाव से नहीं; इसलिए मात्र अशुभभाव से ही गोपन होता है, इस कारण वह व्यवहारमनोगुप्ति है परन्तु मुनि के योग्य वीतरागीदशा जिसे हुई हो, उसे ही व्यवहारमनोगुप्ति होती है; इसके अतिरिक्त जिसे अन्तरङ्ग में चैतन्य का आश्रय बिल्कुल नहीं है और अकेली व्यवहारमनोगुप्ति का शुभभाव है, अर्थात् अशुभभाव का त्याग है, उसे तो व्यवहार से भी मनोगुप्ति नहीं कहा जाता। भाई! अद्भुत बात है। यह तो वीतरागमार्ग है। अहा! आत्मा स्वयं वीतरागस्वरूप ही है, अर्थात् वीतरागस्वरूप आत्मा ही है; अतः वीतराग के मार्ग द्वारा अन्तर में / आत्मा ने जाना, यह कोई अलौकिकदशा है, अलौकिक आश्चर्य है।

अहा! दशा को पलटने के लिए दिशा पलटानी चाहिए, अर्थात् यदि दशा सम्यक् करना है तो उसकी दिशा पलट देनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि पर्याय, राग और निमित्त की एकपने की बुद्धि को पलटकर त्रिकाली ज्ञायक की ओर बुद्धि करना, वह दशा पलटाने के लिये दिशा पलटाना है। देखो, प्रथम ही सम्यग्दृष्टि की दिशा बदल जाती है और दिशा बदलने से दशा भी बदल जाती है। अज्ञानी की दृष्टि पर्याय, राग और निमित्त पर होती है परन्तु धर्मी की दृष्टि पर्याय, राग अथवा निमित्त पर नहीं होती; उसकी दृष्टि तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव पर होती है,

www.vitragvani.com



इस कारण दिशा बदलते ही दशा भी बदल गयी है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्पन्न हुए हैं। देखो, ऐसी बात है।

जिसे निश्चयचारित्र होता है, उसे उस भूमिका में वैसा शुभभाव होता है और उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं; अर्थात्, जिसे निश्चयचारित्र होता है, उसे ही व्यवहारचारित्र होता है परन्तु अन्तरङ्ग में निश्चयचारित्र नहीं है, उसे तो व्यवहारचारित्र, अर्थात् मनोगुप्ति या वचनगुप्ति आदि कुछ भी हो ही नहीं सकते। निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? सूक्ष्म बात है बापू! अहा! वीतराग मार्ग को जानना अलौकिक बात है। यहाँ अकेले व्यवहारमनोगुप्ति की व्याख्या की है; इस कारण जिसे अन्तरङ्ग में आत्म-अनुभव और वीतरागता नहीं है, उस द्रव्यलिङ्गी को भी यह व्यवहारमनोगुप्ति होती है – ऐसा नहीं कहना है, क्योंकि जो अनादि का अज्ञानी है – ऐसे द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि को व्यवहार कैसा? मिथ्यादृष्टि नौवें ग्रैवेयक तक गया '**मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ**' तो उसे व्यवहारचारित्र नहीं है क्योंकि वस्तु, अर्थात् निश्चयचारित्र नहीं है न! – ऐसी बात है।

अहा! छठवें गुणस्थान में तीन कषाय के अभावपूर्वक की शुद्धपरिणति है, वह सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का कारण है; तथापि मुनि के शुभोपयोग को व्यवहार से-आरोप से सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का कारण कहा जाता है। सातवें गुणस्थान में शुद्धता बढ़ गयी है, उसका कारण छठवें गुणस्थान की शुद्धपरिणति है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग का कारण शुद्धपरिणति है, वह यथार्थ है; तथापि शुद्धपरिणति के साथ जो शुभोपयोग है, उसे आरोप से शुद्धोपयोग का कारण कहा है। दूसरे प्रकार से कहें तो यद्यपि शुद्धोपयोग का वास्तविक कारण तो शुद्धपरिणति है, तथापि शुद्धपरिणति के स्थान पर शुभपरिणति को कारण कहकर शुद्धोपयोग का कारण शुभोपयोग है – ऐसा व्यवहार से कहा है।

अहा! वस्तुतः तो छठवें गुणस्थान में शुद्धपरिणति-निर्मल वीतरागदशा है, वही सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का कारण है। यद्यपि निश्चय से तो यह भी, अर्थात् शुद्धपरिणति को शुद्धोपयोग का कारण कहना भी व्यवहार है, क्योंकि सातवें गुणस्थान में प्रगट होनेवाले शुद्धोपयोग का वास्तविक कारण तो द्रव्य का उग्र आश्रय है। त्रिकाली द्रव्य का उग्र आश्रय लेने पर शुद्धोपयोग होता है; इसलिए शुद्धोपयोग से पहले शुद्धपरिणति थी, उसे शुद्धोपयोग का कारण कहना, अर्थात् एक पर्याय को दूसरी पर्याय का कारण कहना भी व्यवहार है। पहले की पर्याय का तो अभाव हो जाता है, इसलिए पहले की पर्याय को दूसरी पर्याय का कारण कहना भी व्यवहार है; तथापि सातवें

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



गुणस्थान में निर्विकल्प शुद्धोपयोगदशा प्रगट होती है, उसका कारण शुद्धपरिणति को गिना जाता है तथा उसका आरोप शुभभाव में करके शुभभाव को भी व्यवहार से शुद्धोपयोग का कारण कहा जाता है। वस्तुतः तो शुद्धोपयोग का कारण शुद्ध द्रव्य है, क्योंकि जब कारणपरमात्मा का उग्र आश्रय लिया जाता है, तब शुद्धोपयोग होता है – ऐसी बात है।

अहा! सच्चा / निश्चय मोक्ष का मार्ग, मोक्ष का कारण है – ऐसा कहना भी एक व्यवहार है। क्यों? क्योंकि निश्चयमोक्षमार्ग का अभाव होकर, मोक्षदशा प्रगट होती है; इसलिए निश्चयमोक्षमार्ग, मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु त्रिकाली कारणपरमात्मा, मोक्षदशा का कारण है, अर्थात् मोक्षदशा का कारण वास्तव में तो द्रव्य है; इस प्रकार जब राग को मोक्ष का व्यवहारकारण कहते हैं, तब शुद्धपरिणति को निश्चयकारण कहते हैं और जब शुद्धपरिणति को मोक्ष का व्यवहार कारण कहते हैं, तब त्रिकालीद्रव्य को निश्चयकारण कहते हैं – ऐसी बात है।

१. जब निमित्त को व्यवहारकारण कहते हैं, तब अपनी रागादि परिणति को, वह स्व की है – ऐसा गिनकर निश्चय कहते हैं।

२. जब शुभपरिणति को (–रागादि को) व्यवहार कहते हैं, तब शुद्धपरिणति को निश्चय कहते हैं।

३. जब शुद्धपरिणति को व्यवहार कहते हैं, तब द्रव्य को निश्चय कहते हैं – ऐसा है।

बापू! यह तो वीतराग का मार्ग है। यह कोई ऐरे–गेरों का मार्ग नहीं है। केवलज्ञान से कसा हुआ, अर्थात् केवलज्ञान से सिद्ध हुआ यह मार्ग अलौकिक है।

अहा! इस नियमसार में तो यही कहा है कि मोक्ष का कारण द्रव्य, अर्थात् कारणपरमात्मा ही है। त्रिकाली पूर्ण कारणशक्ति भगवान आत्मा में पड़ी ही है, इसलिए उसे कारणजीव कहो या कारणपरमात्मा कहो, एक ही है; अतः वह कारणपरमात्मा, मोक्ष की पर्याय का कारण है। दूसरे प्रकार से कहें तो कार्यजीव, अर्थात् मोक्षपर्याय और उसका कारण वास्तव में तो कारणजीव, अर्थात् त्रिकाली द्रव्य है परन्तु जब व्यवहार से / पर्याय से बात करना हो, तब शुद्धपरिणति को निश्चयकारण कहते हैं और राग को व्यवहारकारण कहते हैं। फिर जब 'राग जीव का है' – ऐसा लेना हो, तब राग को निश्चय कहते हैं और कर्म के निमित्तपने को व्यवहार कहते हैं। प्रवचनसारजी की १८९ वीं गाथा में आता है कि शुभराग, निश्चय से आत्मा का है क्योंकि राग, आत्मा की पर्याय में है न!

www.vitragvani.com



अहा! राग अपने में है, इस कारण इस अपेक्षा से उसे निश्चय कहा और उसमें कर्म, निमित्त है, इस कारण उसे व्यवहार कहा, परन्तु जब शुभराग को व्यवहार कहना हो, तब निर्विकल्प शुद्धपरिणति को निश्चय कहते हैं और शुभराग को व्यवहार कहते हैं अथवा राग से भेद करके जब उससे भिन्न अनुभव हो, तब राग को व्यवहार कहते हैं और शुद्धपरिणति को निश्चय कहते हैं तथा जब निश्चयमोक्षमार्ग को, अर्थात् शुद्धपरिणति को व्यवहार कहते हैं, तब त्रिकाली द्रव्य को निश्चय कहते हैं। देखो, ऐसे भेद हैं।

परमार्थवचनिका में यह कहा है कि निश्चय निर्विकल्प मोक्षमार्ग साधना, वह व्यवहार है। निर्विकल्प मोक्षमार्ग, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागीदशा भी व्यवहार है, क्योंकि वह पर्याय है और पर्याय, वह व्यवहार है। अपने ही अपने में भेद पड़ा, इसलिए पर्याय व्यवहार है; इसी कारण मोक्षमार्ग भी व्यवहार है। अरे! सिद्ध पर्याय भी व्यवहार है क्योंकि वह पर्याय है; जबकि त्रिकाली द्रव्य निश्चय है। अहा! वस्तुस्थिति ही ऐसी है, वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है और उसका ही यह सब वर्णन है। यह बात कोई कल्पित नहीं कही गयी है।

प्रवचनसार, गाथा १८९ में तो शुभराग / विकार को भी निश्चयनय / शुद्धनय कहा है। देखो भाई! वहाँ यह कहा है और उसी प्रवचनसार की ९४ वीं गाथा में शुद्धता को व्यवहार कहा है, तो वह किस अपेक्षा से है, यह समझना चाहिए। गाथा ९४ में कहा है कि रागादि, वह मनुष्यव्यवहार है और शुद्धता, वह आत्मव्यवहार है। त्रिकाली आनन्दकन्द शुद्धस्वरूप प्रभु आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्रगट हो, उसे आत्मव्यवहार कहा गया है, किन्तु राग को आत्मव्यवहार नहीं कहा गया है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि इसमें कितना याद रखना परन्तु भाई! यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अरे! तत्त्व कैसा है ? कैसे है ? भगवान किस प्रकार कहते हैं ? इस प्रकार तत्त्व की शोध के लिये तो अज्ञानी ने मेहनत की ही नहीं है। अज्ञानी तो, भगवान ने व्यवहार से ऐसा कहा है और निश्चय से ऐसा कहा है - ऐसा ऊपर-ऊपर से मानता है परन्तु उन्होंने किस अपेक्षा से कहा है, यह नहीं समझता है।

यहाँ कहा है कि त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति प्रगट हो, उसे निश्चय कहें तो उस समय जो शुभविकल्प होता है, उसे व्यवहार कहते हैं परन्तु जिसे निश्चय प्रगट हुआ हो - ऐसे जीव के शुभपरिणाम को व्यवहार कहते हैं; इसके अतिरिक्त किसी को अकेले व्यवहारगुप्ति आदि का शुभविकल्प हो तो वह व्यवहार भी नहीं है। मिथ्यादृष्टि ने तो

www.vitragvani.com



राग में ही सर्वस्व माना है, अर्थात् वह राग से भिन्न हुआ ही नहीं है; अत: उसके राग को व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ?

अहा! यह तो परमात्मा त्रिलोकनाथ की तीर्थङ्कर पैड़ी है। उस पैड़ी पर बैठकर व्यापार करना बहुत कठिन काम है। क्या करोड़-अरबपति का मुनीम पच्चीस रुपये की वेतनवाला हो सकता है ? नहीं; उसे तो अरबपति किसे कहना और अरब में कितना आता है ? – इसका भी पता नहीं होता। वह तो सौ रुपये जितनी छोटी गिनती करता है। इसी प्रकार जिसने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखा और जाना है – ऐसे वीतराग परमात्मा की यह पैड़ी है, तो उसका मुनीम कैसा होगा ? परमात्मा की पैड़ी के मुनीम जैसा। मुनि को उपदेश का विकल्प उत्पन्न हुआ है, इसलिए कहते हैं कि भगवान ऐसा मार्ग कहते हैं। अहा! वह विकल्प भी पुण्यास्रव है, संवर -निर्जरा का कारण नहीं है।

**प्रश्न –** कपड़े से कोट बनता है, वह दर्जी की इच्छा पर है न ?

**उत्तर –** यह बात मिथ्या है बापू! एकदम मिथ्या बात है। कोट पर्याय होने के पूर्व काल में उसका उपादान हो तो कोट होता है, अर्थात् पूर्व पर्याय कारण है और उत्तर पर्याय / कोट बनना कार्य है, किन्तु दर्जी से कोट बनता है, इस बात में कोई दम नहीं है। कपड़ा, अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है और वे परमाणु स्वतन्त्र हैं; इसलिए वह स्कन्ध जब कोट के योग्य पूर्व पर्यायरूप परिणमित हुआ हो, तब उत्तर पर्याय कोटरूप होती है; इसलिए कोट की पूर्व पर्याय, कोट का कारण है, वह पूर्व पर्याय आये बिना कोट नहीं होता, किन्तु दर्जी की इच्छा थी, इसलिए कोट हुआ – ऐसा नहीं है। यह बात तो एकदम असत्य है। परमाणु में कोटरूप पर्याय होने का उत्पाद काल हो, उससे पूर्व कोट के कारणरूप एक पूर्व पर्याय होती है; इसलिए वह पूर्व पर्याय, उत्तर पर्याय का कारण है – ऐसा शास्त्र में पाठ है। तात्पर्य यह है कि उत्तर पर्याय का कारण पूर्व पर्याय है, किन्तु दर्जी या अन्य पर्याय उसका कारण नहीं हैं। पूर्व पर्याय होने का स्वकाल न आया हो और उत्तर पर्यायरूप कार्य हो जाए – ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। किसी अन्य से पर्याय हो और कोई अन्य पर्याय को रोक दे तो पर्याय रुक जाए – ऐसा वस्तु स्वरूप में है ही नहीं।

**प्रश्न –** दर्जी की इच्छा के बिना कोट कैसे हो सकता है ?

**उत्तर –** दर्जी की इच्छा दर्जी के पास रही, उसकी इच्छारूप पर्याय उसके पास रहती है। वह कहाँ इस कोट में काम करती है ? यह कोट तो परमाणुओं की शक्ति से होता है। अहा! पर का काम कौन करे ? यही बात तो यहाँ चलती है कि अज्ञानी, राग करता है परन्तु राग के कारण

पर में कुछ होता है – ऐसा नहीं है। काम बहुत सूक्ष्म है बापू! अनन्त द्रव्य–अनन्तरूप रखकर बात होनी चाहिए। यदि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कार्य करे तो अनन्त द्रव्य नहीं रहते।

दर्जी का द्रव्य, अर्थात् आत्मा अलग है, उसके शरीर का द्रव्य अलग है और कपड़े का द्रव्य भी अलग है। अरे! उस कपड़े का एक–एक परमाणु भी भिन्न–भिन्न है। कपड़े के स्कन्ध में रहा हुआ एक–एक परमाणु स्वतन्त्ररूप से अपने स्वचतुष्टय में रहता है। निश्चय से ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी निमित्त से यह कथन किया जाता है कि दर्जी ने कोट बनाया परन्तु यह असद्भूत व्यवहार का कथन है।

श्री समयसारजी की ३७२ वीं गाथा में कहा है कि कुम्हार घड़े का कर्ता बिलकुल नहीं है। घटरूप पर्याय के उत्पाद का कर्ता तो वह स्कन्ध, अर्थात् परमाणु हैं, क्योंकि परमाणुओं से वह उत्पाद हुआ है, कुम्हार से नहीं तथा एक उत्पाद के दो कारण नहीं हो सकते। बापू! यह तो अलौकिक बाते हैं।

**प्रश्न** – कुम्हार, घड़े को हाथ तो लगाता है न?

**उत्तर** – कुम्हार, घड़े को हाथ लगाता ही नहीं, वह तो राग / विकल्प करता है। वस्तुतः तो हाथ स्वयं के कारण ऐसे–वैसे होता है, कुम्हार से नहीं तथा हाथ भी घड़े को स्पर्श कहाँ करता है? क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने अनन्त गुणों को / धर्मों को स्पर्श करता है, आलिङ्गन करता है, किन्तु परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता। द्रव्य परस्पर आलिङ्गन करते हैं – ऐसा तीन काल में भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। इस प्रकार समयसार की तीसरी गाथा में कहा है।

बापू! वीतराग के तत्त्वज्ञान की बात ऐसी सूक्ष्म है। यह बात दूसरे किसी के साथ मेल खा सकने योग्य नहीं है। अरे! जहाँ जैन के बाढ़ा / सम्प्रदाय के साथ इस बात का मेल नहीं खाता तो अन्यमत में तो यह बात होगी ही कहाँ?

अहा! भगवान ने जो कहा, उसके भाव को जो समझनेवाला / धारण करनेवाला है, जिसने इन्द्रियाँ जीती हैं, अशुभभाव से पराङ्मुख होना भी जिसे नहीं है, अर्थात् जिसे शुभभाव भी नहीं है, उस मुनि को सच्ची / निश्चयगुप्ति होती है। इस प्रकार निश्चयगुप्ति की बात है। इस ६६ वीं गाथा में व्यवहारगुप्ति की बात है, जबकि अब निश्चयगुप्ति की बात है।

इस प्रकार यह मनोगुप्ति की व्याख्या हुई। अब, वचनगुप्ति की चर्चा करेंगे, यह सब व्यवहारचारित्र के गुण हैं। ●●

## गाथा ६७

**थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।**
**परिहारो वयगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा॥ ६७॥**

**स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतोः।**
**परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा॥ ६७॥**

**जो पापकारण चोर, भोजन, राज दारा की कथा।**
**एवं मृषा-परिहार यह लक्षण वचन की गुप्ति का॥ ६७॥**

**गाथार्थ :** पाप के हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादिरूप वचनों का परिहार अथवा असत्यादिक की निवृत्तिवाले वचन, वह वचनगुप्ति है।

**टीका :** यहाँ वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है।

जिन्हें काम अति वृद्धि को प्राप्त हुआ हो - ऐसे कामी जनों द्वारा की जानेवाली और सुनी जानेवाली - ऐसी जो स्त्रियों की संयोगवियोगजनित विविध वचनरचना (स्त्रियों सम्बन्धी बात), वही स्त्रीकथा है; राजाओं का युद्धहेतुक कथन (अर्थात् राजाओं द्वारा किये जानेवाले युद्धादिक का कथन), वह राजकथाप्रपञ्च है; चोरों का चोरप्रयोग कथन, वह चोरकथाविधान है (अर्थात् चोरों द्वारा किये जानेवाले चोरी के प्रयोगों की बात वह चोरकथा है); अति वृद्धि को प्राप्त भोजन की प्रीति द्वारा मैदा की पूरी और शक्कर, दही-शक्कर, मिसरी इत्यादि अनेक प्रकार के अशन-पान की प्रशंसा, वह भक्तकथा (भोजनकथा) है।- इन समस्त कथाओं का परिहार, सो वचनगुप्ति है। असत्य की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है। अथवा (असत्य उपरान्त) अन्य प्रशस्त वचनों की निवृत्ति, वही वचनगुप्ति है।

इस प्रकार (आचार्यवर) श्री पूज्यपादस्वामी ने (समाधितन्त्र में १७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

www.vitragvani.com



(अनुष्टुभ्)

**एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।**
**एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः।**

(वीरछन्द)

**इस प्रकार बहिरङ्ग वचन को तजकर अन्तर्वचन अशेष।**
**यही योग परमात्म–प्रकाशक दीपक है कहते संक्षेप॥**

**श्लोकार्थ :** इस प्रकार बहिर्वचनों को त्यागकर अन्तर्वचनों को अशेषतः (सम्पूर्ण रूप से) त्यागना – यह संक्षेप से योग (अर्थात् समाधि) है जो कि योग परमात्मा का प्रदीप है (अर्थात् परमात्मा को प्रकाशित करनेवाला दीपक है)।

और इस ६७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं –

(मन्दाक्रान्ता)

**त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां।**
**ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकम्।**
**पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरीं तां**
**प्राप्नोत्युच्चैः प्रहतदूरितध्वांतसंघातरूपः॥ ९२॥**

(वीरछन्द)

**भव्यजीव भवभय उत्पादक सब वचनों का त्याग करें।**
**सहज शुद्ध विलसित चैतन्य चमत्कार का ध्यान करें॥**
**पाप तिमिर का पुञ्ज नाश कर अहो सहज जो महिमावन्त।**
**सौख्य और आनन्द खान है मुक्ति लहें अतिशय भगवन्त॥ ९२॥**

**श्लोकार्थ :** भव्यजीव, भवभय की करनेवाली समस्त वाणी को छोड़कर शुद्ध सहज –विलसते चैतन्य चमत्कार का एक का ध्यान करके, फिर, पापरूपी तिमिरसमूह को नष्ट करके सहजमहिमावंत आनन्दसौख्य की खानरूप ऐसी उस मुक्ति को अतिशयरूप से प्राप्त करता है।

## गाथा ६७ पर प्रवचन

**यहाँ वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है।** यह व्यवहारवचनगुप्ति की बात है, शुभराग की बात है। निश्चयगुप्ति की बात आगे आयेगी।

**जिन्हें काम अति वृद्धि को प्राप्त हुआ हो – ऐसे कामी जनों द्वारा की जानेवाली**

www.vitragvani.com



**और सुनी जानेवाली – ऐसी जो स्त्रियों की संयोग–वियोगजनित विविध वचनरचना ( स्त्रियों सम्बन्धी बात ), वही स्त्रीकथा है....**

जिन्हें काम की वासना अतिवृद्धिंगत हुई है – ऐसे कामीजनों द्वारा कहने और सुनने में आनेवाली स्त्रियों के सम्बन्धवाली तथा वियोगवाली कथा, वह स्त्रीकथा है। मुनि को उस स्त्रीकथा का त्याग होता है और उसे व्यवहारवचनगुप्ति कहते हैं। गृहस्थ को स्त्रीकथा का एकदेश त्याग होता है, जबकि मुनि को सर्वदेश, अर्थात् सर्वथा त्याग होता है, क्योंकि मुनि सर्वव्रती है।

**राजाओं का युद्धहेतुक कथन ( अर्थात् राजाओं द्वारा किये जानेवाले युद्धादिक का कथन ), वह राजकथाप्रपञ्च है....** इस राजा ने शत्रु को इस प्रकार मारा और इसने ऐसा किया, यह सब राजकथाएँ हैं और वह पापकथा है, उसका मुनि को त्याग होता है।

**चोरों का चोरप्रयोग कथन, वह चोरकथाविधान है ( अर्थात् चोरों द्वारा किये जानेवाले चोरी के प्रयोगों की बात, वह चोरकथा है )...**

इस प्रकार चोरी होती है, ऐसा करने से चोरी होती है – इत्यादि कथा, चोरकथा है और वह अशुभभाव है; इस भाव का मुनि को त्याग होता है। यह बात तो सामायिक में भी आती है कि स्त्रीकथा, राजकथा इत्यादि का त्याग तो जब समकिती सामायिक में होता है, तब भी होता है, जब समकिती अपने स्वरूप के आनन्द के वेदन में होता है, तब उसे इन विकथाओं का भाव नहीं होता। अहा! समकिती को भी शुद्धोपयोग होता है।

अन्दर में सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा के आनन्द का भान तो हुआ है परन्तु अब, जब अन्दर एकाग्रता का प्रयोग करते हैं, तब शुद्धोपयोग होता है। सामायिक का अर्थ ही यह है कि अन्तर में वीतरागभाव से जुड़ना, समताभावरूप उपयोग। उस सामायिक के काल में समकिती को शुद्धोपयोग होता है। देखो, चौथे गुणस्थान में भी समकिती, शुद्धोपयोग को प्राप्त करता है – ऐसा कहते हैं। पाँचवें गुणस्थान में भी सामायिक के काल में शुद्धोपयोग होता है और तब उसे भी ये चार प्रकार की पाप कथाएँ नहीं होती हैं।

**अति वृद्धि को प्राप्त भोजन की प्रीति द्वारा मैदा की पूरी और शक्कर, दही –शक्कर, मिसरी इत्यादि अनेक प्रकार के अशन–पान की प्रशंसा, वह भक्तकथा ( भोजनकथा ) है।**

भोजन में गृद्धि की बात करना कि ऐसी पूड़ी थी, आज बहुत अच्छा भोजन था – इत्यादि भोजनकथा, वह विकथा है। भाई! यह सब तो धूल है, इसमें क्या है? यह तो पापकथा है। देखो, प्रीतिपूर्वक आहार की प्रशंसा करना, वह पापकथा है। उसके अतिरिक्त आहार का ज्ञान करना, वह अलग बात है, इसीलिए तो 'प्रीतिपूर्वक' ऐसा शब्द है। मुनिजन, आहार की सब बात करते हैं कि आहार ऐसा होता है और वैसा होता है परन्तु वे आहार की बात करें, वह कहीं विकथा नहीं है, वह तो आहार का ज्ञान कराते हैं परन्तु प्रीतिपूर्वक, अर्थात् गृद्धिपूर्वक आहार की बात करे तो उसे यहाँ पापकथा कहा गया है।

संवत् १९८८ में एक प्रश्न हुआ था कि आप स्त्रीकथा को विकथा कहते हो परन्तु भगवान ने तो 'प्रश्न व्याकरणअङ्ग' में तो स्त्री के अङ्ग-उपाङ्ग सम्बन्धी सभी बातें की हैं? भाई! वह अलग बात है बापू! भगवान ने जो बात की है, वह तो जाननेयोग्य है, इसलिए कही है। जबकि राग की गृद्धि से स्त्रीकथा की जाए, उसे यहाँ विकथा कहा गया है। शास्त्र में स्त्री सम्बन्धी कथा कही है, वह प्रीति से नहीं कही है, वह तो जानने के लिए कही है, इसलिए वह विकथा नहीं है। जबकि यहाँ तो प्रेम और गृद्धि से दुनिया को प्रसन्न करने के लिए की जानेवाली स्त्रीकथा को विकथा, अर्थात् पापकथा कहते हैं। इसलिए भगवान की बात, अर्थात् कथा में और अज्ञानी की बात, अर्थात् कथा में अन्तर है। स्त्री का स्वरूप ऐसा है – ऐसा मात्र ज्ञान कराना और उसे राग की गृद्धि से, अर्थात् प्रेम से बतलाना – इन दोनों में बहुत अन्तर है – ऐसी अद्भुत बातें हैं।

भाई! हमारे तो एक-एक बात की बहुत चर्चा हुई है। श्री जिनसेनाचार्य की बात आती है कि उन्होंने स्त्री की कथा ऐसी भाषा में की है कि सुननेवालों का मन चञ्चल हो जाता है परन्तु स्वयं तो जैसे के तैसे रहे, इसलिए मात्र बात करने से क्या है? यदि अन्दर में राग की गृद्धि हो तो उसे विकथा कहा जाता है। इस प्रकार मात्र बोलना, वह विकथा नहीं है परन्तु उसके साथ अन्दर में गृद्धि का भाव होना, वह विकथा है।

— **इन समस्त कथाओं का परिहार सो वचनगुप्ति है।....** इसे वचनगुप्ति कहते हैं।

**असत्य की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है। अथवा (असत्य उपरान्त) अन्य प्रशस्त वचनों की निवृत्ति, वही वचनगुप्ति है।**

ऊपर कही इतनी विकथा ही नहीं, अपितु इनके अतिरिक्त दूसरे कितने ही असत्य तथा

www.vitragvani.com



अप्रशस्त वचनों की निवृत्ति भी वचनगुप्ति हैं। धर्मात्मा मुनिराज को ऐसे अशुभभाव का त्याग होता है और वे शुभभाव में वर्तते हैं, उसे व्यवहारवचनगुप्ति कहा जाता है। जिसे निर्विकल्प दृष्टि अनुभव और चारित्रदशा है, अर्थात् जिसे निश्चयगुप्ति है, उसके विकथा के, अर्थात् अशुभभाव के त्यागरूप शुभभाव को व्यवहारवचनगुप्ति कहा जाता है; इसके अतिरिक्त अज्ञानी के तो व्यवहारवचनगुप्ति भी नहीं होती।

इस प्रकार (आचार्यवर) श्री पूज्यपादस्वामी ने (समाधितन्त्र में १७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

**इस प्रकार बहिर्वचनों को त्यागकर, अन्तर्वचनों को अशेषतः ( सम्पूर्ण रूप से ) त्यागना....** यह निश्चयवचनगुप्ति की बात है। अन्तर्जल्प अर्थात् विकल्प को भी सर्वथा, अर्थात् सम्पूर्णरूप से, पूर्णरूप से छोड़कर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में अपनी परिणति को जोड़ दे न! व्यर्थ में यह बाह्य में क्यों जोड़ा हुआ है – ऐसा कहते हैं।

**यह संक्षेप से योग ( अर्थात् समाधि ) है.....** यह संक्षेप से समाधि है। 'लोगस्स सूत्र में' आता है कि **समाहिवरमुत्तमं दिंतु।** आधि अर्थात् मन के सङ्कल्प से रहित, 'व्याधि' अर्थात् शरीर की व्याधि / रोग से रहित और उपाधि, अर्थात् बाह्य संयोग से रहित आत्मा की अन्तरङ्ग शान्ति, वह समाधि है।

**जो कि योग परमात्मा का प्रदीप है ( अर्थात् परमात्मा को प्रकाशित करनेवाला दीपक है )।**

मन का सङ्ग छोड़ना, वाणी का सङ्ग छोड़ना और स्वभाव का सङ्ग करना; अर्थात्, शुद्ध आनन्द का धाम भगवान आत्मा का सङ्ग करना, वह परमात्मा का प्रदीप है। दूसरे प्रकार से कहें तो आनन्दस्वरूप आत्मा में जुड़ान करना, अर्थात् असङ्ग का सङ्ग करनेरूप योग / स्वरूप की एकाग्रता, वह परमात्मा का प्रदीप है। तात्पर्य यह है कि अन्दर में परमात्मा को प्रकाशित करनेवाला दीपक है। अहा! सम्यग्ज्ञान के नेत्र और समाधि द्वारा आत्मा को देखना, वह परमात्मा का प्रकाशक दीपक है; इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप के विकल्प, वे कहीं परमात्मा को प्रकाशित नहीं करते। वाणी का योग, वह विकल्प है और वह भी कहीं आत्मा को प्रकाशित करने में कारण नहीं है – ऐसा कहते हैं। देखो, वचनगुप्ति में यह बात की है कि कैसा भी स्वाध्याय अथवा उपदेश दे तो

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

भी वह विकल्प है; जबकि आत्मा में जुड़ान करना, वह परमात्मा को प्रकाशित करनेवाला योग है, जिसे यहाँ शान्ति और समाधि कहते हैं।

## कलश ९२ पर प्रवचन

आज भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरने का दिन है। भगवान महावीर परमात्मा को वैशाख शुक्ल दसवीं के दिन चार ज्ञान का अभाव होकर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ परन्तु वाणी नहीं खिरी, क्योंकि तीर्थङ्कर की वाणी खिरे और धर्म प्राप्त करनेवाले न हों – ऐसा नहीं होता। जब उन्होंने तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधा था, अर्थात् उन्हें बँधा था, तब उनके भाव में यह था कि 'मैं पूर्ण होऊँ' अथवा 'सभी जीव धर्म प्राप्त करें' – इस कारण उनकी / तीर्थङ्कर की वाणी खिरती है और तब धर्म प्राप्त करनेवाले जीव भी होते ही हैं – ऐसा वाणी और श्रोता का सम्बन्ध है। तब वैशाख शुक्ल दसवीं को धर्म प्राप्त करने में मुख्य जो गणधर हैं, वे नहीं थे; इसलिए वाणी नहीं खिरी। वस्तुत: तो वाणी खिरने का काल ही नहीं था, इसलिए वाणी नहीं खिरी।

आज श्रावण कृष्णा एकम् के दिन इन्द्र, गौतम-गणधर को लेकर आये और छियासठ दिन बाद दिव्यध्वनि खिरी; गणधर आये इसलिए वाणी खिरी, यह कहना निमित्तसापेक्ष कथन है। वास्तव में तो वाणी खिरने का उसी समय काल था, इसलिए वाणी खिरी है। सिद्धान्त शास्त्र 'धवला' में आता है कि इन्द्र, गौतम को पहले क्यों नहीं लाया? उसके उत्तर में वहाँ कहा है कि भाई! वाणी खिरने का और गौतम के समझने का काल नहीं था, अर्थात् काललब्धि नहीं थी; इसलिए इन्द्र, गौतम को पहले नहीं लाया। आज श्रावण कृष्णा एकम् को गौतम आये और भगवान के श्रीमुख से दिव्यध्वनि खिरनी लगी।

(१) उस वाणी में आये हुए सिद्धान्त के अर्थ के करनेवाले भगवान महावीर हैं, इसलिए भगवान महावीर, वह द्रव्य-वस्तु हैं।

(२) राजगृही नगरी के समीप पाँच पर्वत हैं, उनमें एक विपुलाचल पर्वत है, उस पर्वत पर से भगवान की वाणी खिरी; इसलिए विपुलाचल पर्वत, वह क्षेत्र है।

(३) आज श्रावण कृष्णा एकम् के दिन दिव्यध्वनि खिरी, इसलिए श्रावण कृष्णा एकम्, वह काल है।

(४) महावीर प्रभु हैं तो केवलज्ञानी, परन्तु उन्होंने भावश्रुत की प्ररूपणा की, क्योंकि गणधर भावश्रुत को प्राप्त करते हैं तो उन्हें निमित्त भी भावश्रुत है; इसलिए भावश्रुत, वह भाव है।

इस प्रकार अर्थ के करनेवाले भगवान महावीर परमात्मा ने विपुलाचल पर्वत से आज श्रावण कृष्णा एकम् के दिन भावश्रुत की प्ररूपणा की और तत्पश्चात् द्रव्यश्रुत की रचना करनेवाले गणधर थे, उन्होंने अन्तर्मुहूर्त में बारह अङ्ग की रचना की है। उस रचना का दिन भी आज है। आज (१) भगवान की दिव्यध्वनि खिरी, (२) गणधर ने सुनी, और (३) गणधर ने द्वादशाङ्ग की रचना की। उस श्रावण कृष्णा एकम् का दिन आज है।

सिद्धान्त की आज श्रावण कृष्णा एकम् है। अमास, अर्थात् आधा माह और पूर्णिमा, अर्थात् पूर्ण मास; इसलिए सिद्धान्त अनुसार कृष्ण पक्ष पहले और शुक्ल पक्ष बाद में आता है। इस श्रावण महीने के पहले दिन, अर्थात् श्रावण कृष्ण एकम् के दिन भगवान की दिव्यध्वनि खिरी और गणधर ने भावश्रुत के परिणमनपूर्वक द्रव्यश्रुत की रचना की। भगवान की वाणी में भावश्रुतरूप अर्थ आया और उसमें से भावश्रुतरूप परिणमित गणधर ने द्रव्यश्रुत की रचना की। इस प्रकार अर्थ के कर्ता भगवान हैं और द्रव्यश्रुत के कर्ता गणधरदेव हैं।

अहा! भगवान को केवलज्ञान होने पर भी जो मुख्य श्रोता हैं, ऐसे गणधर नहीं थे, इसलिए वाणी नहीं खिरी। तत्पश्चात् छियासठ दिन तक दिव्यध्वनि बन्द थी, वह आज खिरी; इसलिए आज दिव्यध्वनि खिरने का दिन है। जिस समय दिव्यध्वनि खिरी थी, तब तो इन्द्र और गणधर भी विपुलाचल पर्वत पर थे।

अज्ञानी कहता है कि देखो गणधर नहीं थे, इसलिए वाणी नहीं खिरी और गणधर, निमित्त हुए इसलिए वाणी खिरी, परन्तु ऐसा नहीं है। गणधर नहीं थे, इसलिए वाणी नहीं खिरी – यह बात मात्र व्यवहार से कही जाती है। वस्तुतः वाणी तो वाणी के काल में ही खिरी थी, उसमें गणधर मात्र निमित्त थे।

भगवान महावीर द्वारा कथित सिद्धान्तों की सन्तों ने शास्त्ररूप में रचना की है और उनमें से यह एक नियमसार सिद्धान्त शास्त्र है। नियमसार, अर्थात् शुद्ध मोक्ष का मार्ग। नियम का अर्थ मोक्षमार्ग होता है। आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा के अन्तर अनुभव में सम्यग्दर्शन –ज्ञान और स्वरूप की रमणता प्रगट होती है, वह मोक्ष का मार्ग है और उसका फल मोक्ष है। इस प्रकार इस नियमसार में मार्ग और मार्ग के फल की बात की गयी है। यह बात दूसरी गाथा में आ गयी है कि जिनशासन में मार्ग और मार्ग के फल का व्याख्यान है।

यहाँ इस ६७ वीं गाथा में वचनगुप्ति की बात चल रही है। देखो, आज के दिन भगवान की वाणी खिरी थी तो उसमें वचनगुप्ति किसे कहना? – यह बात भी आयी थी। यहाँ कहते हैं कि – **भव्यजीव, भवभय की करनेवाली समस्त वाणी को छोड़कर....** पहली बात तो यह ली है कि जो भव्य जीव-पात्र जीव हैं; अर्थात्, आत्मा की शान्तिरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के योग्य हैं, उन्हें भवभय की करनेवाली समस्त वाणी छोड़ना चाहिए। यद्यपि वाणी तो जड़ है परन्तु उस समय बोलने का विकल्प है, वह भवभय को करनेवाली दशा है और उसे छोड़ना।

देखो! कलश की भाषा तो यह है कि वाणी को छोड़कर.... परन्तु उसका अर्थ यह है कि वाणी बोलने के भाव को, जो कि विकल्प / राग है, उसे छोड़ना; इसके अतिरिक्त वाणी को क्या छोड़ना था? क्योंकि वह तो जड़ है, वह भी छद्मस्थ को वाणी बोलने का विकल्प होता है, केवली को नहीं। केवली को तो कोई विकल्प अथवा राग नहीं होता। उन्हें तो इच्छा के बिना दिव्यध्वनि –वाणी खिरती है परन्तु जो छद्मस्थ रागी हैं, उन्हें वाणी निकलती है, उसमें राग के परिणाम का निमित्तपना है और वह परिणाम छोड़ने योग्य है – ऐसा कहते हैं। देखो! छद्मस्थ मुनि को व्याख्यान करते समय वाणी बोलने का शुभराग होता है – ऐसा कहते हैं, क्योंकि उस समय वचनगुप्ति है न! और उसकी तो यहाँ बात चलती है।

अहा! पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि की एक रचना तो देखो! वे कहते हैं कि वाणी बोलने का राग, भवभय का करनेवाला है; अर्थात् स्वयं को / मुनि को उपदेश देने के काल में शुभभाव है, वह भी भवभय का कारण है – ऐसा कहते हैं। अज्ञानी कहता है कि उपदेश देने से उपदेशक को निर्जरा होती है और दूसरा जीव धर्म प्राप्त करता है, इसलिए उसे लाभ होता है। जबकि यहाँ कहते हैं कि यह सब बातें मिथ्या है, क्योंकि छद्मस्थ को उपदेश देने की वाणी बोलते समय राग होता है, इसलिए उसे निर्जरा नहीं होती। अहा! मुनि की और अज्ञानी की बात में कितना अन्तर है!

**शुद्ध सहज-विलसते चैतन्य-चमत्कार का एक का ध्यान करके....** अब कहते हैं कि असत्य वाणी बोलने में अशुभराग होता है, वह तो ठीक है, अर्थात् वह तो छोड़ने योग्य है ही, परन्तु धर्म की वाणी कहने में शुभराग-विकल्प होता है, उसे भी छोड़कर शुद्धरूप से स्वाभाविक विलसते हुए भगवान आत्मा का ध्यान कर। अहा! अन्दर में भगवान आत्मा शुद्धरूप से सहज विलसता, अर्थात् स्वाभाविक खिला हुआ चैतन्य-चमत्कारमय प्रभु है, अर्थात् भगवान आत्मा में तो चैतन्य-चमत्कार भरा हुआ है – ऐसे चैतन्य-चमत्कार में आत्मतत्त्व का एक का ही ध्यान कर।

www.vitragvani.com



कहते हैं कि वाणी बोलने के राग को छोड़कर सहज वीतरागतारूप से विलसते हुए प्रभु आत्मा का ध्यान कर! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर चैतन्य-चमत्कार मूर्ति प्रभु आत्मा स्वयं है, उस एक का ध्यान कर। देखो, एक आत्मा का ही ध्यान कर – यह कहते हैं, किन्तु उसके द्रव्य -गुण-पर्याय के भेद का अथवा दूसरे भगवान का ध्यान कर यह नहीं कहा है, क्योंकि दूसरे भगवान तो परवस्तु हैं, इसलिए उनका ध्यान करने से तो विकल्प-राग उत्पन्न होता है।

देखो! यहाँ 'एक' शब्द का प्रयोग किया है, अर्थात् आत्मा वस्तु है, उसमें उसके गुण हैं और उसकी दशा है – ऐसे भेद नहीं है; अपितु प्रभु आत्मा तो एकरूप चैतन्यपिण्ड है, उसका एक का ध्यान कर। देखो, यह मोक्षमार्ग है।

यह तो नियमसार है न! इसलिए यहाँ मोक्षमार्ग की व्याख्या की गयी है। अहा! इन इन्द्रियों के विषयों में तो कल्पित आनन्द है, कल्पित सुख है; वस्तुतः तो वह दुःख ही है, जहर है। जबकि अन्तर में भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय सुखामृत का रसकन्द है – ऐसे आत्मा का एक का ही ध्यान कर और उस ध्यान को यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। शुद्ध सहज विलसते हुए चैतन्य-चमत्कार का एक का – यह द्रव्य है, वस्तु है और ध्यान करके – यह पर्याय है।

जिसे आत्मा का हित करना हो और इन चार गति के दुःखों का अभाव करना हो, उसे क्या करना चाहिए? वह यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा स्वभाविक विलसता हुआ चैतन्य-चमत्कारमय प्रभु है। वह एक स्वरूप-एकरूप है और उसका ध्यान कर। सम्यग्दर्शन में भी, सम्यग्ज्ञान में भी तथा सम्यक्चारित्र में भी आत्मा को ध्येय, अर्थात् विषय बनाकर उसका ध्यान कर। देखो, वीतराग का मार्ग ऐसा है। अहा! विपुलाचल पर्वत पर इन्द्र और गणधरों के समक्ष भगवान की वाणी / दिव्यध्वनि खिरी थी, तब उसमें यह आया था कि भगवान! तेरा स्वरूप तो सहज चैतन्य -चमत्कारमय है। तू ऐसी वस्तु है, इसलिए उसका ध्यान कर, उसे ध्येय / विषय बना और राग तथा पररूप विषयों को लक्ष्य में से छोड़ दे।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा अकेला अमृत समान शान्ति के रस से भरपूर समुद्र है, फिर भी अरे, लोगों ने उसे पामररूप से कल्पित कर रखा है। जिस प्रकार मृग की नाभि में कस्तूरी होने पर भी मृग को उसकी कीमत नहीं है; उसी प्रकार परमात्मा कहते हैं कि तेरे स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्द की कस्तूरी पड़ी है, तथापि उसे नहीं मानकर तू आनन्द को बाहर में खोजता है। विषयों

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

में सुख है, प्रतिष्ठा में सुख है, धन-दौलत में सुख है; इस प्रकार तू बाहर में सुख खोजता है परन्तु वह बाहर का सुख तो जहर है, परन्तु अरे! अज्ञानी को यह बात मान्य कैसे हो? क्योंकि उसने तो पैसा इत्यादि बढ़ने पर सुख बढ़ा - ऐसा माना है। भाई! पैसा बढ़े, उसमें क्या हुआ? वह तो दुःख के निमित्त बढ़े। पैसा तो जड़, मिट्टी, धूल है। क्या धूल में सुख होता है? उस पर लक्ष्य जाने से तो राग और आकुलता होती है।

यहाँ कहते हैं कि तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर परमात्मा, समवसरण में साक्षात् विराजते हों और उनका लक्ष्य करें या ध्यान करने जाए तो राग ही होता है क्योंकि परद्रव्य पर लक्ष्य जाने से तो राग ही होता है। परद्रव्य के लक्ष्य से और ध्यान से धर्म नहीं होता, परन्तु अन्दर अखण्डानन्दमय चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा है, उसका ध्यान करने से शान्ति और आनन्द प्रगट हो, उसे धर्म हुआ कहा जाता है।

अब, कहते हैं कि एक आत्मा का ध्यान करने से क्या फल आता है? **फिर, पापरूपी तिमिरसमूह को नष्ट करके सहजमहिमावन्त आनन्दसौख्य की खानरूप - ऐसी उस मुक्ति को अतिशयरूप से प्राप्त करता है।** इस प्रकार मार्ग और मार्ग का फल दोनों की बात करते हैं। यहाँ पाप शब्द से पुण्य और पापरूप दोनों भावों को पाप कहा है। अन्दर में भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दामृत से डोलता प्रभु है, नाथ है। इसलिए कहते हैं कि अरे! उसे पकड़ न! उसे ध्यान में ले न! उसका ध्यान रख न! उसका ध्यान कर न! तो तुझे शान्ति होगी और उसके फल में पुण्य-पापरूप अन्धकार का नाश होकर मुक्ति होगी। भाषा देखो! कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव, अज्ञान अन्धकार हैं, वे कोई चैतन्य-चमत्कारमय नहीं हैं।

यहाँ आमने-सामने बात करनी है, इसलिए कहते हैं कि भगवान आत्मा चैतन्य-चमत्कार के नूर का पूर है; जबकि पुण्य-पाप तिमिर है, अज्ञान-अन्धकार है। देखो, यह पुण्य-पाप के भाव की बात है, किन्तु उनके फल की-संयोग की बात नहीं है। शुभ-अशुभभाव, राग / पाप है, अन्धकार है; जबकि भगवान आत्मा चैतन्य-चमत्कार का नूर है और उसका ध्यान करने से, उसका आश्रय करने से, उसका अवलम्बन करने से प्रगट होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी वीतरागीदशा पुण्य-पाप के अन्धकार का नाश करनेवाली है।

असंख्य प्रकार के पुण्य-पाप के विकल्प हैं वे - सत्यवाणी बोलने का राग भी - अन्धकार, अर्थात् तिमिर है - ऐसा यहाँ कहते हैं, क्योंकि वह विकल्प है न! अरे! धर्म करना तो अभी बाद

www.vitragvani.com



में रहा परन्तु यह एक-एक बोल समझने में भी अज्ञानी को परेशानी होती है कि यह क्या कहते हैं ? अज्ञानी को अभी धर्म समझने का भी ठिकाना नहीं है और वह अपने को धर्म हो गया मानता है। अरे! ऐसे ही जिन्दगी चली जाती है। यहाँ कहा है कि सहज महिमावन्त आनन्द सौख्य की खानरूप – ऐसी उस मुक्ति को.... यह मुक्ति का विशेषण है। जबकि शुद्ध सहज विलसते चैतन्य –चमत्कार.... यह द्रव्य का विशेषण था और उसका ध्यान, वह पर्याय है तथा मुक्ति भी पर्याय है। अन्तरङ्ग स्वरूप को ध्यान में लेने से उसके फल में सहज महिमावन्त मुक्ति प्राप्त होती है। अहा! मुक्ति की / सिद्धपद की सहज महिमा है और वह आनन्दसुख की खान है।

अज्ञानी शब्दों में बोलता है कि **सिद्धा सिद्धिम मम विसन्तु,** अर्थात् हे सिद्ध भगवान! हमें सिद्धपद दिखाओ, अर्थात् हमें केवलज्ञान प्राप्त हो – ऐसी याचना करता है परन्तु उसके अर्थ को कुछ भी नहीं समझता। इसे तो 'तुम्बी में कंकड़' जैसा है। अब यदि अर्थ का पता नहीं है तो भाव का भाषन होना कैसे सम्भव है। अज्ञानी तो सामायिक का पाठ बोलकर धर्म हो गया मानता है, परन्तु उसमें धूल भी धर्म नहीं है। अहा! जैन नाम धराता है तो भी उसे कुछ पता नहीं है।

जिसका अन्तरस्वरूप परमात्ममय है – ऐसे अखण्डानन्दमय प्रभु आत्मा को जिसने ध्यान में लेकर पकड़ा है, वह सहज महिमावन्त, आनन्दसुख की खान – ऐसी मुक्ति को अतिशयरूप से, अर्थात् विशेषरूप से प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि उसकी मुक्ति होती ही है परन्तु दूसरा कुछ उसे प्राप्त नहीं होता। अब उसे गति प्राप्त नहीं होती – ऐसा कहते हैं। मोक्ष के मार्ग में जाए तो मोक्ष ही प्राप्त होता है, मोक्ष ही आता है। भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप है और उसका ध्यान करने से पर्याय में मुक्ति प्रगट होती है। देखो, यह मोक्षमार्ग की क्रिया! अज्ञानी को इस क्रिया की सूझ नहीं पड़ती, इसलिए यात्रा इत्यादि करने से धर्म हो जाएगा – ऐसा मानता है। अरे! धर्म क्या है ? – इस वस्तु का पता नहीं होने से वह धर्म के नाम पर अनादि से ठगाया गया है।

इस प्रकार यह ६७ वीं गाथा पूर्ण हुई। अब ६८ वीं गाथा में कायगुप्ति की व्याख्या है।

●●

## गाथा ६८

**बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया।**
**कायकिरियाणियत्ती णिदिट्ठा कायगुत्ति त्ति॥ ६८॥**

**बंधनछेदनमारणाकुञ्चनानि तथा प्रसारणादीनि।**
**कायक्रियानिवृत्तिः निर्दिष्टा कायगुप्तिरिति॥ ६८॥**

**मारन, प्रतारण, बन्ध छेदन और आकुञ्चन सभी।**
**करते सदा परिहार मुनिजन, गुप्ति पालें काय की॥ ६८॥**

**गाथार्थ :** बन्धन, छेदन, मारन (मार डालना), आकुञ्चन (सङ्कोचना) तथा प्रसारण (विस्तारना) इत्यादि कायक्रियाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहा है।

**टीका :** यहाँ कायगुप्ति का स्वरूप कहा है।

किसी पुरुष को बन्धन का अन्तरङ्ग निमित्त कर्म है, बन्धन का बहिरङ्ग हेतु किसी का काय व्यापार है; छेदन का भी अन्तरङ्ग कारण कर्मोदय है, बहिरङ्ग कारण प्रमत्त जीव की कायक्रिया है; मारन का भी अन्तरङ्ग हेतु आन्तरिक (निकट) सम्बन्ध का (आयु का) क्षय है, बहिरङ्ग कारण किसी की कायविकृति है; आकुञ्चन, प्रसारण आदि का हेतु सङ्कोचविस्तारादिक के हेतुभूत समुद्घात है। – इन कायक्रियाओं की निवृत्ति, वह कायगुप्ति है।

अब ६८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(अनुष्टुभ्)

**मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः।**
**संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ॥ ९३॥**

www.vitragvani.com



(दोहा)

**तजकर काय विकार जो आत्म भावना भाय।**
**पुनः पुनः ध्यावे उसे जन्म सफल हो जाए॥ ९३॥**

**श्लोकार्थ :** कायविकार को छोड़कर, जो पुनः पुनः शुद्धात्मा की सम्भावना (सम्यक् भावना) करता है, उसी का जन्म संसार में सफल है।

**गाथा ६८ पर प्रवचन**

यहाँ कायगुप्ति का स्वरूप कहा है।

**किसी पुरुष को बन्धन का अन्तरङ्ग निमित्त कर्म है...** देखो भाई! यहाँ अन्तरङ्ग कारण की (निमित्त की बात) आयी है, तिरेपनवीं गाथा में उसकी बात आ गयी है और यहाँ भी आयी है। कोई पुरुष, अन्य पुरुष को बाँधे तो उसमें अन्तरङ्ग कारण उसका कर्म है। उस पुरुष का कर्म है, अर्थात् कर्म का वैसा उदय है; इसलिए कोई बाँधता है। अतः अन्तरङ्ग कारण कर्म है।

**बन्धन का बहिरङ्ग हेतु किसी का काय व्यापार है;...** दूसरा पुरुष उसे बाँधता है न! इसलिए दूसरे पुरुष का काय व्यापार बाह्य निमित्त है। इस प्रकार दूसरा पुरुष उसे वृक्ष के साथ बाँधे, डोर से बाँधे, लोहे की साँकल से बाँधे – इत्यादि बँधन करे तो उसमें मूल कारण, अर्थात् वास्तविक निमित्त तो अन्दर असाताकर्म है, वह है और बाह्य में निमित्त दूसरे के काय का व्यापार है।

**छेदन का भी अन्तरङ्ग कारण कर्मोदय है....** कोई अन्य उसे छेदे, शरीर के टुकड़े करे, कान अथवा नाक आदि काट दे, उसमें अन्तरङ्ग कारण / निमित्त कर्मोदय है, असाता का उदय है।

**बहिरङ्ग कारण प्रमत्त जीव की कायक्रिया है;.....** भाषा देखो! कि प्रमत्त जीव की कायक्रिया, बहिरङ्ग कारण है। प्रमत्त मुनि, अर्थात् छठवें गुणस्थानवाले मुनि गमन कर रहे हों, तब कदाचित् किसी जीव का घात हो जाए तो उनकी कायक्रिया, छेदन में बाह्य निमित्त कही जाती है। उन्हें पाप लगता है या नहीं? यह प्रश्न अभी यहाँ नहीं है। यहाँ तो दूसरे जीव का छेद होता है, उसमें बाह्य निमित्त कौन है? – यह बात है; अतः कहते हैं कि प्रमत्तदशावाले जीव को गमन का विकल्प होता है। प्रमत्तदशा में ही जीव को गमन करने का राग होता है न! अप्रमत्तदशा में तो वह अन्दर

में स्थित होता है, इसलिए पहले गुणस्थान से प्रमत्त गुणस्थान तक उसकी काया का व्यापार छेदन में बाह्य निमित्त है।

**मारन का भी अन्तरङ्ग हेतु आन्तरिक ( निकट ) सम्बन्ध का ( आयु का ) क्षय है,....** मरण का अन्तरङ्ग हेतु अन्दर में आयुष्य का क्षय है। आयुष्य पूर्ण होने पर मरण होता है, इसके अतिरिक्त बाह्य कारण से कोई मार सके – ऐसा नहीं है।

**बहिरङ्ग कारण किसी की कायविकृति है;....** काया का व्यापार, निमित्त होने पर कोई मर जाए तो काया का व्यापार, बाह्य निमित्त है। आयुष्य पूर्ण होता है, वह अन्तरङ्ग कारण (निमित्त) है और काया का व्यापार, वह बाह्य निमित्त है।

**आकुञ्चन, प्रसारण आदि का हेतु सङ्कोचविस्तारादिक के हेतुभूत समुद्घात है।....** आत्मा के प्रदेश बाहर निकले, तब समुद्घात होता है न! तो वह आकुञ्चन, प्रसारण इत्यादि का कारण है।

— **इन कायक्रियाओं की निवृत्ति, वह कायगुप्ति है।** इन सबसे निवृत्त होना और आत्मा के अन्तरध्यान में जाना, इसका नाम कायगुप्ति है। अहा! ऐसी कायगुप्ति अभी कोई कर सके या नहीं कर सके – यह प्रश्न नहीं है परन्तु पहले समझे तो सही कि कायगुप्ति किसे कहना? इसलिए यहाँ कहा है कि काया के व्यापार को तथा विकल्प को छोड़ना और अन्दर आनन्दस्वरूप आत्मा को ध्यान में ध्याना, उसे कायगुप्ति कहा जाता है।

## कलश ९३ पर प्रवचन

**कायविकार को छोड़कर, जो पुनः पुनः शुद्धात्मा की सम्भावना ( सम्यक् भावना ) करता है, उसी का जन्म संसार में सफल है।**

देखो कायविकार को, अर्थात् काय सम्बन्धी विकल्प को छोड़कर, जो जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप आनन्दकन्द प्रभु आत्मा की भावना करता है, अर्थात् उसमें एकाग्र होता है, उसका जन्म सफल है; उसके अतिरिक्त अन्य सबका जन्म निरर्थक है। दूसरे जो जीव जन्में हैं, वे तो मरेंगे और फिर जन्मेंगे; इसलिए उनका जन्म निरर्थक है – ऐसा कहते हैं।

चैतन्यवस्तु भगवान आत्मा के अन्तर में यथार्थ एकाग्रता करना, उसे सम्भावना–सम्यक्भावना कहा जाता है और जो जीव ऐसी भावना करता है, उसका ही जन्म संसार में सफल है, अर्थात् उसे

www.vitragvani.com



जन्म लेकर पुनः जन्मना नहीं पड़ेगा – ऐसा कार्य किया है। यह कायगुप्ति की बात है, इसलिए कहते हैं कि अब उसे शरीर ही प्राप्त नहीं होगा, उसका जन्म ही नहीं होगा। अन्दर भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप वस्तु है, उसका जिसने ध्यान किया; अर्थात्, वर्तमान ध्यान की दशा द्वारा जिसने आत्मा को विषय बनाया, उसे अब जन्म कैसा? उसे यह प्राप्त हुआ जन्म सफल है और अब पुनः उसे काया प्राप्त नहीं होगी – ऐसा कहते हैं। देखो, कायगुप्ति में यह बात की है कि संसार में उसी का जन्म सफल है।

पहले (६६ और ६७) में व्यवहारमनोगुप्ति और व्यवहारवचनगुप्ति की बात थी। इस गाथा ६८ में व्यवहारकायगुप्ति की बात है और गाथा ६९ में निश्चयमनोगुप्ति और निश्चयवचनगुप्ति की बात कही है। ●●

## यह है मुनिदशा का सहज मार्ग

संसार में गृहस्थदशा में रहते-रहते किसी को केवलज्ञान हो जाए अथवा मुनिदशा प्रगटे – ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। गृहस्थदशा में अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावकदशा हो सकती है; तत्पश्चात् अन्तर स्वरूप में विशेष लीनता होने पर छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होने के समय तो बहुत राग-द्वेष छूट जाते हैं और बाह्य संयोग भी स्वयं छूट जाते हैं। आत्मा उन बाह्य संयोगों को नहीं छोड़ता है और वे न छूटें, ऐसा नहीं होता है – यही सहज मार्ग है। मोक्षमार्ग में ऐसी सहज मुनिदशा होती। कोई मुनिदशा का स्वरूप अन्य प्रकार से माने अथवा मनवावे तो वह मिथ्यादृष्टि है। अन्तर में-आत्मा की दशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागता प्रगट हुए बिना अकेली बाह्य निर्ग्रन्थता में अथवा पञ्च महाव्रत में मुनिदशा नहीं है तथा अन्तर में भाव निर्ग्रन्थता प्रगटे अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रगटे और बाह्य में वस्त्रादि रहित निर्ग्रन्थता न हो – ऐसा कभी नहीं होता। *( – पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ १४२ )*

## गाथा ६९

**जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती।**
**अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वइगुत्ती॥ ६९॥**

**या रागादिनिवृत्तिर्म्मनसो जानीहि तां मनोगुप्तिम्।**
**अलीकादिनिवृत्तिर्वा मौनं वा भवति वग्गुप्तिः॥ ६९॥**

**हो राग की निवृत्ति मन से नियत मनगुप्ति वही।**
**होवे असत्य-निवृत्ति अथवा मौन वच गुप्ति कही॥ ६९॥**

**गाथार्थ :** मन में से जो रागादि की निवृत्ति, उसे मनोगुप्ति जान। असत्यादि की निवृत्ति अथवा मौन, वह वचनगुप्ति है।

**टीका :** यह, निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है।

सकल मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक्‌रूप से अवस्थित रहना ही निश्चयमनोगुप्ति है। हे शिष्य! तू उसे वास्तव में अचलित मनोगुप्ति जान।

समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मौनव्रत, सो वचनगुप्ति है। मूर्तद्रव्य को चेतना का अभाव होने के कारण और अमूर्तद्रव्य इन्द्रियज्ञान से अगोचर होने के कारण दोनों के प्रति वचनप्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार निश्चयवचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया।

अब ६९ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीडित)

**शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः**
**शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम्।**
**प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा**
**जीवन्मुक्तिमुपेति योगितिलकः पापाटवीपावकः॥ ९४॥**

(वीरछन्द)

**जो प्रशस्त अप्रशस्त वचन-मन के समूह का करता त्याग।**
**आत्मनिष्ठ रहता अरु शुद्धाशुद्ध नय रहित हो निष्पाप॥**
**चिन्तामणि चिन्मात्र प्राप्त कर सदा अनन्त चतुष्टय युक्त।**
**पापारण्य-दहन सम योगितिलक होता है जीवनमुक्त॥ ९४॥**

**श्लोकार्थ :** पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान ऐसा योगितिलक (मुनिशिरोमणि) प्रशस्त-अप्रशस्त, मन-वाणी के समुदाय को छोड़कर आत्मनिष्ठा में परायण रहता हुआ, शुद्धनय और अशुद्धनय से रहित ऐसे अनघ (निर्दोष) चैतन्यमात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके, अनन्तचतुष्टयात्मकपने के साथ सर्वदा स्थित ऐसी जीवनमुक्ति को प्राप्त करता है।

## गाथा ६९ पर प्रवचन

**यह, निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है।**

निश्चयनय से, अर्थात् सच्ची दृष्टि से; तो यह सच्ची दृष्टि से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की व्याख्या है। जबकि पहले गाथा ६६ और ६७ वीं में व्यवहारमनोगुप्ति और वचनगुप्ति की बात थी। वह व्यवहारगुप्ति, विकल्परूप थी, किन्तु सच्ची गुप्ति नहीं थी। देखो, इस व्यवहारचारित्र अधिकार में निश्चयगुप्ति की बात करते हैं और ऐसा कहकर यह सिद्ध करते हैं कि निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? अशुभभाव से छुटना और शुभविकल्प में आना, वह व्यवहारगुप्ति है और शुभविकल्प से भी छूटकर स्वरूप में आना, वह निश्चयगुप्ति है।

**सकल मोहरागद्वेष के अभाव के कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक्‌रूप से अवस्थित रहना ही निश्चयमनोगुप्ति है।**

पहले व्यवहारमनोगुप्ति की व्याख्या में यह आया था कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की भूमिका में अशुभभाव से हटकर शुभभाव में आना, वह व्यवहारमनोगुप्ति है; जबकि यहाँ कहते हैं कि शुभ और अशुभ दोनों विकल्पों से हटकर अन्दर जाना (स्वरूप में लीनता करना), वह निश्चयमनोगुप्ति है। देखो, शब्द यह है कि 'सकल मोहरागद्वेष के अभाव के कारण...' अर्थात् व्यवहारमनोगुप्ति में मुनि को शुभराग था परन्तु इस निश्चयमनोगुप्ति में तो सकल मोहरागद्वेष का अभाव है। जिसने मोह, अर्थात् मिथ्यात्वभाव का परित्याग कर दिया है और

www.vitragvani.com



राग-द्वेष के विकल्प को भी छोड़ दिया है तथा जो अखण्ड अद्वैत भगवान आत्मा में स्थिर रहता है, उसे निश्चयमनोगुप्ति होती है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि आत्मा अखण्ड अद्वैत है, अर्थात् उसमें दोपना / भेद है ही नहीं। सभी मिलकर एक आत्मा है – ऐसा नहीं है परन्तु जिसमें गुण-गुणी का भेद भी नहीं है, जिसमें द्वैतपना नहीं है और जो एकरूप है – ऐसा आत्मा अखण्ड अद्वैत है तथा वह परमचिद्रूप / परम ज्ञानस्वभावरूप प्रभु है। ऐसे अन्दर के अखण्ड अद्वैत चिद्रूप आत्मा में यथार्थरूप से स्थिर रहना ही निश्चयमनोगुप्ति है। देखो, इसका नाम सच्ची मनोगुप्ति और धर्म है।

कोई कहता है कि यह सब तो जो केवली हुए, उनकी बातें हैं परन्तु भाई! यह कहाँ केवली की बातें हैं; यह तो मुनिदशा की बातें हैं। केवली होने के उपाय भी मुनिमार्ग है, उनकी दशा ऐसी होती है, इस प्रकार मुनिदशा की बात है। पहले इस बात को श्रद्धा में लेना पड़ेगा कि सच्चा साधुपना कैसा होता है? साधु, अर्थात् सत्य मुनिपना कैसा होता है? अरे! अज्ञानी को तो कुछ भान ही नहीं होता और वह साधु हो जाता है। भाई! वस्तुस्वरूप के भान बिना ऐसे साधुपने में तो नुकसान ही है। जबकि यह तो तेरे अहित के अभाव की वार्ता है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा का अपना स्वभाव शुद्ध आनन्दमय, अखण्ड अद्वैत और परमज्ञानरूप है। आत्मा तो परम ज्ञानरूप है ही, उसका स्वरूप जानने के स्वभावमय ही है। उसमें सम्यक् प्रकार से स्थिर रहना, वह निश्चयमनोगुप्ति है।

अब कहते हैं कि **हे शिष्य! तू उसे वास्तव में अचलित मनोगुप्ति जान।** मूल गाथा के दूसरे पद में **जाणीहि** शब्द है न! उसमें से टीकाकार ने यह अर्थ निकाला है कि हे शिष्य... श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि **जाणीहि तं मनोगुप्ति** इस प्रकार तू जान कि इसे मनोगुप्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसे मन सम्बन्धी विकल्प नहीं हैं और जिसे अन्दर में अखण्ड अभेद चिद्रूप में लीनता है, उसे सच्ची मनोगुप्ति है – ऐसा कहा जाता है। **जाणीहि** – जान ऐसा कहा तो आचार्य किसी को कहते हैं न! इसलिए उसका अर्थ यह हुआ कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य, शिष्य से कहते हैं कि अन्दर आत्मा के आनन्द में स्थिर होने पर मन सम्बन्धी शुभविकल्प भी नहीं रहें, उसे अचलित मनोगुप्ति कहते हैं – ऐसा तू जान। देखो, यही धर्म और मोक्ष का मार्ग है। अज्ञानी को तो इस बात में रूखापन लगता है।

www.vitragvani.com



वीतरागमूर्ति भगवान आत्मा में राग नहीं है। ऐसा चैतन्यस्वरूप है उसका, विकल्प छोड़कर ध्यान करने का नाम निश्चयमनोगुप्ति कहा जाता है। ऐसी बात अज्ञानी ने कभी सुनी नहीं है और विचार में भी नहीं ली है, इसलिए उसका प्रयोग भी नहीं किया है। वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक है! त्रिलोकनाथ परमेश्वर परमात्मा द्वारा कथित यह वीतरागमार्ग कोई अलग प्रकार का है। अभी तो दूसरी बहुत गड़बड़ चलती है और लोगों ने बाहर में धर्म मान लिया है परन्तु बापू! उसमें तो काल व्यतीत होता है प्रभु! यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप आत्मा में अन्दर स्थिति करना / आसन जमा देना, वह मनोगुप्ति है और हे शिष्य! उसने मन की गुप्ति की – ऐसा तू जान।

देखो, निश्चयमनोगुप्ति की बात में भी यह आया कि तू जान! अर्थात् इसे मनोगुप्ति कहते हैं; इस प्रकार तुझे निश्चयमनोगुप्ति का ज्ञान होना चाहिए।

**प्रश्न –** अब ऐसा ज्ञान करें तो हम व्यापार कब करेंगे? मनोरंजन कब करेंगे?

**उत्तर –** भाई! तू धूल भी मनोरंजन नहीं करता, उसमें कोई सुख नहीं है; वह सब तो हैरान होने के पाप के रास्ते हैं। वस्तुत: तो पुण्य और पाप दोनों पाप हैं और उनसे चार गति के दु:ख प्राप्त होते हैं, जबकि यहाँ तो मोक्षमार्ग की व्याख्या है। इस प्रकार निश्चय, अर्थात् सत्य मनोगुप्ति की बात हुई। अब, सच्ची वचनगुप्ति की बात करते हैं।

**समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मौनव्रत, सो वचनगुप्ति है। मूर्तद्रव्य को चेतना का अभाव होने के कारण और अमूर्तद्रव्य, इन्द्रियज्ञान से अगोचर होने के कारण दोनों के प्रति वचनप्रवृत्ति नहीं होती।.....**

यहाँ समाधिशतक की शैली ली गयी है। वहाँ कहते हैं कि मैं किसके साथ बोलूँ? क्योंकि शरीरादि पुद्गल तो जड़ हैं, उनमें चेतना का अभाव है; पुद्गल में आत्मा नहीं है, इसलिए उसमें चेतना का अभाव है और अरूपी आत्मा, इन्द्रियज्ञान से अगोचर है; इसलिए मैं किसके साथ बात करूँ? – ऐसा कहते हैं। यह वचन अवरोध की रीति है। अज्ञानी कहता है कि उपदेश देने से लाभ होता है, लोग धर्म समझते हैं, इसका वक्ता को लाभ मिलता है। भाई! यह बात मिथ्या है – ऐसा बिलकुल नहीं होता। इसी प्रकार कौन पैसा दे और ले? यह पैसा तो जहाँ जाना हो, वहाँ जाता है; जड़ के रजकण जिस स्थान में लगने हों, वहाँ लगते हैं, किन्तु पैसा देनेवाला पैसा देता है, इसलिए वह लगते हैं – ऐसा नहीं है। जड़ को कौन खर्च कर सकता है – ऐसी बात है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



यहाँ कहते हैं कि इस जड़-पुद्गल में चेतन नहीं है और अरूपी आत्मा, इन्द्रियों के अगम्य है, इसलिए इन दोनों के प्रति वचन प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है। जड़ शरीर में आत्मा, अर्थात् ज्ञान नहीं है तो क्या विकल्प करना? और अरूपी आत्मा, इन्द्रियों से अगम्य है, इसलिए किसके साथ वार्ता करना? इस प्रकार वचन को रोकना, अर्थात् विकल्प नहीं करना; मूल में तो यह कहना है। वरना वचन तो वचन है, उसे क्या रोकना - ऐसी अगम-गम की बातें इसमें हैं भाई!

**प्रश्न –** हमें वाणी सुनना या नहीं सुनना?

**उत्तर –** वाणी सुनने का भाव आता है परन्तु है वह शुभराग। वाणी सुनने में शुभराग है परन्तु उस राग से कोई ज्ञान नहीं होता तथा तब वाणी सुनने से भी ज्ञान नहीं होता; ज्ञान तो अन्दर आत्मा के ज्ञानस्वरूप का स्पर्श करने से, अर्थात् अनुभव करने से होता है। भाई! ऐसी अद्भुत बात है। वीतराग का मार्ग ऐसा है।

इस प्रकार निश्चयवचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया।

## कलश ९४ पर प्रवचन

मुनिपना कैसा होता है? योगियों के तिलक (मुनि) कैसे होते हैं? **पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि-समान – ऐसा योगीतिलक ( मुनिशिरोमणि )....** होते हैं। अहा! मुनि उन्हें कहते हैं कि जो पुण्य-पाप के विकल्प को जलाने में समर्थ हैं। पाप, अर्थात् पुण्य और पाप दोनों; अत: उन्हें जलाने में अग्नि के समान - ऐसा योगीतिलक, **प्रशस्त-अप्रशस्त, मन-वाणी के समुदाय को छोड़कर....** देखो, शुभ और अशुभ ऐसे मन के व्यापार को तथा शुभ-अशुभवाणी के व्यापार को छोड़कर, अर्थात् मन सम्बन्धी और वाणी सम्बन्धी शुभविकल्प को भी छोड़कर.... ऐसा कहते हैं।

अहा! पापरूपी अटवी, अर्थात् पुण्य-पाप के सङ्कल्प-विकल्परूपी महावन; और उसे जलाने में अग्नि के समान मुनि होते हैं। अहो! स्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द में रहनेवाले ऐसे मुनिशिरोमणि, पुण्य-पाप के वन को जलाकर राख कर देते हैं। देखो, अन्दर कलश में है न! मुनि को योगीतिलक कहा है न! योगीतिलक, अर्थात् योगियों में भी शिरोमणि। वह **प्रशस्त-अप्रशस्त, मन-वाणी के समुदाय को छोड़कर आत्मनिष्ठा में परायण रहता हुआ....** भाषा देखो! व्यवहारचारित्र अधिकार में भी बात बदलकर यह निश्चयचारित्र की बात की है। अहा! मुनियों

www.vitragvani.com



की, सन्तों की कथनपद्धति ही कोई अलग प्रकार की है। वे कहते हैं कि आत्मनिष्ठा में परायण रहता हुआ, अर्थात् शुद्धचैतन्य आनन्दस्वरूप आत्मा में मुनिराज तत्पर हैं। देखो, मुनि तो आत्मा में तत्पर हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

**शुद्धनय और अशुद्धनय से रहित – ऐसे अनघ ( निर्दोष ) चैतन्यमात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके....** शुद्धनय, अर्थात् यहाँ उस सम्बन्धी विकल्प लेना। मैं शुद्ध हूँ, आनन्द हूँ – ऐसा विकल्प, वह शुद्धनय और अशुद्धनय, अर्थात् 'राग-पर्याय स्वभाव में है' – ऐसा विकल्प। इन दोनों शुद्धनय और अशुद्धनय के विकल्प से रहित – ऐसे अनघ, अर्थात् निर्दोष.... अनघ, अर्थात् पुण्य और पाप दोनों। तो विकल्प से रहित ऐसे अनघ निर्दोष चैतन्यमात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके... चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न हैं क्योंकि उसमें जितनी एकाग्रता होती है, उतनी शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। अरे! ऐसा चिन्तामणि रत्न भगवान आत्मा है तो भी उसे अज्ञानी जीव ने पामररूप से माना है। जो जीव उल्लसित होकर शुभ और अशुभभाव में रुक गया है, उसे आत्मारूपी चिन्तामणि रत्न की महिमा नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा चैतन्य-चिन्तामणि है, उसे प्राप्त करके **अनन्तचतुष्टयात्मकपने के साथ सर्वदा स्थित ऐसी जीवनमुक्ति को प्राप्त करता है।** जो जीव, आत्मा में परायण है, उसे ऐसी दशा प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि वह अनन्त चतुष्टय के साथ सर्वथा स्थित ऐसी जीवन्मुक्ति को प्राप्त करता है। जीवन्मुक्त हो गया कहने से राग-विकल्प-वाणी इत्यादि से भी मुक्त हो गया है; अत: कहा है कि जो आत्मा के स्वभाव का ध्यान करता है, उस ध्यानी को ऐसी दशा प्रगट होती है, अर्थात् उसे मुक्ति प्राप्त होती है।

इस प्रकार इस कलश में मोक्ष का मार्ग और उसका फल मोक्ष – ऐसी दोनों बातें की गयी हैं। ●●

## गाथा ७०

**कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।**
**हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा॥ ७०॥**

**कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीर के गुप्तिः।**
**हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति निर्दिष्टा॥ ७०॥**

**कायिक क्रिया निवृत्ति कायोत्सर्ग तन की गुप्ति है।**
**हिंसादि से निवृत्ति भी होती नियत तनगुप्ति है॥ ७०॥**

**गाथार्थ :** कायक्रियाओं की निवृत्तिरूप कायोत्सर्ग, शरीरसम्बन्धी गुप्ति है; अथवा हिंसादि की निवृत्ति को शरीरगुप्ति कहा है।

**टीका :** यह निश्चयशरीरगुप्ति के स्वरूप का कथन है।

सर्वजनों को कायासम्बन्धी बहु क्रियाएँ होती हैं; उनकी निवृत्ति, सो कायोत्सर्ग है; वही गुप्ति (अर्थात् कायगुप्ति) है। अथवा पाँच स्थावरों की और त्रसों की हिंसानिवृत्ति, सो कायगुप्ति है। जो परमसंयमधर परमजिनयोगीश्वर अपने (चैतन्यरूप) शरीर में अपने (चैतन्यरूप)शरीर से प्रविष्ट हो गये, उनकी अपरिस्पंदमूर्ति ही (अकम्पदशा ही) निश्चयकायगुप्ति है।

इसी प्रकार श्री तत्त्वानुशासन में (श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(अनुष्टुभ्)

**उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम्।**
**स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते॥**

(वीरछन्द)

**काय क्रिया का त्याग करे भव हेतु विकारी भाव तजे।**
**निज में रहे निराकुल स्थिर सो नर कायोत्सर्ग करे॥**

www.vitragvani.com



**श्लोकार्थ :** कायक्रियाओं को तथा भव के कारणभूत (विकारी) भाव को छोड़कर, अव्यग्ररूप से निज आत्मा में स्थित रहना, वह कायोत्सर्ग कहलाता है।

और (इस ७० वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) —

(अनुष्टुभ्)

**अपरिस्पन्दरूप परिस्पन्दात्मिका तनुः।**
**व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः॥ ९५॥**

(वीरछन्द)

**अपरिस्पन्द स्वरूप मुझे यह परिस्पन्दमय देह अहो।**
**है व्यवहार मात्र से यह तन अतः तजूँ तन विकृति को॥**

**श्लोकार्थ :** अपरिस्पन्दात्मक ऐसे मुझे, परिस्पन्दात्मक शरीर व्यवहार से है; इसलिए मैं शरीर की विकृति को छोड़ता हूँ।

### गाथा ७० पर प्रवचन

व्यवहारचारित्र के अधिकार में यहाँ निश्चयशरीरगुप्ति की व्याख्या है, अर्थात् कायोत्सर्ग किसे कहना? – यह कहते हैं।

**सर्वजनों को कायासम्बन्धी बहु क्रियाएँ होती हैं; उनकी निवृत्ति, सो कायोत्सर्ग है;...** यह जड़मय देह शरीर है, उस सम्बन्धी बहुत प्रवृत्ति होती है, उसकी निवृत्ति, वह कायोत्सर्ग है। शरीर की क्रिया की ओर राग / विकल्प का झुकाव है, उससे निवृत्ति होना, वह शरीर की क्रिया से निवृत्ति कही जाती है। इसलिए यहाँ कहा है कि शरीर, जो कि जड़ अजीव है, उसकी बहुत प्रकार की क्रियाएँ हैं; उसकी निवृत्ति, वह कायोत्सर्ग है, अर्थात् अन्दर में शुभ-अशुभराग होता है, उससे निवृत्ति करके स्वरूप में एकाग्र होना, वह निश्चयशरीरगुप्ति अथवा कायोत्सर्ग कहा जाता है।

कायोत्सर्ग = काया का उत्सर्ग। आत्मा में शरीर नहीं है और शरीर की क्रिया की ओर का झुकाववाला भाव भी आत्मा में नहीं है। इसलिए आत्मा की क्रिया के सम्बन्ध में जो विकल्प, अर्थात् शुभाशुभ राग होता है, उससे निवृत्ति करके अखण्ड आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में एकाग्र होना, सच्चा कायोत्सर्ग है – ऐसा भगवान कहते हैं।

www.vitragvani.com



तस्ससूत्री में आता है कि **तावकाय ठाणेणं मोणेणं झाणेणं** – ध्यान में काया की ओर का, वचन की ओर का और मन की ओर का भी लक्ष्य छोड़ता है। इस प्रकार तीन बातें आती हैं, अर्थात् काया-वाणी-मन इन तीनों से मैं छूटता हूँ। अरे! किन्तु अज्ञानी को सूत्र का अर्थ भी नहीं आता और अपनी चलाए रखता है। यहाँ परमेश्वर-त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव परमात्मा कहते हैं कि कायोत्सर्ग तो उसे कहते हैं कि आत्मा आनन्दज्ञानस्वरूप है, उसमें लीन होकर काया की क्रिया सम्बन्धी विकल्प की वृत्तियों का अभाव करना, अर्थात् स्वरूप में स्थिर होकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करना, वह कायोत्सर्ग है।

**प्रश्न** – कायोत्सर्ग आदि सभी अन्दर के आनन्द में ही आते हैं?

**उत्तर** – हाँ, आनन्द में ही सब आता है। धर्म कहीं दुःखरूप होता है? इसलिए आनन्द के अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है, वह सब झूठ है तथा जीव की भावना आनन्द प्राप्ति की है न! इसलिए आनन्द में सब आ जाता है। यहाँ कहते हैं कि यह शुभ-अशुभ विकल्परूप वृत्तियाँ / राग उठता है, वह दुःखरूप भाव है, अर्थात् काया की क्रिया सम्बन्धी, मन सम्बन्धी अथवा वाणी सम्बन्धी दोनों – शुभ-अशुभ प्रकार का राग / विकल्प है, वह समस्त दुःखरूप है; अतः उस दुःखरूप विकल्प-राग से निवृत्ति करके स्वरूप में प्रवृत्ति करना, वह कायोत्सर्ग है।

**वही गुप्ति ( अर्थात् कायगुप्ति ) है।......** उसे ही भगवान गुप्ति कहते हैं। अहा! स्वरूप में जमने पर शरीर सम्बन्धी विकल्प का अभाव हो, उसका नाम परमात्मा, कायोत्सर्ग, अर्थात् कायगुप्ति कहते हैं।

**अथवा पाँच स्थावरों की और त्रसों की हिंसानिवृत्ति, सो कायगुप्ति है।....** पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस – यह छह काय हैं न! पाँच स्थावर और एक त्रस – इन छह काय की हिंसा की निवृत्ति का नाम कायगुप्ति है। दूसरे प्रकार से कहें तो पर तरफ की झुकाववाले हिंसा के भाव से छूटना और अन्दर आत्मस्वभाव में एकाग्र होना, वह कायगुप्ति है।

**जो परमसंयमधर परमजिनयोगीश्वर अपने ( चैतन्यरूप ) शरीर में अपने ( चैतन्यरूप ) शरीर से प्रविष्ट हो गये, उनकी अपरिस्पंदमूर्ति ही ( अकम्पदशा ही ) निश्चयकायगुप्ति है।**

यहाँ मुनि की मुख्यता से बात ली गयी है, इसलिए कहते हैं कि 'परमसंयमधर...' जिसे आत्मा के आनन्दसहित परमसंयमदशा प्रगट हुई है – ऐसे परमसंयमधर...। देखो, मुनि उसे कहते

हैं जिसे छहकाय के जीवों की हिंसा का विकल्प तथा अव्रत का भावरूप छूट गया है और जो निज आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में स्थिर है – ऐसे 'परमसंयमधर परमजिनयोगीश्वर...' अहा! परम + जिन + योगीश्वर, अर्थात् जिन्होंने रागरूप विकल्प को जीता है, जो राग को उत्पन्न नहीं होने देते, अपितु वीतरागभावना को उत्पन्न करते हैं, उन्हें परमजिनयोगीश्वर सन्त, मुनि कहा जाता है – ऐसे परमसंयमधर परमजिनयोगीश्वर अपने चैतन्यरूप शरीर में अपने चैतन्यरूप शरीर से प्रविष्ट हो गये हैं।

देखो, यह शरीरगुप्ति की व्याख्या चलती है न! तो कहते हैं कि यह शरीर है, वह अजीव –जड़ है और उसके तरफ की प्रवृत्ति का विकल्प है, वह विकार है। उस शरीर और विकल्प से आत्मा में प्रवेश नहीं होता परन्तु उस शरीर से और विकल्प / विकार की वृत्तियों से रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप निज / अपना शरीर है, उससे आत्मा में प्रवेश होता है। अहा! यह शरीरगुप्ति की व्याख्या है न! इसलिए यहाँ 'निज शरीर' ऐसा वाक्य दिया है, अर्थात् अपने चैतन्यरूप शरीर की बात ली है कि इस जड़ शरीर सम्बन्धी प्रवृत्ति के विकल्प से–राग से छूटकर निज शरीर में, अर्थात् वीतराग स्वभावस्वरूप आत्मा में / निज चैतन्यरूप शरीर में अपने शरीर से, अर्थात् निज चैतन्यरूपदशा से परमजिनयोगीश्वर प्रविष्ट हो गये हैं।

देखो, क्या कहते हैं ? कि पुण्य–पापरूप शुभ–अशुभ विकल्प है, वह तो विकार है। वह कोई आत्मा नहीं है, आत्मा तो शुद्ध आनन्द और ज्ञान की मूर्ति है। ऐसा जो अपना स्वरूप है, वह अपना शरीर है और उसमें परमजिनयोगीश्वर चैतन्यरूप शरीर से, अर्थात् निर्मल वीतरागी परिणति से प्रविष्ट हो गये हैं। अरे! यह भाषा समझना भी कठिन है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह सब करने की अपेक्षा तो एक यात्रा कर आयें तो कल्याण हो जाएगा। परन्तु भाई! कल्याण की रीति अलग है, समझ में आया।

यहाँ सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थङ्करदेव परमजिनयोगीश्वर ऐसे सन्तों की गुप्ति का वर्णन करते हैं कि परमजिनयोगीश्वर – ऐसे सन्त इस जड़ माटीरूप शरीर की क्रियाओं से निवृत्त हुए हैं, क्योंकि वे शरीर की सन्मुखतावाले विकल्प से निवृत्त हुए हैं; इसलिए शरीर की क्रिया से निवृत्त हुए हैं – ऐसा कहा जाता है। वे शरीर की क्रिया से निवृत्त हुए तो गये कहाँ ? कि ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में निर्मल वीतरागी परिणति से प्रवेश किया है। अहा! प्रभु का मार्ग ऐसा है भाई। अरे! दुनिया कुछ का कुछ मानती है और मार्ग कहीं दूर रह गया है।

अहा! त्रिलोकनाथ परमात्मा, इन्द्रों और नरेन्द्रों के समक्ष इस प्रकार शरीरगुप्ति का वर्णन करते थे कि भाई! यह शरीर है, वह तो मिट्टी-जड़ है; इस कारण उसकी प्रवृत्तिरूप क्रिया जड़ से जड़ में होती है परन्तु उस समय जीव को विकल्प होता है कि मैं शरीर को ऐसा करूँ या वैसा करूँ... तो ऐसा पुण्य-पाप का विकल्प है, वह वास्तव में तो काया है-पर काया है, अर्थात् आस्रवतत्त्व, वह पर काया है, पर का समूह है परन्तु चैतन्यरूप स्व-शरीर नहीं है। अहा! चैतन्यरूप स्व-शरीर तो ज्ञान और आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। ऐसे चैतन्यरूप स्व-शरीर में, चैतन्यरूप स्व-शरीर द्वारा, अर्थात् 'स्व-शरीर में' - ऐसा कहने से ज्ञानमूर्ति चैतन्य आत्मद्रव्य में और 'स्व-शरीर द्वारा' - ऐसा कहने से ज्ञान में वीतरागी शुद्धपरिणति द्वारा प्रवेश करने का नाम कायोत्सर्ग कहा जाता है।

देखो, कभी ऐसा सुना भी नहीं हो और मात्र पाठ बोलकर मान लिया कि मैंने सामायिक और कायोत्सर्ग किया। **'पारसनाथ *परचो पूरे* और शान्तिनाथ साता करे'** - ऐसा हमारे पिताजी प्रात:काल बोलते थे। यहाँ कहते हैं कि पारसनाथ तो तू है; आनन्द का धाम सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा ही पारसनाथ है और उसमें निर्मल परिणति द्वारा प्रवेश करना, अर्थात् उसमें अभेद होना, वह कायोत्सर्ग है। अहा! यह क्या कहते हैं? अभी अज्ञानी को इस बात को पकड़ना भी कठिन लगता है।

देखो, इसका नाम कायोत्सर्ग और शरीरगुप्ति है कि इस जड़ शरीर के प्रति लक्ष्य छोड़कर अन्दर में चैतन्यस्वरूप आनन्द का धाम भगवान आत्मा है, उसमें निर्मल वीतरागपर्याय द्वारा प्रवेश करना। अरे! अज्ञानी ने तो किसी दिन कायोत्सर्ग नहीं किया है, किन्तु उसे कायोत्सर्ग कैसे होता है? - यह भी पता नहीं है। वह तो भगवान के सामने खड़ा होकर, पाठ बोलकर मान लेता है कि कायोत्सर्ग हो गया परन्तु भाई! यह सब तो शुभराग है, शुभविकल्प है, पुण्यभाव है; यह कोई धर्म नहीं है तथा कायोत्सर्ग भी नहीं है। अहा! कायोत्सर्ग तो उसे कहते हैं कि काय सम्बन्धी वृत्तियों को छोड़ देना, उनका उत्सर्ग करना; उत्सर्ग करना, अर्थात् छोड़ देना।

अब कहते हैं कि उन वृत्तियों को छोड़ दिया तो गया कहाँ, कि चैतन्यरूप आत्मा में। यह कायोत्सर्ग की बात है, इसलिए ऐसा अर्थ किया है कि स्व-शरीर में, स्व-शरीर से प्रविष्ट हो गये।

अहा! मन-वाणी-देह के प्रति विकल्पदशा / राग है, उससे निवृत्त होना, कायोत्सर्ग है परन्तु जब उससे निवृत्त हुए, तब हुआ क्या? वे गये कहाँ? कि आनन्दस्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रभु

www.vitragvani.com



आत्मा है, उसमें निर्मलपरिणति द्वारा अभेद हुए और आत्मा में अभेद हुए, इसका नाम कायोत्सर्ग कहा जाता है।

भाई ! यह बात अद्भुत है। अरे ! बाहर में ऐसी बात सुनने में भी नहीं आती। वहाँ तो 'यह करो – सामायिक, प्रतिक्रमण करो, इससे धर्म हो जाएगा' – ऐसी बात सुनने को मिलती है परन्तु सामायिक, प्रतिक्रमण के पाठ में क्या कहा है ? तथा वह बोलने की भाषा जड़ है और उसमें विकल्प हुआ, वह राग है – ऐसी अज्ञानी को कुछ भी खबर नहीं है। अरे ! इसने वास्तविक तत्त्व के भान बिना अनन्त काल यों ही गँवा दिया है और चौरासी के अवतार में डूब गया है।

देखो न ! कैसी सरस बात की है ! कि इस शरीर के प्रति लक्ष्य छोड़कर... अहा ! यह शरीर जड़ है और इसकी क्रिया, जड़ क्रिया होने से उसमें तुझसे कुछ नहीं होता अथवा तुझसे वह रुक जाए – ऐसा भी नहीं होता। इसलिए यहाँ शरीर के प्रति लक्ष्य छोड़ा, अर्थात् शरीर की क्रिया छोड़ी – ऐसा कहा गया है और शरीर की ओर का लक्ष्य छोड़ा, इसका अर्थ यह भी हुआ कि पुण्य और पाप के विकल्प का भी लक्ष्य छोड़ा। अब, विकल्प का लक्ष्य छोड़ा, तब गया कहाँ, प्रवेश कहाँ किया ? पूर्व में शुभ-अशुभराग में प्रवेश था, अर्थात् राग में एकाकार था, वह तो अकायोत्सर्ग था, मिथ्यात्वभाव था परन्तु अब राग में से एकाकारपना छोड़ा और सम्यक्भाव हुआ तो प्रवेश कहाँ किया ? कि भगवान आत्मा के चैतन्यशरीर में।

अहा ! आत्मवस्तु का चैतन्यरूप, वह स्व-शरीर है। ज्ञान आनन्द इत्यादि स्वभावरूप अनादि का चैतन्यमय निज शरीर है, अर्थात् स्वरूप है, उसमें निज-शरीर से / निज-स्वरूप से प्रवेश करना, वह कायोत्सर्ग है। अहा ! जैन के बाड़ा में जन्में हों, तथापि सत्य बात क्या है ? यह सुनी नहीं है। यहाँ तो सौ इन्द्रों से पूज्य और पूर्णानन्दस्वरूप को प्राप्त त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर की वाणी में जो आया, वही बात सन्त करते हैं।

देखो, अन्दर पाठ में है न कि '**स्वकीयं वपुः स्वस्य वपुषा विवेश।**' **स्वकीयं वपुः** अर्थात् अपना शरीर। आनन्द और ज्ञान का धाम – ऐसा आत्मा ही अपना शरीर है। अहा ! आत्मा को यह जड़-शरीर नहीं है क्योंकि यह तो मिट्टी से निर्मित जड़ है। इसी प्रकार पुण्य-पाप के विकल्परूप भाव उत्पन्न हों, वह भी विकार है, अचेतन है; वह कोई चैतन्य की जाति नहीं है। उस शरीर और विकार से, अर्थात् पुण्य-पाप के राग से रहित चैतन्य-ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा एक वस्तु है, पदार्थ है, तत्त्व है, सत्त्व है – ऐसा जो निज स्वकीय शरीर है, उसमें, अर्थात् ज्ञान और

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



आनन्द के सागर, ऐसे आत्मा में, जो कि स्वकीय शरीर है, उसमें **स्वस्य वपुषा** अपने शरीर से **विवेश** प्रविष्ट होना, वह कायोत्सर्ग है। अहो! मुनिराज ने बहुत सुन्दर टीका की है।

**श्रोता –** अपूर्व बात है!

**पूज्य गुरुदेवश्री –** हाँ, बात तो ऐसी ही है, अपूर्व है। यह तो वीतराग की बात है और यह बात तीन काल में अन्यत्र कहीं नहीं है। सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं हो सकता। अहा! देखो न! वस्तु को सिद्ध करने की एक रीति!

अहा! शरीर की गुप्ति अर्थात् शरीर की ओर के पुण्य-पाप के रागभाव को छोड़ना; और तब इसने काया की क्रियाएँ छोड़ी – ऐसा कहा जाता है। अब रागभाव को छोड़ा तो ग्रहण क्या किया? कि जो अन्दर ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु चैतन्य भगवान आत्मा का निज शरीर है, अर्थात् स्वरूप है, उसे ग्रहण किया, अर्थात् उस स्व-स्वरूप में, स्व-स्वरूप द्वारा प्रविष्ट किया; निर्मलदशा द्वारा अन्दर में एकाकार हुआ। अहा! इसका अर्थ यह हुआ कि पुण्य के विकल्प से भी अन्तर में एकाकार नहीं हुआ जाता, क्योंकि विकल्प से निवृत्त होने पर ही यहाँ अन्दर में प्रवेश होता है – ऐसा कहना है।

पहले इस बात की समझ तो करे कि सत्य क्या है? प्रभु का मार्ग क्या है? वीतराग क्या कहना चाहते हैं? अरे! इसकी खबर न हो और यों ही अज्ञान में जिन्दगी चली जाती है। प्रतिक्षण यह शरीर, मृत्यु के समीप जाता जा रहा है तथा यह जीव भी जो समय लेकर आया है, उससे छूटने के समीप जाता जा रहा है। यह बात सत्य है या नहीं? अहा! यह चैतन्य आत्मा जीवित-ज्योति है; ज्ञान, शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता इत्यादि से भरपूर प्रभु आत्मा जीवित-ज्योति है। ऐसा जो उसका स्व-स्वरूप है.... स्व-स्वरूप कहो या स्व-शरीर कहो, एक ही है; उस स्व-स्वरूप को, राग से पराङ्मुख होकर रागरहित निर्मलपर्याय द्वारा पकड़ना, अर्थात् निर्मलानन्द प्रभु आत्मा में निर्मलदशा द्वारा प्रवेश करना – इसका नाम शरीरगुप्ति और कायोत्सर्ग है।

**प्रश्न –** काया की क्रिया से निवृत्ति करना या नहीं करना?

**उत्तर –** काया की क्रिया से निवृत्ति का अर्थ यह है कि उस ओर का लक्ष्य छोड़ना और तब काया से निवृत्ति हुई – ऐसा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा क्या करना था? क्योंकि आत्मा में काया की निवृत्ति, अर्थात् काया का अभाव तो है ही; वह कहाँ आत्मा में आ गयी है?

www.vitragvani.com



परन्तु 'शरीर से ऐसा करना है' – ऐसे राग को और शरीर की क्रिया को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसे जिसने छोड़ दिया, उसने काया की क्रिया छोड़ी, अर्थात् वह काया की क्रिया से निवृत्त हुआ – ऐसा कहा जाता है। देखो न, पाठ में ही है कि '**कायकिरियाणियत्ती...**' अहा! कितना कहा जाए?

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा... अरे! परन्तु वह कौन है? – इसकी भी अभी खबर नहीं है, तब उसमें स्थिर कैसे होगा? अन्दर जाएगा कैसे? 'मैं आत्मा... मैं आत्मा... मैं आत्मा...' ऐसा कहा जाता है तो वह क्या वस्तु है? वह क्या चीज है? तथा उसमें क्या है? वास्तव में वह है क्या? इसके परिज्ञान बिना अन्दर में नहीं जाया जा सकता। भाई! जैसे यह जड़वस्तु है, इसी प्रकार भगवान आत्मा भी वस्तु है और जैसे जड़ में जड़ की शक्तियाँ हैं; उसी प्रकार भगवान आत्मा में भी उसकी अरूपी और चैतन्यमय – ऐसी अनन्त शक्तियाँ हैं। ऐसी अनन्त शक्तियों का एकरूप स्वरूप ऐसे भगवान आत्मा में अन्दर निर्मलदशा द्वारा जाना, उसे कायोत्सर्ग, योग तथा गुप्ति कहा जाता है – इसी का नाम धर्म है।

श्रीमद्जी ने एक स्थान पर भान बिना मात्र बोलनेवाले की आलोचना की है कि कौन-सा आत्मा छोड़ना है और कौन-सा आत्मा ग्रहण करना है? – इसकी बोलनेवाले को कुछ भी खबर नहीं है और '**अप्पाणं वोसिरामि**' ऐसा बोलकर सम्पूर्ण आत्मा को छोड़ देता है। भाई! आत्मा को छोड़ना है परन्तु किस आत्मा को? पुण्य-पाप की वृत्तियाँ हैं, वे तो अनात्मा हैं किन्तु यथार्थ आत्मा नहीं हैं; इसलिए उन्हें छोड़ना है और त्रिकाल आनन्दस्वरूप आत्मा को पकड़ना है; अतः '**अप्पाणं वोसिरामि**' का अर्थ यह है कि काया, मन और वाणी की ओर का पुण्य-पापरूप विकल्प राग है, वह अशुद्ध आत्मा है, व्यवहार आत्मा है, विकारी आत्मा है और उसे मैं छोड़ता हूँ। देखो, अभी तक किसी दिन इस अर्थ को ध्यान में रखा है? बाहर के व्यापार में कितना ध्यान रखा है? उसमें तो तल्लीन हो जाता है, मानो अन्दर डूब गया हो। अरे! शरीर स्वस्थ न हो तो भी दुकान पर व्यापार करने जाता है, शरीर में ठीक न हो तो 'शीघ्र रोग मिट जाए और ठीक हो जाऊँ तो अच्छा, जिससे काम पर जा सकूँ, दुकान पर जा सकूँ' – ऐसा अज्ञानी को लगता है, परन्तु भाई! यह सब तो घानी के बैल की तरह मजदूरी है।

अहा! देखो न! कैसी सरस बात की है। यहाँ विशेष बात तो यह की है कि धर्मात्मा मुनि अपने शरीर में, अपने शरीर से प्रवेश हो गये हैं – ऐसा कहा है। देखो, ऐसा धर्मात्मा को कायोत्सर्ग

www.vitragvani.com



का काल होता है। अहा! भगवान आत्मा इस जड़ शरीर से छूटा तो गया कहाँ? कि निज-शरीर में। निज-शरीर में क्या है? अन्दर में ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता इत्यादि का धाम प्रभु आत्मा है, वह निज शरीर है। अहा! सिद्ध भगवान को सिद्धपद की दशाएँ प्रगट हो गयी हैं, वे दशाएँ आयी कहाँ से? वे सभी दशाएँ आत्मा में भरी हैं, उसमें से आयी हैं।

सिद्ध भगवान और अरहन्त भगवान को केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य इत्यादि प्रगट हुए हैं, वे कहाँ से आये? क्या वे कहीं बाहर से आये हैं? देह में से आये हैं? वाणी में से अथवा मन में से, अथवा राग में से आये हैं? अरे! एक समय की पर्याय में से भी क्या वह दशाएँ आती हैं? नहीं; क्योंकि पर्याय एक समय की है। वह सिद्धपद की दशा तो ध्रुव-चैतन्य भगवान आत्मा में से, जो कि ऐसी-ऐसी अनन्त निर्मल पर्यायों का पिण्डवस्तु है, उसमें से आती है। अत: ऐसे पर्यायवान् आत्मा में निर्मलपर्याय द्वारा पहुँच जाना, उसे यहाँ कायोत्सर्ग कहते हैं। अहा! कितने ही लोगों ने तो ऐसे शब्द सम्पूर्ण जिन्दगी में सुने भी नहीं होंगे - ऐसी बात है।

यहाँ तो जन्म-जरा-मरण का अन्त लाने की बातें हैं बापू! तू अनादि से जन्म-मरण कर रहा है और दु:खी है। यह धूल के सेठ, देव इत्यादि सब बेचारे दु:खी हैं! क्या ऐसा होगा? पैसावाले दु:खी होंगे? अरे! यहाँ तो कहते हैं कि परसङ्मुखतावाला विकार है, वह दु:ख और आकुलता ही है; इसलिए उसे छोड़कर, अर्थात् शरीर की ओर का आश्रय और सन्मुखता छोड़कर भगवान चैतन्यद्रव्य में निर्मलदशा द्वारा प्रवेश करने को कायोत्सर्ग कहते हैं। वस्तुत: तो राग से छूटा, इसलिए उस समय निर्मलदशा ही हुई और उसे 'निर्मलदशा द्वारा अन्दर गया' - ऐसा कहा जाता है। देखो, यह कायोत्सर्ग की व्याख्या!

अरे! अज्ञानी तो दो मिनट पाठ बोलकर कायोत्सर्ग हो गया मान लेता है। बापू! एक सैकेण्ड का कायोत्सर्ग जन्म-मरण का अन्त लाता है और ऐसे कायोत्सर्ग की बात यहाँ की गयी है। यहाँ कहा है कि जिसमें जन्म-मरण और जन्म-मरण का भाव नहीं है - ऐसे आत्मा में प्रविष्ट होना, वह कायोत्सर्ग है।

मुनिराज, निज भगवान आत्मा के ज्ञान और आनन्दस्वरूप में स्थिर होते हैं और कँपते नहीं हैं, उन्हें शरीर की गुप्ति, निश्चयगुप्ति भगवान कहते हैं। अपरिस्पन्द मूर्ति, अर्थात् पुण्य-पापरूप कम्पनदशा जहाँ नहीं है - ऐसी दशा; और वही निश्चयकायगुप्ति है।

www.vitragvani.com



इसी प्रकार श्री तत्त्वानुशासन में (श्लोक द्वारा) कहा है कि —

**कायक्रियाओं को....** – यह जड़ की क्रिया है और यह निमित्त की बात की है, क्योंकि काया के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है न! इसलिए उसकी बात की है। कायक्रिया, वह निमित्त है और विकार, वह नैमित्तिक है; अतः **कायक्रियाओं को तथा भव के कारणभूत ( विकारी ) भाव को छोड़कर...** देखो, विकारीभाव को भव का कारण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप का विकल्प / राग तो भव का कारण है – ऐसा कहते हैं। अहा! भगवान परमात्मा की भक्ति का भाव, अर्थात् शुभभाव भी भव का कारण है। बापू! यह तो वीतरागमार्ग है, इसलिए इस वीतरागमार्ग में राग नहीं हो सकता। हाँ, भूमिकानुसार राग होता है, वह जानने योग्य है परन्तु वह आदरणीय नहीं।

यहाँ दो बात ली गयी है – (१) कायक्रियाओं को तथा (२) भव के कारणभूत विकारीभाव। उनमें जड़रूप कायक्रिया तो निमित्तरूप है, वह कहीं भव का कारण नहीं है; भव का कारण तो पुण्य-पाप का विकल्प शुभ-अशुभराग है, इसलिए उसे छोड़कर, अर्थात् विकारीभाव को छोड़कर... फिर भले ही भगवान की भक्ति का विकल्प हो अथवा दया-दान-व्रत का विकल्प हो – यह सब विकल्प, राग है और राग, भव का कारण है, इसलिए उसे छोड़कर... अरे! अज्ञानी चिल्लाता है कि लो, समकिती का पुण्य भी भव का कारण? सुन तो भाई! वह भव का कारण है क्योंकि वह राग है। बापू! ऐसा अद्भुत मार्ग है। जैसे, सर्प गया और लकीर रह गयी – ऐसा कहते हैं न! इसी प्रकार अभी ऐसी बात सुनना भी मुश्किल हो गयी है और बाहर के क्रियाकाण्ड रह गये हैं।

यहाँ कहते हैं कि कायक्रियाएँ हैं, उनका लक्ष्य छोड़ दे और भव के कारणरूप विकारीभाव का भी लक्ष्य छोड़ दे। इस प्रकार कायक्रिया का लक्ष्य और विकार को छोड़कर **अव्यग्ररूप से निज आत्मा में स्थित रहना, वह कायोत्सर्ग कहलाता है।** अव्यग्ररूप से, अर्थात् आनन्दरूप से। पुण्य-पाप में, अर्थात् शुभ-अशुभभाव में व्यग्रता है, अस्थिरता है, कम्पन है, दोष है; इसलिए उसे छोड़कर अव्यग्ररूप से निज आत्मा में स्थिर रहना। देखो, यह नहीं कहा कि भगवान के आत्मा में स्थिर रहना, क्योंकि भगवान तो पर हैं परन्तु निज आत्मा में स्थिर रहना। अहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धाम है, स्वभाव का सागर है – ऐसे निज आत्मा में स्थिर रहना, वह कायोत्सर्ग कहा जाता है और इसी का नाम धर्म कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, सब एक

www.vitragvani.com



ही है। भाई! शास्त्र में यह बात है या नहीं? गाथा सामने है और यह गाथा का अर्थ हो रहा है। बनिया रोकड़ मिलाता है या नहीं? दशहरा आता है, तब बहियाँ नहीं मिलता? मिलता है या नहीं? हाँ बनिया व्यापार की बहियाँ मिलाता है परन्तु यहाँ इस शास्त्र का अर्थ और अपना अभिप्राय मिलाने के लिये उसे समय नहीं मिलता।

**श्रोता –** वहाँ तो लाभ दिखता है, यहाँ आप लाभ दिखाओ।

**पूज्य गुरुदेवश्री –** वहाँ धूल भी लाभ नहीं है। 'लाभ सवाया' ऐसा दरवाजे पर लिखते हैं न! परन्तु वस्तुतः तो 'आत्मा का लक्ष्य करे तो लाभ होता है' – ऐसा उसका अर्थ है। एक बार लगभग विक्रम संवत् १९६४-६५ में पालेज में हमने एक व्यापारी के साथ दीपावली की बही-पूजन की परन्तु फिर हुआ ऐसा कि उसके कपड़े जल गये। देखो, साथ में पूजन की तो भी उसका कपड़ा जल गया। पाप का उदय आवे तो नाम भी (बहियों पर लिखे जानेवाले स्वस्तिक आदि भी) पड़े रहते हैं। भाई! पूर्व पुण्य-पाप के अनुसार बाहर की क्रियाएँ होती हैं, वहाँ तेरा रखा कुछ नहीं रहता। जबकि इस आत्मा में स्थिर रहना, वह तुझसे हो सके, ऐसा है।

अहा! निज भगवान आत्मा वस्तु है, पदार्थ है, आत्मा स्वयं ही सच्चिदानन्द प्रभु है, वह सत्, अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है; अतः पुण्य-पाप के विकल्प का परित्याग करके उसमें स्थिर रहने को भगवान कायोत्सर्ग, शरीरगुप्ति और धर्म कहते हैं।

## कलश ९५ पर प्रवचन

**अपरिस्पन्दात्मक ऐसे मुझे....** स्वयं मुनिराज अपनी बात कहते हैं कि मैं तो अन्दर में पुण्य-पाप के राग से भिन्न अपरिस्पन्दात्मक हूँ, अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प में न आऊँ – ऐसी मैं वस्तु हूँ। मैं ध्रुवस्वरूप चैतन्यबिम्ब भगवान आत्मा, अपरिस्पन्दात्मक हूँ, अर्थात् स्थिरबिम्ब हूँ। शरीर और पुण्य-पाप आदि समस्त कम्पनमय है, परिस्पन्द है; जबकि मेरा निज स्वरूप अपरिस्पन्द है, मुझमें कम्पन नहीं है, अस्थिरता नहीं है और पुण्य-पाप के विकल्प भी नहीं हैं। मैं तो स्थिर बिम्ब, शान्त, आनन्दकन्द हूँ – **ऐसे मुझे परिस्पन्दात्मक शरीर व्यवहार से है;....** मुझमें व्यवहार से यह परिस्पन्दात्मक पुण्य-पाप और शरीरादि हैं, ये निश्चय से मुझमें नहीं हैं। पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने से शरीरादि मुझमें हैं – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है परन्तु वस्तुतः तो वह मुझमें नहीं हैं। व्यवहार से कहा जाता है, अर्थात् है नहीं, उसे कहना, अर्थात् जो नहीं है, उसे

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

कहना, वह व्यवहार है। आत्मा में ये शरीर आदि हैं ? नहीं, तथापि व्यवहार से आत्मा में कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वास्तव में वे आत्मा में नहीं हैं।

अहा! मेरा चैतन्यरूप शरीर अपरिस्पन्द है, ध्रुव... ध्रुव... नित्यानन्द अविनाशी, अर्थात् आदि-अन्तरहित मेरा तत्त्व है – ऐसे मुझे यह परिस्पन्दात्मक विकार और शरीर है – ऐसा व्यवहार से कहा गया है, परमार्थ से वे मुझमें नहीं हैं। भाई! अद्भुत बात आई है।

**इसलिए मैं शरीर की विकृति को छोड़ता हूँ।** यह परिस्पन्दात्मक शरीर और रागादिक व्यवहार से मेरे हैं न! तो उस व्यवहार को मैं छोड़ता हूँ – ऐसा कहते हैं। अहा! मेरी वस्तु भगवान आत्मा, आनन्द का धाम और स्थिरबिम्ब है, उसमें स्थिर रहकर, परिस्पन्दात्मक ऐसे विकार को और शरीर को जो कि व्यवहार से मेरे कहे जाते हैं, उन्हें मैं छोड़ता हूँ। '**मैं शरीर की विकृति को तजता हूँ**' इसका अर्थ यह है कि वस्तुतः पुण्य-पापरूप समस्त भाव, शरीर की विकृति है परन्तु आत्मा का भाव नहीं है; इसलिए मैं उसे तजता हूँ।

इस प्रकार यह निश्चयगुप्ति की व्याख्या हुई। ●●

## यथानुकूल व्यवहारवाले भावलिङ्गी सन्त...

जो सम्यग्दर्शनादि सहित होते हैं, शीलवान होते हैं, देवों से भी जो वन्दित होते हैं – ऐसे भावलिङ्गी सन्त जिनेश्वरदेव के यथाजातरूप के धारक हैं।

अहो! अभी तो इस भरतक्षेत्र में भावलिङ्गी सन्त-मुनिराज के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। यथानुकूल व्यवहारवाले भावलिङ्गी सन्त को देखकर धर्मी को ऐसा भाव होता है कि अहो! धन्य आपका अवतार! धन्य हूँ मैं कि आपके दर्शन हुए। धन्य आपकी मुनिदशा!! जिस जीव को इस प्रकार विनय-नम्रता का भाव नहीं आता और गौरव करता है, अभिमान से वर्तता है तो वह जीव सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि है।

*(अष्टपाहुड़ प्रवचन, १८४)*

## गाथा ७१

**घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।**
**चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति॥ ७१॥**

**घनघातिकर्मरहिताः केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः।**
**चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति॥ ७१॥**

**चौंतीस अतिशययुक्त, अरु घनघाति कर्म विमुक्त है।**
**अर्हंत श्री कैवल्यज्ञानादिक परमगुण युक्त हैं॥ ७१॥**

**गाथार्थ :** घनघातिकर्मरहित, केवलज्ञानादि परम गुणों सहित और चौंतीस अतिशय संयुक्त – ऐसे, अरहन्त होते हैं।

**टीका :** यह, भगवान अरहन्त परमेश्वर के स्वरूप का कथन है।

[भगवन्त अरहन्त कैसे होते हैं ?] (१) जो आत्मगुणों के घातक घातिकर्म हैं और जो घन अर्थात् गाढ़ हैं – ऐसे जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म, उनसे रहित वर्णन किये गये; (२) जो पूर्व में बोये गये चार घातिकर्मों के नाश से प्राप्त होते हैं ऐसे, तीन लोक को प्रक्षोभ[१] के हेतुभूत सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलशक्ति (वीर्य, बल) और केवलसुख सहित; तथा (३) स्वेदरहित, मलरहित इत्यादि चौंतीस अतिशय गुणों के निवासस्थानरूप – ऐसे भगवन्त अरहन्त होते हैं।

अब ७१ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं —

(मालिनी)

**जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः**
**सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः।**

१. प्रक्षोभ का अर्थ ८५ वें पृष्ठ की टिप्पणी में देखें।

www.vitragvani.com



**मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः**
**सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥ ९६ ॥**

(हरिगीतिका)

**प्रख्यात तन संयुक्त, अम्बुजवत् प्रफुल्लित नेत्र हैं।**
**पुण्य का घर गोत्र है पण्डित कमल को सूर्य हैं॥**
**मुनिजन वनों को हैं वसन्तरु कर्मदल के शत्रु हैं।**
**सर्व हितकारी सुसीमा मात-सुत जयवंत हैं॥**

**श्लोकार्थ :** प्रख्यात (अर्थात् परमौदारिक) जिनका शरीर है, प्रफुल्लित कमल जैसे जिनके नेत्र हैं, पुण्य का निवासस्थान (अर्थात् तीर्थङ्करपद) जिनका गोत्र है, पण्डितरूपी कमलों को (विकसित करने के लिये) जो सूर्य हैं, मुनिजनरूपी वन को जो चैत्र हैं (अर्थात् मुनिजनरूपी वन को खिलाने में जो बसन्तऋतु समान हैं), कर्म की सेना के जो शत्रु हैं और सर्व को हितरूप जिनका चरित्र है, वे श्री सुसीमा माता के सुपुत्र (श्री पद्मप्रभ तीर्थङ्कर) जयवन्त हैं।

(मालिनी)

**स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्निराजः**
**सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः।**
**स जयति जिनराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः**
**पदनुतसुरराजस्त्यक्तसंसारभूजः॥ ९७॥**

(हरिगीतिका)

**कामगज को सिंह हैं जो पुण्य अम्बुज भानु हैं।**
**सर्वगुण साम्राज्य, चिन्तित वस्तुदायक वृक्ष हैं॥**
**जो कर्म बीज विनाशकर्त्ता जिन-चरण सुरपति नमें।**
**संसारतरु त्यागी अहो जिनराजश्री जयवंत हैं॥**

**श्लोकार्थ :** जो कामदेवरूपी हाथी को (मारने के लिये) सिंह हैं, जो पुण्यरूपी कमल को (विकसित करने के लिये) भानु हैं, जो सर्व गुणों के समाज (समुदाय) हैं, जो सर्व कल्पित (चिन्तित) देनेवाले कल्पवृक्ष हैं, जिन्होंने दुष्ट कर्म के बीज को नष्ट किया है, जिनके चरण में सुरेन्द्र नमते हैं और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है, वे जिनराज (श्री पद्मप्रभ भगवान) जयवन्त हैं।

www.vitragvani.com



(मालिनी)

**जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः**
**परिणतसुखरूपः पापकीनाशरूपः।**
**हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूपः**
**स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः॥ ९८॥**

(हरिगीतिका)

**जीता जिन्होंने काम शर, विद्या प्रकाशक सर्व हैं।**
**सुखरूप परिणत, पाप नाशन के लिए यमरूप हैं॥**
**भवताप नाशक, श्रीपदों में भूपति जिनको नमें।**
**जो क्रोधजिन विद्वान् जिनको नमें वे जयवंत हैं॥**

**श्लोकार्थ :** कामदेव के बाण को जिन्होंने जीत लिया है, सर्व विद्याओं के जो प्रदीप (प्रकाशक) हैं, जिनका स्वरूप सुखरूपप से परिणमित हुआ है, पाप को (मार-डालने के लिये) जो यमरूप हैं, भव के परिताप का जिन्होंने नाश किया है, भूपति जिनके श्रीपद में (महिमायुक्त पुनीत चरणों में) नमते हैं, क्रोध को जिन्होंने जीता है और विद्वानों का समुदाय जिनके आगे नत हो जाता-झुक जाता है, वे (श्री पद्मप्रभनाथ)जयवन्त हैं।

(मालिनी)

**जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः**
**प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकंदर्पपक्षः**
**पदयुगनतयक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः**
**कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्व्वाणदीक्षः॥ ९९॥**

(हरिगीतिका)

**सप्रसिद्ध जिनका मोक्ष अम्बुज पत्रवत् जो दीर्घ हैं।**
**पापकक्षा के विजेता काम सेना विजित हैं॥**
**यक्ष जिनके चरण में, विज्ञान तत्त्व सुदक्ष हैं।**
**बुधजन-गुरू, निर्वाण दीक्षा उचारक जयवंत हैं॥**

**श्लोकार्थ :** प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है, पद्मपत्र (कमल के पत्ते) जैसे दीर्घ जिनके नेत्र हैं,

www.vitragvani.com



पापकक्षा[१] को जिन्होंने जीत लिया है, कामदेव के पक्ष का जिन्होंने नाश किया है, यक्ष जिनके चरणयुगल में नमते हैं, तत्त्वविज्ञान में जो दक्ष (चतुर) हैं, बुधजनों को जिन्होंने शिक्षा (सीख) दी है और निर्वाणदीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है, वे (श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र) जयवन्त हैं।

(मालिनी)

**मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः**
**पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः**
**दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः**
**जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ॥ १०० ॥**

(हरिगीतिका)

**काम-नग को वज्रधर जो कान्तकाय प्रदेश हैं।**
**मुनिवर नमें जिनके चरण यमपाश नाशक शूर हैं॥**
**पापवन को अग्नि हैं, चहुँ ओर व्याप्त सुकीर्ति है।**
**जगत् के जो नाथ, सुन्दर पद्मप्रभ जयवंत हैं॥**

**श्लोकार्थ :** कामदेवरूपी पर्वत के लिये (अर्थात् उसे तोड़ देने में) जो (वज्रधर) इन्द्र समान हैं, कान्त (मनोहर) जिनका कायप्रदेश है, मुनिवर जिनके चरण में नमते हैं, यम के पाश का जिन्होंने नाश किया है, दुष्ट पापरूपी वन को (जलाने के लिये) जो अग्नि हैं, सर्व दिशाओं में जिनकी कीर्ति व्याप्त हो गई है और जगत् के जो अधीश (नाथ) है, वे सुन्दर पद्मप्रभेश जयवन्त हैं।

## गाथा ७१ पर प्रवचन

अब, अरहन्त भगवान की व्याख्या करते हैं। **णमो अरिहंताणं** के अरहन्त कैसे होते हैं? – यह बतलाते हैं। वे अरहन्त भगवान, व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि वे परद्रव्य हैं न! इस आत्मा के लिए पाँचों परमेष्ठी परद्रव्य हैं और उनके प्रति लक्ष्य जाने से राग उत्पन्न होता है; इसलिए वे व्यवहारनय का विषय है। इस कारण यहाँ व्यवहारचारित्र अधिकार में उनका अधिकार (वर्णन) रखा गया है। समझ में आया?

१. कक्षा = भूमिका; श्रेणी; स्थिति।

www.vitragvani.com



अरहन्त भगवान, परद्रव्य हैं न! इसलिए उनके आश्रय में जाने से धर्म नहीं होता है, अपितु शुभभाव / पुण्य होता है। जबकि निज भगवान आत्मा का / स्वद्रव्य का आश्रय करने से, अर्थात् उसका अवलम्बन करने से धर्म होता है।

**प्रश्न –** लोग यात्रा करने जाएँ या नहीं जाएँ?

**उत्तर –** यहाँ लोग यात्रा करने जाएँ या नहीं जाएँ – यह बात ही कहाँ है? यहाँ तो वस्तु की स्थिति क्या है – वह कहते हैं तथा अभी राग है तो यात्रा किए बिना रहेंगे नहीं परन्तु अज्ञानी तो यात्रा करने जाने से धर्म होना मान लेता है। पहाड़ की तलहटी में ऊपर गये और ऊपर से नीचे उतर आये, इसलिए धर्म कर आये – ऐसा अज्ञानी मान लेते हैं परन्तु भाई! उसमें धर्म नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि पञ्च परमेष्ठी का आश्रय लेने से भी राग ही होता है क्योंकि वे परद्रव्य हैं न! वे कहाँ स्वद्रव्य है? अहा! अज्ञानी, तीर्थक्षेत्र की यात्रा जाकर कहता है कि 'शिवपद हमको दीजे रे महाराज...' भगवान कहते हैं कि तेरा शिवपद तुझमें है; मेरे सन्मुख देखने से वह प्राप्त नहीं होगा। अहा! भारी कठिन काम है! दुनिया से तो उलटा है।

**यह भगवान अर्हंत् परमेश्वर के स्वरूप का कथन है।**

णमो अरिहंताणं में जिन्हें नमस्कार करते हैं, वे भगवान अरहन्त कैसे होते हैं? – यहाँ उनकी पहचान कराते हैं।

**[ भगवन्त अरहन्त कैसे होते हैं? ] ( १ ) जो आत्मगुणों के घातक घातिकर्म हैं और जो घन अर्थात् गाढ़ हैं – ऐसे जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म उनसे रहित वर्णन किये गये; .....**

अरहन्त भगवान ने चार घातिकर्मों का नाश किया है। भगवान महावीर आदि चौबीस तीर्थङ्कर तो अभी 'णमों सिद्धाणं' में मिल गये हैं, अर्थात् वे तो सिद्ध हो गये हैं और अशरीरी हैं; अभी वे अशरीरी हैं, अभी वे अरहन्त नहीं हैं परन्तु जब वे अरहन्त पद में विराजमान थे, तब यहाँ भरतक्षेत्र में थे और तब उन्हें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय – इन चार घातिकर्मों का नाश हुआ था। अभी अरहन्तरूप से तो भगवान सीमन्धरादि बीस विहरमान / विद्यमान तीर्थङ्कर महाविदेह में विराजमान हैं और उनके चार घातिकर्मों का नाश हुआ है।

जो निमित्तरूप से आत्मगुणों के घातक होने से घातिकर्म हैं और जो घन अर्थात् गाढ़ हैं –

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



ऐसे जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म हैं, उनसे अरहन्तों को रहित कहा गया है। तात्पर्य यह है कि अरहन्त, चार कर्मों से रहित हो गये हैं। लो, अरहन्त भगवान ऐसे होते हैं। अरे! किन्तु अभी तो अज्ञानी को यह भी पता नहीं है कि अरहन्त भगवान कैसे होते हैं और वह 'अरहन्त भगवान की जय हो' – ऐसा बोलता रहता है।

**( २ ) जो पूर्व में बोये गये चार घातिकर्मों के नाश से प्राप्त होते हैं ऐसे, तीन लोक को प्रक्षोभ के हेतुभूत सकलविमल ( सर्वथा निर्मल ) केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलशक्ति ( वीर्य, बल ) और केवलसुख सहित;.....**

तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत, अर्थात् भगवान को (तीर्थङ्कर को) जब केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं, तब वह अन्य जीवों के आनन्द का कारण होता है – ऐसा कहते हैं। भगवान अरहन्त (बाल तीर्थङ्कर) का जब जन्म होता है अथवा केवलज्ञानादि प्राप्त होते हैं, तब तीनों लोकों में, नारकी को भी अल्प साता होती है – ऐसा भगवान का अतिशय है।

कहते हैं कि तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत–निमित्तभूत ऐसा, और एक समय में तीन काल–तीन लोक को जाने – ऐसा सकल विमल केवलज्ञान, परमात्मा को होता है। अहा! एक 'क' अक्षर बोलने में तो असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं, जबकि भगवान एक समय में तीन काल–तीन लोक को जानते हैं। अतीत अनन्त काल की अनन्त पर्यायें, इसी प्रकार वर्तमान की पर्याय और भविष्य की पर्यायें – इन सभी पर्यायोंसहित समस्त द्रव्यों को एक समय में भगवान जानते हैं। जो कुछ हुआ है, होता है और होगा – वह सभी भगवान जानते हैं। भगवान के ज्ञान से कुछ भी अनजान नहीं रहता। अहा! जगत् में ऐसा ज्ञान है – इस प्रकार उसकी सत्ता को समझकर स्वीकार करना भी अलौकिक बात है।

यहाँ कहा है कि अरहन्त भगवान को एक समय में तीन काल–तीन लोक को जाने – ऐसा केवलज्ञान होता है। जब उन्हें ऐसा केवलज्ञान होता है, तब जगत् में / तीन लोक में अल्प प्रक्षोभ हो जाता है। प्रक्षोभ, अर्थात् सुख / साता हो जाती है। उस समय स्वर्ग में खलबलाहट हो जाती है कि अहो! कोई परमात्मा हुए हैं, किसी को केवलज्ञान हुआ है – ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। भगवान को सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलशक्ति, अर्थात् केवलवीर्य – अनन्त वीर्य प्रगट हुआ होता है और केवलसुख भी होता है। भगवान, अकेले/ पूर्ण आनन्दसहित होते हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



**प्रश्न –** भगवान को तो वहाँ कोई पैसा, मकान अथवा स्त्री आदि नहीं है, आहार–पानी नहीं है और ये सब लोग जो फर्नीचर सजाकर बैठते हैं, वह कुर्सी–टेबिल भी नहीं है – ऐसा सब वहाँ नहीं होने पर भी भगवान को अनन्त सुख कैसे है ?

**उत्तर –** भाई ! बाहर में कहाँ धूल में सुख था ! बाहर में जितना लक्ष्य जाए, उतनी आकुलता और राग है। भगवान ने तो अन्दर की आनन्ददशा, जो कि शक्तिरूप थी, वह प्रगट की है; इसलिए सुखी तो भगवान केवली हैं; इनके अलावा ये पैसेवाले सेठ अथवा बादशाह भी सुखी नहीं है – ऐसा कहते हैं। अहा ! सुखी तो वे हैं कि जिन्हें पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ है। अरे ! जहाँ ऐसे अस्तित्व का / सत्ता का स्वीकार करने जाते हैं, वहाँ, अर्थात् एक समय के केवलज्ञान आदि की ऐसी बड़ी महासत्ता है – ऐसा जहाँ स्वीकार करे तो वहाँ उसकी दृष्टि, द्रव्य पर ही जाती है और तभी केवलज्ञान का सच्चा स्वीकार होता है। भाई ! यह अद्भुत बात है !

यहाँ कहा है कि भगवान, केवलसुखसहित है। अहा ! ऐसा कहकर अरहन्त को आहार –पानी, अर्थात् क्षुधा–तृषा का दुःख नहीं है – ऐसा कहते हैं। यहाँ तो अरहन्त की बात है न ! जो शरीरसहित है, उनकी बात है न ! उन अरहन्तों को शरीर होने पर भी आहार–पानी का दुःख नहीं है तथा उनको आहार–पानी भी नहीं है। उन्हें आहार–पानी होता ही नहीं है। उन्हें तो अन्दर में अनन्त आनन्द होता है। ऐसे अरहन्त मुख्यरूप से चार अनन्त चतुष्टय से सहित हैं। यद्यपि उन्हें अनन्त गुणों का परिणमन है परन्तु ये चार गुण मुख्य हैं – ऐसा कहना है।

**तथा ( ३ ) स्वेदरहित, मलरहित इत्यादि चौंतीस अतिशय गुणों के निवासस्थानरूप...**

स्वेदरहित कहने से अरहन्त भगवान को पसीना नहीं होता। स्वेद, अर्थात् पसीना। मलरहित कहने से उनके मल–मूत्र नहीं होते क्योंकि उनके आहार ही नहीं है न ! – इत्यादि ऐसे चौंतीस अतिशय गुणों के निवासस्थानरूप अरहन्त हैं। यह व्यवहार की / संयोग की बात की कि पुण्यप्रकृति से भगवान को ऐसा योग होता ही है, जबकि पहले गुण की बात की थी, वह निश्चय की बात थी।

— **ऐसे भगवन्त अरहन्त होते हैं।** लो, ऐसे भगवान अरहन्त होते हैं। यदि वास्तव में अरहन्त का स्वरूप द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जाने तो उसे आत्मा के साथ मिलान करने का प्रसङ्ग आये, परन्तु अरे ! अभी अज्ञानी को उसकी गरज़ कहाँ है ? वह तो बस 'भगवान

www.vitragvani.com



है... भगवान है' – ऐसा बोलता है। अहा! यहाँ यह सब कहकर, कोई साधारण प्राणी अपने को आहार-पानी और शरीर में रोग होने पर भी अरहन्त मनावे तो वह अरहन्त नहीं है – यह बतलाया है। समझ में आया?

## श्लोक ९६ पर प्रवचन

इस शास्त्र की टीका करनेवाले श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं, उन्होंने इस श्लोक में श्री पद्मप्रभ भगवान को स्मरण किया है, क्योंकि स्वयं पद्मप्रभमलधारिदेव हैं न! इस शास्त्र की टीका करनेवाले श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, बनवासी दिगम्बर सन्त-मुनि थे, वे आचार्य नहीं थे, अपितु मुनि थे। वे अपने नाम के भगवान श्री पद्मप्रभ को स्मरण करके स्तुति करते हैं। यद्यपि अभी तो भगवान श्री पद्मप्रभ सिद्ध हो गये हैं, तथापि जब वे अरहन्त पद में थे, तब कैसे थे भगवान? – ऐसा कहकर स्तुति करते हैं। अभी तो चौबीसों तीर्थङ्कर आठ कर्मों का नाश करके सिद्ध हो गये हैं, अभी उन्हें शरीर नहीं है, किन्तु यह तो वे जब अरहन्त थे, तब की बात करते हैं।

**प्रख्यात ( अर्थात् परमौदारिक ) जिनका शरीर है.....** जो कोई भगवान अरहन्त होते हैं, केवलज्ञान प्राप्त करते हैं,तब उनका शरीर स्फटिक के समान परमौदारिक हो जाता है। शरीर के परमाणु ही ऐसे / स्फटिक के समान हो जाते हैं। उनको रोग, आहार अथवा पानी भी नहीं होता। अहा! उस शरीर की ओर नज़र करते ही भामण्डल में सात भवों का ज्ञान होता है। जिसे अभी भव हों, उसे सात भवों का ज्ञान होता है; जिसे अब भव नहीं हो, उसे भूतकाल के तीन और वर्तमानभव का ज्ञान होता है। ऐसा परमौदारिक शरीर भगवान अरहन्त को होता है। लो, यहाँ तो एक श्री पद्मप्रभ का नाम लिया है, तथापि अन्य सभी अरहन्तों को भी ऐसा ही होता है।

**प्रफुल्लित कमल जैसे जिनके नेत्र हैं....** तीर्थङ्कर, पुण्यवन्त होते हैं, इसलिए मानों कि प्रफुल्लित / खिला हुआ कमल हो – ऐसे प्रफुल्लित उनके नेत्र होते हैं। साधारण प्राणी की अपेक्षा उनके नेत्र सुन्दर होते हैं क्योंकि तीर्थङ्कर का पुण्य तो सर्वोत्कृष्ट है न! अत: कहते हैं कि भगवान की आँखें प्रफुल्लित कमल के समान होती है, अर्थात् मानो खिला हुआ कमल हो – ऐसी उनकी आँखें होती हैं। यद्यपि उन्हें कहीं आँखों से देखना नहीं है क्योंकि वे तो केवलज्ञानी है और केवलज्ञान से तीन काल-तीन लोक को देखते हैं परन्तु यहाँ तो उनका शरीर ऐसा होता है – यह बतलाते हैं।

**पुण्य का निवासस्थान ( अर्थात् तीर्थङ्करपद ) जिनका गोत्र है,...** श्री पद्मप्रभ को

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



तीर्थङ्कर पद है न! वह पुण्य का निवासस्थान है, अर्थात् उनके पास सर्वोत्कृष्ट पुण्य का फल है – ऐसा कहते हैं। प्रवचनसार गाथा ४५ में **पुण्यफला अरहंता** – ऐसा आता है न! उसका यह अर्थ है।

**पण्डितरूपी कमलों को ( विकसित करने के लिये ) जो सूर्य हैं....** कैसे हैं तीर्थङ्कर भगवान–अरहन्त परमात्मा? तो कहते हैं कि पण्डित, अर्थात् जो कोई चतुर और समझदार जीव हैं, उनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए भगवान, सूर्य हैं। इनके अतिरिक्त जो मूढ़ हैं, उन्हें भगवान क्या करे? – ऐसा कहते हैं। अहा! जिनमें समझने की योग्यता और पात्रता है – ऐसे पण्डितरूपी कमलों को विकसित करने के लिए परमात्मा, सूर्य हैं। जैसे, प्रातःकालीन सूर्य का निमित्त पाकर कमल खिलते हैं न! परन्तु कमल हो, वही खिलता है न? क्या कोई लकड़ी खिलती है? नहीं। इसी प्रकार जो पात्र जीव हो – ऐसे पण्डितरूपी कमलों को ही प्रगट होने के लिए भगवान, सूर्य के समान हैं।

**मुनिजनरूपी वन को जो चैत्र हैं ( अर्थात् मुनिजनरूपी वन को खिलाने में जो बसन्तऋतु समान हैं ),....** चैत्र महीने में बसन्तऋतु होती है और तब पाँचों ही वर्ण के फूल खिल जाते हैं। इसी प्रकार भगवान के काल में पात्र जीव खिल उठते हैं। अहा! मुनिजनरूपी वन को खिलाने में, अर्थात् लाखों सन्त–मुनि हों, उन्हें खिलाने में भगवान बसन्त ऋतु के समान हैं।

**कर्म की सेना के जो शत्रु हैं....** अर्थात् उन्होंने चार घातिकर्मों को मार दिया है और चार अघातिकर्म भी मृतक्वत् शेष रहे हैं। भगवान ने चार घातिकर्मों को जला दिया है और चार अघातिकर्म, अर्थात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र शेष रहे हैं। सिद्ध भगवान तो आठों ही कर्मों से रहित हैं, जबकि अरहन्त भगवान के चार घातिकर्म नष्ट हुए हैं और अभी चार अघातिकर्म शेष रहे हैं।

**....और सर्व को हितरूप जिनका चरित्र है,....** अहा! भगवान का चारित्र / चरित्र ही ऐसा है कि सबको हितरूप है। अन्दर में 'चरित्र' शब्द है न! '**सकलहितचरित्रः**', अर्थात् इनका समस्त वर्तन ही सर्व जीवों को हितकारी है।

**वे श्री सुसीमा माता के सुपुत्र ( श्री पद्मप्रभ तीर्थङ्कर ) जयवन्त हैं।** यद्यपि अभी तो श्री पद्मप्रभ, मोक्ष पधार चुके हैं परन्तु पूर्व में वे अरहन्त पद में थे, उस दशा का स्मरण करते हैं और

कहते हैं कि वे जयवन्त वर्तते हैं। अहा! उनका कहा हुए भाव हम में जयवन्त वर्तता है तो भगवान भी जयवन्त वर्तते हैं – ऐसा कहते हैं। इस प्रकार कहकर माङ्गलिक किया है।

## कलश ९७ पर प्रवचन

यह नियमसार का व्यवहारचारित्र अधिकार है। इसमें अरहन्त भगवान की बात चल रही है। अरहन्त भगवान पर है न! इसलिए वे व्यवहारनय का विषय होने से व्यवहारचारित्र अधिकार में उनकी बात की गयी है। अरे! पञ्च परमेष्ठी भी परद्रव्य हैं; इसलिए व्यवहारचारित्र अधिकार में उनकी बात की गयी है।

**प्रश्न –** परन्तु ये पञ्च परमेष्ठी तो शुद्ध हैं न? तब फिर परद्रव्य कैसे हैं?

**उत्तर –** पञ्च परमेष्ठी भले ही शुद्ध है परन्तु इस आत्मा से तो पर हैं न! इस कारण इन पञ्च परमेष्ठी का लक्ष्य करने से, उनका आश्रय करने से तो राग ही उत्पन्न होता है परन्तु धर्म नहीं होता। व्यवहार, पराश्रित है और निश्चय, स्वाश्रित है; इस कारण व्यवहारचारित्र अधिकार में पञ्च परमेष्ठी का अधिकार रखा है, अर्थात् उनकी बात की गयी है।

भूजः = भू + ज, अर्थात् पृथ्वी में जन्मनेवाला, जमीन में उगनेवाला वृक्ष। इस शास्त्र के टीकाकार स्वयं श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव हैं, इसलिए चौबीस तीर्थङ्करों में से जो अपने नाम के हैं – ऐसे श्री पद्मप्रभ को याद किया है और श्री पद्मप्रभ को याद करके उनकी स्तुति की है कि श्री पद्मप्रभ भगवान ऐसे हैं। इसका अर्थ यह भी है कि मैं आत्मा ऐसा हूँ।

**जो कामदेवरूपी हाथी को ( मारने के लिये ) सिंह हैं....** अन्दर कलश में **स्मर** शब्द है न! **स्मर** अर्थात् कामदेव, इच्छा; पाँच इन्द्रियों के विषयों की सन्मुखतावाली वृत्ति। **करि**, अर्थात् हाथी और **मृगराज**, अर्थात् सिंह। तो कहते हैं – कैसे हैं प्रभु? कि **स्मरकरिमृगराज**, अर्थात् कामदेवरूपी हाथी को मारने के लिए सिंह हैं। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के द्वारा जिन्होंने पाँच इन्द्रियों के विषयों की विकल्परूप वृत्तियों को मार दिया है – ऐसे वे भगवान, सिंह समान है और यह भगवान आत्मा भी वैसा ही है – यह कहना है क्योंकि स्वयं श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने अपना नाम डालकर बात की है न!

अहा! पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर की वृत्तियों का व्यय करने के लिए भगवान, सिंह के समान है। यहाँ तो उपदेश वाक्य है न! इसलिए 'व्यय करने के लिए–मारने के लिए' – ऐसा

www.vitragvani.com



कहा है; वरना वस्तुतः तो ज्ञानी विकार का व्यय नहीं करते क्योंकि जहाँ स्वरूप में स्थिर होते हैं, वहाँ विकार उत्पन्न ही नहीं होता और उसे ही विकार का व्यय / नाश किया कहा जाता है। क्या हो? दूसरी प्रकार से कैसे कहें? बात करना है भाषा से, और वस्तु है भाषातीत! समझ में आया?

यहाँ कहा है कि कामदेवरूपी हाथी को मारने के लिए भगवान, सिंह समान हैं और इसी प्रकार यह भगवान आत्मा भी अतीन्द्रिय है। यह भगवान आत्मा अतीन्द्रियस्वरूप है, अर्थात् जिसके आश्रय से इन्द्रिय सन्मुखता की वृत्तियाँ नष्ट होती हैं – ऐसा यह आत्मा है। इस प्रकार अतीन्द्रियस्वरूप श्री पद्मप्रभ भगवान हैं और ऐसा ही यह आत्मा भी है।

**जो पुण्यरूपी कमल को ( विकसित करने के लिये ) भानु हैं....** कलश में **कंज** शब्द है न! अर्थात् पानी में उत्पन्न हुआ कमल। कैसे हैं परमात्मा? कि पुण्यरूपी कमल को विकसित करने के लिए भानु है। पहले बोल में गुण की बात की थी और अब दूसरे बोल में पुण्य की बात करते हैं – बाहर की ऋद्धि बतलाते हैं। कहते हैं कि भगवान, पुण्यरूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य हैं। इसी प्रकार इस आत्मा का आश्रय लेने से इन्द्रियसन्मुखता की वृत्तियाँ नष्ट होती हैं और आत्मा के आश्रय में कमी / न्यूनता रह जाए तो ऐसे पुण्य का विकल्प उत्पन्न होता है कि तीर्थङ्करपना भी प्राप्त कराता है – ऐसा यह आत्मा है।

अब, तीसरा पद – **सकलगुण समाजः** अर्थात् **जो सर्व गुणों के समाज ( समुदाय ) हैं....** पद्मप्रभ भगवान, सकल गुणों के समाज हैं। लो, यह समाज! इसी प्रकार यह भगवान आत्मा भी अनन्त गुणों का समाज है। प्रभु आत्मा स्वयं ही अनन्त गुण के पिण्डरूप समाज है और यहाँ उसे ही आत्मा कहा गया है। अहा! परमात्मा को समस्त गुणों की पर्यायें प्रगट हैं, इसलिए अनन्त गुणरूप समाज-समुदाय प्रगट है, जबकि आत्मा में तो समाज शक्तिरूप से है।

**सर्वकल्पावनीजः** अर्थात् **जो सर्व कल्पित ( चिन्तित ) देनेवाले कल्पवृक्ष हैं....** अन्दर कलश में **अवनीजः** शब्द है न! तो **अवनी**, अर्थात् पृथ्वी और **ज**, अर्थात् उत्पन्न हुआ कल्पवृक्ष। कहते हैं कि त्रिलोकनाथ भगवान सर्व चिन्तित देनेवाले कल्पवृक्ष हैं और इसी प्रकार यह आत्मा, जो कि अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द सम्पन्न है, वह सर्व कल्पित (चिन्तित) देनेवाला कल्पवृक्ष है। तात्पर्य यह है कि आत्मा में एकाग्र होवे तो उसके सर्व मनोरथ पूर्ण हों – ऐसा यह आत्मा है।

www.vitragvani.com



**जिन्होंने दुष्ट कर्म के बीज को नष्ट किया है,**

**पदनुतसुरराजः**, अर्थात् **जिनके चरण में सुरेन्द्र नमते हैं...** जिनके **पद**, अर्थात् चरणकमल में, **नुत**, अर्थात् नमते हैं, **सुरराजः**, अर्थात् देवों के इन्द्र। सुरेन्द्र भी जिनके चरणकमल में नमते हैं – ऐसे यह श्री पद्मप्रभ भगवान हैं। यहाँ अरहन्तपद की व्याख्या है न! उसमें श्री पद्मप्रभ का स्मरण किया है और साथ ही साथ ऐसा ही स्वरूप मेरा है – ऐसा भी याद किया है।

अब, अन्तिम पद है न! **व्यक्त संसारभूजः**, अर्थात् **और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है..... भू**, अर्थात् पृथ्वी और **ज**, अर्थात् उत्पन्न हुआ, **भूज**, अर्थात् वृक्ष। भगवान ने संसाररूपी वृक्ष का नाश किया है और इसी प्रकार इस भगवान आत्मा का स्वभाव भी संसार का नाश करनेवाला है। संसार को उत्पन्न करे – ऐसा इसका स्वभाव ही नहीं है। अरे! आत्मा का स्वभाव, संसार का नाश करनेवाला है – ऐसा कहना भी व्यवहार है; परमार्थ से तो आत्मा, राग के नाश का कर्ता भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा को संसार / विकार का नाश कर्ता कहना भी परमार्थ नहीं है। आत्मा का आनन्दस्वभाव है, उसमें एकाकार होने पर संसार, अर्थात् राग की उत्पत्ति ही नहीं होती और इसे ही संसार का नाश किया – ऐसा कहा जाता है।

अहा! शब्दों का अर्थ करते समय 'यह किस नय का कथन है ?' – यदि ऐसा नहीं समझे तो सब गड़बड़ हो जाती है। सिद्धान्त में – धवल में तो यह कहा है कि किसी भी सूत्र का अर्थ नयवाक्य के बिना नहीं हो सकता, अर्थात् नय के बिना नहीं हो सकता। किसी भी शास्त्र का मूल शब्द या उसका अर्थ नयवाक्य है; इसलिए यह व्यवहारनय का वाक्य है या निश्चयनय का वाक्य है – यह जानना चाहिए; यदि यह जाने बिना अर्थ करने जाएगा तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा।

यहाँ कहते हैं कि भगवान ने संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है। देखो, समयसार गाथा ३४ में तो यह कहते हैं कि परमार्थ से आत्मा, राग की त्यागकर्ता नहीं है, नाममात्र है। भाई! परिपूर्ण, अखण्ड, अभेदस्वभाव का आश्रय लेने पर, उससे उत्पन्न हुई मोक्षदशा द्वारा भगवान के संसार का नाश हो गया है न! इसलिए उन्होंने 'राग का त्याग किया' – ऐसा यहाँ कहा गया है। अरहन्त परमात्मा को भी मोक्ष ही है। 'प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है' – ऐसा कलश ९९ में कहेंगे क्योंकि अरहन्त का भावमोक्ष हो गया है; सभी गुण, पर्याय में पूर्णरूप से परिणमित हो गये हैं।

www.vitragvani.com



अब कहते हैं कि **वे जिनराज ( श्री पद्मप्रभ भगवान ) जयवन्त हैं।** अभी श्री पद्मप्रभ भगवान तो मोक्ष पधार चुके हैं, तथापि मानों वे प्रत्यक्ष वर्तमान में तीर्थङ्कररूप से समवसरण में विराजमान हों – इस प्रकार स्मरण करके स्तुति करते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा भी वर्तमान में पूर्णरूप से विद्यमान–विराजमान हैं – ऐसा ज्ञान में लेकर आत्मा की स्तुति की है। इस प्रकार श्री पद्मप्रभ भगवान की स्तुति द्वारा उन्हें वन्दन किया और आत्मा की स्तुति भी की है।

यद्यपि अभी तो श्री पद्मप्रभ भगवान मोक्ष में हैं, सिद्ध हैं; इसलिए अभी उनके चरणों में सुरेन्द्र नमते हैं – ऐसा कहाँ है ? तथापि देखो, कलश में ऐसा आया है कि उनके चरणों में सुरेन्द्र नमते हैं। भाई ! जब श्री पद्मप्रभ भगवान, समवसरण थे, तब जिस प्रकार विद्यमान थे, उस तीर्थङ्करदशा को स्मरण करके स्तुति करते हैं और इसी प्रकार मैं पूर्ण तत्त्व भी विद्यमान हूँ, मैं पूर्णरूप विद्यमान नहीं हूँ – ऐसा नहीं है; इस प्रकार ज्ञान में लेकर अपने आत्मा का स्मरण भी किया है।

अहा ! कहते हैं कि जैसे तीर्थङ्कर अभी विद्यमान नहीं है – ऐसा नहीं है परन्तु मानो वे साक्षात् विद्यमान हैं – इस प्रकार स्मरण करके स्तुति करता हूँ। इसी प्रकार भगवान आत्मा भी वर्तमान में ऐसा का ऐसा विद्यमान है, ध्रुव अखण्डानन्द प्रभु है और मैं उसमें एकाग्र होता हूँ कि जो मेरे मोक्ष की प्रसिद्धि का कारण है। देखो, इस प्रकार श्री पद्मप्रभ भगवान की स्तुति के द्वारा आत्मा की स्तुति भी की है।

अहा ! यहाँ दूसरी पंक्ति में तो यह पाठ है न कि **स जयति** – जयवन्त वर्तते हैं, जयवन्त हैं। जिनके चरणों में इन्द्र नमस्कार करते हैं – ऐसे भगवान जयवन्त हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे भूतकाल में भगवान विद्यमान थे, इसी प्रकार मानो वर्तमान में भी वे विद्यमान हैं – इस प्रकार पञ्चम काल के मुनिराज कहते हैं कि मैं अनादि का ऐसा का ऐसा विद्यमान भगवान आत्मा हूँ और उसकी स्तुति करता हूँ, अर्थात् मैं उसमें नमता हूँ / ढलता हूँ। इस प्रकार श्री पद्मप्रभ भगवान अरहन्तपद में थे, तब ऐसे थे – यह कहते हैं और उस दशा को स्मरण करके विकल्प से / व्यवहार से स्तुति की है क्योंकि यह व्यवहारचारित्र अधिकार है न ! और साथ ही साथ आत्मा की स्तुति भी की है।

## कलश ९८ पर प्रवचन

चारों ही (९७ से १०० तक) कलशों में 'कामदेव' शब्द आता है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

**जितरतिपतिचापः – कामदेव के बाण को जिन्होंने जीत लिया है....** अर्थात् जिन्होंने अतीन्द्रिय आत्मा प्रगट किया है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों की सन्मुखतावाली वृत्ति, कामबाण है; अतः भगवान को पाँचों इन्द्रियों के विषयों की वृत्ति नष्ट हो गयी है। अहा...! आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के पूर्ण स्वाद में भगवान को कामदेव के बाण नहीं लगते हैं, अपितु उन्होंने कामदेव को मार डाला है / जीत लिया है। अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ भगवान आत्मा का अवलम्बन लेकर, परसन्मुखतारूप वृत्तियों का भगवान ने नाश कर दिया है, अर्थात् कामबाण को जीत लिया है। **रतिपति**, अर्थात् कामदेव और **चाप**, अर्थात् बाण। रतिपति के चाप, अर्थात् बाण को भगवान ने जीता है – यह पहले पद का अर्थ हुआ।

**'सर्वविद्याप्रदीपः' सर्व विद्याओं के जो प्रदीप ( प्रकाशक ) हैं....** भगवान, केवलज्ञान को प्रकाशित करते हैं, यद्यपि भगवान तो श्रुतज्ञान को प्रकाशित करते हैं परन्तु उस श्रुतज्ञान में सम्पूर्ण – सब प्रकाश (–ज्ञान) आ जाता है और इसीलिए भगवान केवलज्ञान को प्रकाशित करते हैं, यह कहा जाता है। श्रावण कृष्ण एकम् के दिन (स्वाध्याय में) आया था कि भगवान केवलज्ञान को प्रकाशित नहीं करते हैं परन्तु भावश्रुतज्ञान को प्रकाशित करते हैं। 'धवल' में आता है कि भगवान भावश्रुतज्ञान को प्रकाशित करते हैं क्योंकि जिन्हें भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है, उसे यह वाणी निमित्त होती है। इसलिए भगवान, भावश्रुतज्ञान को प्रकाशित करते हैं – ऐसा कहा जाता है। वरना केवलज्ञान को किस प्रकार प्रकाशित करें ?

यहाँ कहते हैं कि भगवान सर्व विद्याओं के प्रकाशक हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान की वाणी खिरने पर सब प्रकाश हो जाता है, भावश्रुतज्ञान में केवलज्ञान कैसा होता है ? – आदि सब आ जाता है। अहा! शास्त्र में भगवान की दिव्यध्वनि, केवलज्ञान को प्रकाशित करती है – यह नहीं कहा परन्तु भावश्रुतज्ञान को प्रकाशित करती है – ऐसा कहा है। भगवान अर्थकर्ता का अर्थ यह है कि वे भावश्रुत को कहते हैं और तत्पश्चात् गणधरदेव द्रव्यश्रुत की रचना करते हैं; इसीलिए वे सूत्रकर्ता हैं। यहाँ कहा है कि भगवान सर्व विद्याओं के प्रदीप = प्र + दीप, अर्थात् विशेष दीपक – प्रकाश करनेवाले हैं। देखो, जो सर्व विद्याओं का प्रकाशक है, उसे सच्चा प्रदीप कहते हैं, अर्थात् जगत् में ज्ञानादिरूप समस्त विद्याएँ हैं, उन्हें जो प्रकाशित करता है, उसे वास्तव में प्रदीप कहते हैं।

**'परिणतसुखरूपः' जिनका स्वरूप सुखरूप से परिणमित हुआ है....** अनादि से पुण्य–पाप के विकल्परूप परिणमन था, वह दुःखरूप था परन्तु अब सुखरूप भगवान का स्वरूप

www.vitragvani.com



परिणमित हो गया है। देखो, सुख मिला है या प्राप्त हुआ है – ऐसा भेद से नहीं कहा है परन्तु अभेद से 'सुखरूप जिनका स्वरूप परिणमित हुआ है' – ऐसा कहा है। अहा! यहाँ सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थङ्करदेव श्री पद्मप्रभ को स्मरण करते हैं, इसीलिए कहते हैं कि भगवान की पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमन हो गया है। वे आनन्द को प्राप्त करेंगे – ऐसी भविष्य अथवा भेद की बात यहाँ नहीं है परन्तु उन्हें आनन्दमय परिणति परिणमित हो गयी है। जैसा, आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव है – ऐसी ही परिणति उन्हें परिणमित हो गयी है। अहा! भगवान का स्वरूप सुखरूप परिणमित हुआ है, जबकि अज्ञानी का परिणमन, संसार के दुःखरूप परिणमित हुआ है – ऐसा कहकर, यह कहते हैं कि वह सुखरूप परिणमन शरीर, मन अथवा वाणी के कारण नहीं हुआ है।

अहा! जिस प्रकार संसार में पुण्य–पाप के विकाररूप दुःखरूप परिणमन है, वह जीव की दशा / अवस्था है, वह दूसरे के कारण नहीं है। इसी प्रकार यह सुखरूप परिणमन भी जीव की अवस्था है, वह परिणमन सबको, अर्थात् लोकालोक को जानता है; इसलिए जीव को सुखरूप है – ऐसा नहीं है। यदि अल्प ज्ञेय को जानने से थोड़ा सुख हो तो तीन काल और तीन लोक को जो जानेंगा, उसे कितना सुख होगा?

**श्रोता :** ढेर सारा सुख होगा।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मिथ्या बात है, क्योंकि पर को जानना, वह सुख ही नहीं है। अन्दर सुखरूप–आनन्दरूप परिणति प्रगट होती है, वह सुख है। अहा! सम्यग्दर्शन में – धर्म की पहली दशा में भी आंशिक सुखरूप – आनन्दरूप परिणति प्रगट होती है। जबकि इन अरहन्त को पूर्ण आनन्द की परिणति प्रगट हुई है – ऐसा कहते हैं। यह कहकर अपनी भी बात करते हैं कि मुनियों को उनकी भूमिका के योग्य अतीन्द्रिय आनन्द की परिणतिरूप स्वरूप परिणमित हुआ है, अतीन्द्रिय आनन्द–सुखरूप परिणति है। यहाँ कहा है कि अरहन्त को पूर्ण सुख है। यहाँ यह कहकर आगे ऐसा कहेंगे कि वे अरहन्त भगवान जयवन्त हैं।

पापकीनाशरूपः **पाप को ( मार–डालने के लिये ) जो यमरूप हैं....** कीनाश, अर्थात् यम। भगवान तो पाप के **कीनाश** हैं, अर्थात् पाप का नाश करने के लिए यमरूप हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा भी पाप शब्द से पुण्य और पाप के विकल्पों का नाश करने के लिए यम के समान

www.vitragvani.com



हैं। अहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय लिया, वहाँ यह भगवान आत्मा तो विकार का नाश करने के लिए यम के समान हैं। ज्ञानी को स्वभाव के आश्रय से विकार में से सुखबुद्धि उड़ गयी है और इसलिए विकार का नाश करने के लिए आत्मा का स्वभाव यमरूप है – ऐसा कहा जाता है।

**हतभवपरितापः – भव के परिताप का जिन्होंने नाश किया है...** देखो! भव का परिताप कहकर विशेषता की है कि चारों ही गति का परिताप है, अर्थात् चारों ही गतियों में आकुलता है। अरे! स्वर्ग में भी परिताप ही है, वहाँ सुख है ही नहीं।

**प्रश्न :** यह सब पैसेवाले सुखी कहलाते हैं या नहीं?

**उत्तर :** 'सेठ साहब... सेठ साहब' – ऐसा लोग कहते हैं तो उसमें जीव को कुछ सुख होता होगा या नहीं। भाई! उसमें तो आकुलता होती है – ऐसा यहाँ कहते हैं। अहा! चारों ही गतियों में आकुलता है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

**श्रोता :** नौकर 'सेठ साहब' न कहे तो आकुलता होती है, वरना आकुलता क्यों होगी? – मजा आयेगा।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** भाई! तूने माना है कि उसमें मजा है। वहाँ तुझे सुख की कल्पना हो गयी है परन्तु सुख नहीं है। देखो न! क्या कहा है कि भव में आकुलता है तथा भव को मात्र 'ताप' ऐसा नहीं कहा परन्तु 'परिताप' कहा है। अहा! चारों ही गति के भव में कषायरूपी अग्नि सुलगती है। जो यह रुपयेवाले, अर्थात् 'रुपये की ममतावाले' दिखते हैं, स्त्री-पुत्र-परिवारवाले, अर्थात् 'उनकी ममतावाले' दिखते हैं, वे सब भव के परितापवाले हैं, किन्तु सुखी नहीं हैं और ऐसा जो भव का परिताप है, उसे भगवान ने नष्ट कर दिया है। अहा! भाषा तो यही आयेगी न कि नाश कर दिया... इसके अतिरिक्त उपदेश में क्या आ सकता है?

परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि अरे! अनादि के कर्मरूपी बन्धु को तुमने मार दिया, तुम बन्धु को मारनेवाले हो। देखो, आत्मा के / ज्ञानी के लिए ऐसा कहा है। तेरा कर्मरूपी बान्धव जो कि तेरे साथ रहनेवाला था, उसे तूने मार दिया; वह बेचारा तेरे साथ रहता था, जहाँ तू जाता, वहाँ साथ ही साथ रहता था। अरे! मार्ग में भी / विग्रहगति में भी साथ था; इस प्रकार एक समय भी दूर नहीं रहे – ऐसा मित्र था। फिर भी उसे मार दिया! अर्थात् भगवान आत्मा अपने स्वरूप में

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



आरूढ़ हुआ, वहाँ कर्म का अभाव हो गया। देखो! स्वरूप में आरूढ़ हुआ – यह एक ही कर्म के अभाव का उपाय है, कर्म के नाश की क्रिया है।

यहाँ कहते हैं कि भव के परिताप का, अर्थात् आकुलता... आकुलता... आकुलता का भगवान ने नाश किया है। अहा! भगवान को वीतरागपर्यायरूप परिणमन कोई राग, निमित्त अथवा अनुकूल शरीर था, इसलिए हुआ है – ऐसा नहीं है, परन्तु अनादि का आत्मा में वीतरागस्वभाव है, वह वीतरागपर्याय के परिणमन में अनुकूल है और इसलिए वीतरागपर्याय परिणमित हुई है।

**श्रीपदानम्रभूपः – भूपति जिनके श्रीपद में ( महिमायुक्त पुनीत चरणों में ) नमते हैं....** श्रीपद की व्याख्या की है कि महिमायुक्त पुनीत चरण। यहाँ चरण नहीं कहा परन्तु महिमायुक्त पुनीत चरण – ऐसा कहा है। तो कहा कि भूपति आकर भगवान के श्रीपद में नमस्कार करते हैं।

**जितकोपः – क्रोध को जिन्होंने जीता है....** भगवान ने क्रोध को जीता है, अर्थात् उन्हें द्वेष का अंश भी नहीं है। अल्प प्रतिकूलता हो तो अज्ञानी को अरुचि होती है परन्तु यह बात अब भगवान को नहीं रही है।

**प्रह्वविद्वत्कलापः – और विद्वानों का समुदाय जिनके आगे नत हो जाता–झुक जाता है...** अहा! बड़े विद्वान् और पण्डितों के झुण्ड अरहन्त पद–सर्वज्ञ पद के आगे नत हो जाते हैं। इस प्रकार विद्वान्, अर्थात् मतिज्ञानादि समस्त ज्ञान की दशा कितनी भी शुद्धरूप प्रगटी हो तो भी स्वभाव में नत् हो जाती है। इस प्रकार जैसा इन अरहन्त का पद है, वैसा यह आत्मपद है – ऐसा कहते हैं।

**स जयति – वे ( श्री पद्मप्रभनाथ ) जयवन्त हैं।** देखो, भगवान जयवन्त हैं – ऐसा कहते हैं, अर्थात् मानों ऐसे भगवान समवसरण में साक्षात् विराजमान हों – ऐसा कहते हैं, क्योंकि जिनके श्रीपद में भूपति झुकते हैं, यह कहा तो इसका अर्थ क्या हुआ? अब सिद्धदशा में भगवान के पैर कहाँ हैं? सिद्धदशा में शरीर नहीं है परन्तु जब भगवान यहाँ थे, तब की दशा मानों प्रत्यक्ष नजर में झूलती हो – ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा, जो कि वर्तमान में पूर्ण आनन्दमय विद्यमान तत्त्व है, वह भी दृष्टि में झूलता है; इसलिए जयवन्त वर्तता है। बाहर में भगवान जयवन्त वर्तते हैं और अन्दर में वस्तु भगवान आत्मा जयवन्त वर्तती है। दृष्टि और ज्ञान में जिस पूर्ण वस्तु को पकड़ा है, वह वस्तु जयवन्त वर्तती है।

www.vitragvani.com



## कलश ९९ पर प्रवचन

देखो, पहले कलश ९६ वें में जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः – इस प्रकार सबमें **त्रः** था। तत्पश्चात् दूसरे (कलश ९७ वें) में स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्निराजः – इस प्रकार सबमें **जः** था। फिर तीसरे (कलश ९८ वें) में जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः – इस प्रकार सबमें **पः** था और अब चौथे (कलश ९९ वें) में जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः – इस प्रकार सबमें **क्षः** है।

**प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है....** सिद्ध प्रसिद्ध है – ऐसा नहीं आता? 'प्रसिद्ध विशुद्ध सुसिद्ध समूह' ऐसा पूजा की जयमाला में आता है न! अर्थात् सिद्धों का समूह तो प्रसिद्ध है, अनन्त सिद्ध प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार अरहन्तों का मोक्ष भी प्रसिद्ध है और इसी प्रकार आत्मा का मोक्ष भी प्रसिद्ध है। आत्मा को संसार नहीं रहे और उसका मोक्ष हो, यह तो प्रसिद्ध है और उसे ही आत्मा कहते हैं – ऐसा कहते हैं। अहा! संसारवाला आत्मा मानना, वह तो मिथ्यात्व है क्योंकि संसार, अर्थात् विकल्प और आस्रव; इसलिए संसारवाला आत्मा मानने से आस्रवसहित आत्मा माना और वह तो तत्त्व की दृष्टि से विपरीत है।

यहाँ कहते हैं कि प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है, अर्थात् आत्मा में प्रसिद्धरूप से मोक्ष-मुक्तस्वरूप पड़ा ही है और इसलिए पर्याय में मोक्ष प्रसिद्ध होता है। वह कोई विशेषता अथवा नवीनता नहीं है क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। देखो, कारण और कार्य दोनों एकरूप ही हैं, शुद्ध ही हैं। यही नियमसार में (कलश ७२ में) श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा है न! कि कारण और कार्य दोनों शुद्ध ही हैं। 'शुद्ध है' का अर्थ क्या है? – यही कि त्रिकाली स्वरूप (कारण तो शुद्ध है ही) परन्तु वह त्रिकाली स्वरूप है, उसका आश्रय जिसने लिया, उसे पूर्ण शुद्धता / कार्य प्रगट होगा ही; अशुद्धता नहीं रहेगी, इसलिए कार्य भी शुद्ध ही है – ऐसा सूक्ष्म है। अहा! यह बाहर में यात्रा आदि कर आये हैं, इसलिए धर्म हो गया है – ऐसा नहीं है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा प्रति समय यात्रा करनेवाला, अर्थात् शुद्धरूप परिणमित होनेवाला है।

अहा! प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है – इसका आशय यह है कि शुद्धस्वरूप परमानन्दमय आत्मा की विद्यमानता जहाँ दृष्टि में आयी, वहाँ स्वयं प्रसिद्ध मोक्षस्वरूप है – ऐसा प्रतीति में आया, वहाँ पर्याय में प्रसिद्ध मोक्ष होगा... होगा... होगा ही – ऐसे आत्मा को संसार की गन्ध भी नहीं रहेगी

www.vitragvani.com



– ऐसा कहते हैं। अहा! जिसने आत्मा पकड़ा है, अर्थात् जाना अथवा 'आत्मा है' – ऐसा माना है, उसे प्रसिद्ध मोक्ष हुए बिना नहीं रहेगा। 'आत्मा है' – ऐसा माना कब कहलाये? – तब जबकि आत्मा परिपूर्ण भगवान है – ऐसा सम्यग्दर्शन द्वारा माने, तब 'आत्मा है' – ऐसा माना कहलाता है और उसका प्रसिद्ध मोक्ष होनेवाला ही है। उसे कोई भगवान से पूछना नहीं पड़ता कि मेरा मोक्ष कब होगा? उसका मोक्ष तो निश्चित ही है। यहाँ कहा है कि अरहन्तों को भावमोक्ष प्रसिद्ध (प्रगट) हो गया है।

**....पद्मपत्र ( कमल के पत्ते ) जैसे दीर्घ जिनके नेत्र हैं....** मानों कमल के पत्ते विकसित हुए हों – ऐसे पुण्यवन्त प्राणी की आँख की आकृति लम्बी और पतली होती है। इसलिए मानों खिला हुआ कमल हो – ऐसी भगवान की आँख होती है। तीर्थङ्कर, पूर्ण पुण्य के धनी हैं न! अत: कहा कि कमल के पत्ते जैसे दीर्घ जिनके नेत्र हैं। अहा! जहाँ अन्दर में केवलज्ञानरूपी दीर्घ नेत्र खिल गये हैं, वहाँ बाहर में आँखें भी कमल के पत्ते जैसी होती हैं। अरे! चक्रवर्ती, बलदेव आदि महापुण्यवन्तों की आँखें भी दीर्घ होती हैं तो तीर्थङ्कर का तो क्या कहना! इस प्रकार पहले बोल में अन्दर के गुण की बात करके, अब दूसरे बोल में शरीर की बात की है।

प्रजितदुरितकक्षः **.....पापकक्षा को जिन्होंने जीत लिया है....** पाप शब्द से पुण्य और पाप दोनों समझना चाहिए और भगवान ने उन्हें जीत लिया है – ऐसा यहाँ कहते हैं। पुण्य-पाप, यह संसार का पड़खा है। इस पड़खे में अनादि से चढ़ गया था परन्तु अब इससे हट गया है। अनादि से शुभ और अशुभभाव के पक्ष में चढ़ गया था, वह मिथ्यात्व और संसार था परन्तु अब इस पाप कला को भगवान ने जीत लिया है – ऐसा कहते हैं। कला, अर्थात् भूमिका, श्रेणी, स्थिति, एक ओर का पहलू। अहा! संसार का पहलू जिसने जीत लिया है और जो स्वभाव के पहलू में चढ़ गये हैं, वे अरहन्त हैं और जैसे अरहन्त हैं, वैसा ही तू है, यह भी कहना है।

तत्त्वानुशासन, श्लोक १८८ में अरहन्त के ध्यान की बात आती है। वहाँ शिष्य कहता है कि आप अरहन्त का ध्यान करते हो, वह व्यर्थ है क्योंकि तुम अरहन्त कहाँ हो? अभी तुम अरहन्त तो नहीं हो, फिर भी अरहन्त का ध्यान करते हो तो तुम्हारा ध्यान मिथ्या है। इसके प्रत्युत्तर में श्रीगुरु कहते हैं कि सुन! तुझे पता नहीं है, हम अभी अरहन्त, अर्थात् अरहन्तस्वरूप ही हैं क्योंकि 'आत्मा अरहन्तस्वरूप है' इस प्रकार उसका ध्यान करने से शान्ति प्राप्त होती है तो उसका अर्थ ही यह

www.vitragvani.com



है कि हम अन्दर में अरहन्त हैं, अन्दर में साक्षात् अरहन्त पद के बिना यह शान्ति आयी कहाँ से ? क्या अन्दर में न हो और अरहन्त का ध्यान करें तो शान्ति आयेगी ? नहीं। इसलिए अरहन्त — अरे ! पाँचों ही पद – हम हैं। लो, ऐसी अद्‌भुत बात है !

**प्रश्न** – क्या यह छोटे मुँह बड़ी बात है ?

**उत्तर** – भाई ! तुझे पता नहीं है। यहाँ छोटा-बड़ा है ही नहीं, (आत्मा तुच्छ है ही नहीं, वह तो महान है) देखो न ! यहाँ क्या कहते हैं ? कि जो संसार के पक्ष से हट गया हो, उसे ही आत्मा कहते हैं। जैसे, भगवान, संसार के पक्ष से हट गये हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी संसार के पक्ष से हट गया है और इसे ही आत्मा कहते हैं। इसके अतिरिक्त जो संसार के पक्ष में खड़ा है, वह तो अनात्मा है।

अहा ! धर्मी को सम्यग्दर्शन होने पर संसार का पक्ष छूट गया है और इसलिए वह संसार से मुक्त है। धर्म की पहली सीढ़ीवाला सम्यग्दृष्टि, व्यवहार से मुक्त है – ऐसा शास्त्र में आता है न ! अतः व्यवहार से मुक्त कहो या संसार से मुक्त कहो, यह सब एक ही बात है। सम्यग्दृष्टि, व्यवहार से, अर्थात् विकल्प से (संसार से मुक्त ही है) क्योंकि उसे संसार का पक्ष छूट गया है। अहा ! जहाँ पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप मुक्तस्वभाव के पक्ष में गया, वहाँ संसार का पक्ष छूट गया और तब उसने आत्मा का अनुभव किया, आत्मा को माना – ऐसा कहा जाता है। देखो, ऐसा अर्थ है ! अन्दर **प्रजितदूरितकक्षः** ऐसा है न। तो 'दूरित' का अर्थ पाप है।

**'प्रास्तकंदर्पपक्षः' – कामदेव के पक्ष का जिन्होंने नाश किया है....** पहले पापकला की बात थी और अब कामदेव के पक्ष की बात है, दोनों एक ही बात हैं।

**'पदयुगनतयक्षः'** – इसमें पद-युग-नत-यक्ष – यह चार शब्द हैं। **यक्ष जिनके चरणयुगल में नमते हैं....** समवसरण में यक्ष चौसठ चँवर ढोलते हैं।

**प्रश्न** – जैसे, लोग पंखा झलते हैं, इसी प्रकार भगवान को गर्मी न हो और अच्छी हवा आवे इसलिए चँवर ढोलते होंगे ?

**उत्तर** – भगवान को गर्मी ही कहाँ होती है। भगवान तो अनन्त आनन्द में विराजमान हैं, देव चँवर ढोलते हैं, वह तो भक्ति का भाव दिखाते हैं। देखो न ! यहाँ गर्मी हो तो पंखा झलते हैं न ! कितने ही तो अभी बहुत गर्मी लगे, तब हाथ में पुस्तक हो उससे भी हवा खाते हैं, क्या यह ठीक कहलाता है ? नहीं, यह ठीक नहीं है।

www.vitragvani.com



**प्रश्न –** परन्तु बहुत गर्मी लगती हो तो क्या करना?

**उत्तर –** सहन करना। बात तो ऐसी है भाई! कितने ही बच्चों के हाथ में भी छोटा शास्त्र होता है, वे कागज का पंखा बनाते हैं और हवा खाते हैं। भाई! ऐसा कार्य नहीं करना, इससे तो शास्त्र की अशातना होती है।

यहाँ कहते हैं कि यक्ष, भगवान के चरणकमल में नमते हैं, अर्थात् चँवर ढोलते हैं। यह तो भगवान के पुण्य के कारण देव-इन्द्र आकर चँवर ढोलते हैं, वरना इनके चँवर ढोलने से भगवान को क्या लाभ? वे भगवान को चँवर ढोलते हैं, उससे भगवान को हवा लगती है और गर्मी मिट जाती है – ऐसा कुछ नहीं है क्योंकि भगवान तो पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द में विराजमान हैं, फिर भी भक्त, भक्ति के भाव से चँवर ढोलते हैं।

**'तत्त्वविज्ञानदक्षः' – तत्त्वविज्ञान में जो दक्ष ( चतुर ) हैं....** अरहन्त सर्वज्ञ परमात्मा, जगत् की सम्पूर्ण विद्याओं और ज्ञान में प्रवीण हैं। जगत् में कोई मन्त्र जानता है, कोई तन्त्र जानता है और कोई विद्या जानता है – ऐसा होता है न! जबकि भगवान तो सबमें प्रवीण हैं, फिर भी कुछ नहीं करते हैं। देखो न! इसीलिए तो भगवान, तत्त्वविज्ञान में चतुर हैं, इतनी ही बात ली है परन्तु किसी का कुछ करते हैं, यह बात नहीं ली है।

**'कृतबुधजनशिक्षः' – बुधजनों को जिन्होंने शिक्षा ( सीख ) दी है.....** देखो! अज्ञानी को-अबुध को उन्होंने शिक्षा नहीं दी है परन्तु पात्र-भले जीवों को भगवान ने शिक्षा दी है – ऐसा कहते हैं। आशय यह है कि जिसे शिक्षा लागू पड़ती है, अर्थात् जो भगवान की शिक्षा अनुसार परिणमित होता है, उस ज्ञानी को शिक्षा दी है – यह कहते हैं। इसलिए कहा कि बुधजनों को भगवान ने सीख दी है।

**प्रश्न –** परन्तु वे बुधजन, अर्थात् ज्ञानी तो समझे हुए हैं?

**उत्तर –** भाई! जो समझे हुए हैं, उन्हें समझाया है – ऐसा कहते हैं परन्तु जो समझे नहीं हैं, उन्हें नहीं समझाते क्योंकि वे समझ नहीं करते।

अब अन्तिम पद है – **'प्रोक्तनिर्वाणदीक्षः' – और निर्वाणदीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है.....** भगवान ने निर्वाण की प्राप्ति हो – ऐसी दीक्षा कही है, अर्थात् जिस दीक्षा से मोक्ष हो – ऐसी दीक्षा भगवान ने कही है परन्तु स्वर्ग मिले या अनुकूलता प्राप्त हो – ऐसी दीक्षा नहीं कही है।

www.vitragvani.com



अज्ञानी कहता है कि यदि दो घड़ी साधुपना आवे, अर्थात् दीक्षा ले तो उसके फल में स्वर्ग तो प्राप्त होगा ही – ऐसा संवत् दो हजार में राजकोट में सुना था परन्तु ऐसा रञ्चमात्र भी नहीं होता है। यहाँ तो भगवान ने निर्वाणदीक्षा का उच्चारण किया है, यह कहते हैं क्योंकि स्वर्ग प्राप्त हो, वह दीक्षा का स्वरूप ही नहीं है। अरे रे! ऐसी स्वर्गादि प्राप्ति की लालच देकर कुगुरु दूसरे को मूढ़ते हैं, दीक्षा लेने से स्वर्ग मिलेगा और फिर वहाँ मजा आएगा, वहाँ खाने-पीने की सिरपच्ची नहीं होगी और हजारों वर्षों में खाने-पीने की इच्छा होगी – ऐसा कहकर कुगुरु लालच देते हैं परन्तु भाई! शुभभाव से कदाचित् स्वर्ग मिले तो भी उससे क्या होगा? यहाँ तो पहले ही कहा है कि समस्त भव, परितापवाले हैं, अर्थात् क्लेश और आकुलतावाले हैं, तो क्या दीक्षा लेकर तुझे भव में, अर्थात् आकुलता में जाना है? क्या भव प्राप्त होना दीक्षा का फल होता है? नहीं; अहा! दीक्षा तो उसे कहते हैं कि जिससे निर्वाण प्राप्त होता है। इसलिए यहाँ कहा है कि भगवान ने निर्वाणदीक्षा का उच्चारण किया है।

अज्ञानी कहता है कि कोई पाप में जाए, उसकी अपेक्षा दीक्षा ले तो कुछ पुण्य तो करेगा और इससे गति तो सुधरेगी। यहाँ कहते हैं कि यदि तू ऐसा मानता और जानता है तो तेरे श्रद्धा-ज्ञान आदि समस्त मिथ्या हैं क्योंकि जिस दीक्षा के फल में तू स्वर्ग चाहता है, उस स्वर्ग के कारण में तो पुण्य है तथा तुझे स्वर्ग की इच्छा है तो उसका अर्थ यह हुआ कि तुझे पुण्य की इच्छा है और पुण्य की इच्छावाला तो मिथ्यादृष्टि है। जबकि धर्मी को तो आत्मा के पूर्ण स्वभाव की भावना होती है और उसे सच्ची दीक्षा होती है। अहा! जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित स्वरूप की रमणतारूप दीक्षा ग्रहण की है, उसे वह दीक्षा, निर्वाण का कारण है तथा उस दीक्षा को सच्ची दीक्षा कहते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

अज्ञानी कहता है कि अरे! कोई दीक्षा लेगा, इसलिए अब वह पाप से – चूल्हे की अग्नि जलानेरूप छह काय की हिंसा के आरम्भ से – तो छूटेगा? बेचारे का कुछ तो भला होगा? ऐसी बातें अज्ञानी करता है, परन्तु भाई! उससे क्या अच्छा होगा? शुभभाव से तो अनादि का जो संसार है, वही रहेगा। यहाँ कहते हैं कि जिससे निर्वाण / केवलज्ञान / मुक्ति होती है – ऐसी जो दीक्षा, अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वभाव में आचरणभूत जो सच्ची दीक्षा है, उससे हित होता है। यह शुद्धस्वरूप में आचरण ही सच्ची दीक्षा है, किन्तु पञ्च महाव्रत के विकल्प हैं, वह कहीं सच्ची दीक्षा नहीं हैं। अद्भुत बात है। अहा! दिगम्बर सन्तों की कथनी भी कड़क है।

www.vitragvani.com



अहा! कहते हैं कि भगवान ने निर्वाणदीक्षा का उच्चारण किया है। देखो, यह पञ्चम काल के मुनि ऐसा कहते हैं।

**प्रश्न –** ये सब बातें तो चौथे काल की हैं?

**उत्तर** – भाई! काल चौथा हो या पाँचवाँ, क्या वस्तुस्वरूप बदलता होगा?

देखो न! मुनि स्वयं क्या कहते हैं? कि मेरी दीक्षा तो निर्वाण का कारण है – ऐसी दीक्षा हमें प्राप्त हुई है तथा भगवान ने भी ऐसी ही दीक्षा का उच्चारण किया है, समझाया है। आशय यह है कि जो दीक्षा धारण करने से मोक्ष होता है – ऐसी दीक्षा ही भगवान ने समझायी है परन्तु कोई यहाँ हमारे पास आओ और साधु हो जाओ तो स्वर्गादि प्राप्त होगा – ऐसा कहकर भगवान ने लोभ नहीं दिया है – ऐसा कहते हैं।

देखो! भगवान ने दीक्षा की शिक्षा दी है – ऐसा यहाँ कहा है, तो वह दीक्षा की शिक्षा ऐसी है कि जिससे मुक्ति होती है। दूसरे प्रकार से कहें तो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र में दीक्षा की निर्विकारी / निर्विकल्पपरिणति प्रगट हो, वह मोक्ष का कारण है – ऐसा भगवान ने समझाया है परन्तु तेरी दीक्षा से तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा और फिर सेठपना मिलेगा – यह नहीं समझाया है, क्योंकि यह स्वर्गादि प्राप्त होना दीक्षा का फल ही नहीं है। अहा! निर्वाण दीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है – ऐसा कहकर भगवान ने निर्वाण का कारण ऐसी दीक्षा को समझाया है, यह कहते हैं।

**वे ( श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र ) जयवन्त हैं।** देखो, कहते हैं कि हमारे लिए तो वे पद्मप्रभ जयवन्त हैं। जयवन्त वर्तते हैं, अर्थात् क्या? कि हमारा परिणाम, हमारा वीतरागभाव जो कि मोक्ष का कारण है, वह जयवन्त है। मोक्ष का कारण ऐसी दीक्षा हमें जयवन्त वर्तती है और उसके फल में हमें मुक्ति प्राप्त होगी ही – ऐसा स्वयं श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि कहते हैं।

भाई! ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ने इस नियमसार का अर्थ किया है। उन्होंने इस श्लोक के अर्थ में यह लिखा है कि जिन्होंने निर्वाण का कारण मुनिदीक्षा का स्वरूप कहा है। अहा! निर्वाण का – मोक्ष का कारण मुनिदीक्षा है, वीतरागी परिणति है और ऐसी दीक्षा भगवान ने जीवों को प्रदान की है। देखो, ऐसी दीक्षा का नाम दीक्षा है और उस दीक्षा का फल मोक्ष है। अरे! अज्ञानी तो सब गप्प मारता है, उसे तो बाह्य क्रिया का भी ठिकाना न हो और हम पञ्च

www.vitragvani.com



महाव्रत पालन करते हैं, इससे हमारी मुक्ति होगी – ऐसा वह मानता है। भाई! इस प्रकार धूल भी तेरी मुक्ति नहीं होगी।

## कलश १०० पर प्रवचन

यह नियमसार का व्यवहारचारित्र अधिकार है। इसमें ७१ वीं गाथा का सौवाँ कलश है। अरहन्त परमात्मा कैसे हैं? उनका स्वरूप यहाँ कहते हैं। स्वयं का (टीकाकार मुनिराज का) नाम 'पद्मप्रभ' है न! इसलिए इस नाम के श्री पद्मप्रभ भगवान की स्तुति करते हैं, उन्हें स्मरण करते हैं और इस प्रकार अरहन्त का स्तवन और स्तुति करते हैं।

**कामदेवरूपी पर्वत के लिये ( अर्थात् उसे तोड़ देने में ) जो ( वज्रधर ) इन्द्र समान हैं.....** इन्द्र के हाथ में वज्र होता है, इसलिए उसे वज्रधर कहा जाता है। श्री पद्मप्रभ भगवान, कामदेवरूपी पर्वत को तोड़ देने के लिए वज्रधर, अर्थात् इन्द्र के समान हैं। जिस प्रकार वज्र से पर्वत का चूर-चूर होता है, उसी प्रकार भगवान का आत्मा, कामदेवरूपी वासना का तो चूर्ण कर देता है।

**कान्त ( मनोहर ) जिनका कायप्रदेश है.....** यह बाह्य की बात नहीं है। भगवान का शरीर मनोहर, अर्थात् परमोदारिक होता है। अरहन्त के शरीर में व्याधि-रोग अथवा क्षुधा-तृषा आदि नहीं होते, इसलिए उनका शरीर कान्त, अर्थात् मनोहर है – ऐसा कहते हैं। अहा! भगवान के आत्मप्रदेश तो निर्मल हैं परन्तु उनका कायप्रदेश, अर्थात् शरीर के प्रदेश भी निर्मल हैं क्योंकि परमौदारिक शरीर है न! यद्यपि प्रत्येक अरहन्त को परमौदारिक शरीर होता है परन्तु यहाँ तो अभी श्री पद्मप्रभ का नाम लेकर उन्हें स्मरण किया है।

**मुनिवर जिनके चरण में नमते हैं....** जिन्हें वीतरागता प्रगट हुई है – ऐसे मुनिवर भी सर्वज्ञ अरहन्त परमात्मा के चरण में नमते हैं, अर्थात् मुनिवरों को भी उनकी भक्ति होती है। अहा! मुनिवर कहने से आचार्य-उपाध्याय और साधु; जिन्हें पूर्ण वीतरागता प्रगटी है – ऐसे अरहन्त के चरण में नमते हैं।

**प्रश्न –** एक ओर तो आप यह कहते हो कि भक्ति हेय है और यहाँ.... ?

**समाधान –** क्या ऐसी भक्ति आये बिना नहीं रहती? वह भक्ति हेय है, तथापि आती है या नहीं? भक्ति का विकल्प शुभोपयोग है और हेय है, तथापि वह आये बिना नहीं रहता है।

www.vitragvani.com



**प्रश्न –** शुभभाव का निषेध है तो वह किसलिए आता है ?

**उत्तर –** शुभभाव का निषेध है, अर्थात् वह आदरणीय नहीं है, तथापि '*है*' तो है अवश्य न! अर्थात् जो '*है*' वह आदरणीय नहीं है – यह कहना है। इसलिए शुभभाव आता तो अवश्य है परन्तु वह आदरणीय नहीं है, हेय है – ऐसा कहते हैं।

**प्रश्न –** शुभभाव हेय है तो किसलिए करना ?

**उत्तर –** करना क्या, उसे करने या न करने का प्रश्न ही नहीं है, वह शुभभाव आये बिना रहता ही नहीं।

**प्रश्न –** उसे शास्त्र में हेय कहें, अग्नि के समान कहें और फिर भी आये ?

**उत्तर –** हाँ, उसे अनेक प्रकार से कहते हैं। अग्नि कहते हैं, तमतमाते हुए अंगारा भी कहते हैं क्योंकि वह शुभभाव कषाय है – राग है। फिर भी मुनिवरों को भी शुभभाव आता है, होता है और उसे मुनिराज जानते हैं। भाई! ऐसा ही स्वरूप है।

यहाँ कहते हैं कि परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागतारूप शान्तरस से पूर्ण परिणमित हो गये हैं और उनके प्रति मुनिवरों को भी भक्ति आती है, इसलिए उनके चरणों में नमते हैं।

**'प्रास्तकीनाशपाशः' – यम के पाश का जिन्होंने नाश किया है।** ***कीनाशः*** अर्थात् यम के पाश का / बन्धन का भगवान ने नाश किया है; इसलिए उन्हें अब काल का बन्धन नहीं रहा – ऐसा कहते हैं।

**दुष्ट पापरूपी वन को ( जलाने के लिये ) जो अग्नि हैं.....** दुष्ट पाप, अर्थात् पुण्य –पाप दोनों। पुण्य–पापरूपी वन है, उसे जलाने के लिए भगवान अग्नि के समान है, अर्थात् भगवान को पुण्य अथवा पाप नहीं है। अहा! वीतरागतारूप शान्तरससरूप अकषायभावरूप जिनका परिणमन है, उन भगवान ने पुण्य–पाप के वन को जला दिया है और वे पुण्य–पाप को जलाने के लिए अग्नि है – ऐसा कहा जाता है।

**सर्व दिशाओं में जिनकी कीर्ति व्याप्त हो गयी है.....** यह पुण्य की बात ली है। कहते हैं कि चारों दिशाओं में भगवान की कीर्ति व्याप्त हो गयी है। तीर्थङ्कर और अरहन्त की गुणदशा तो पूर्ण हुई है परन्तु उनकी पुण्यप्रकृति भी ऐसी है कि चारों ही दिशाओं में इन्द्रादि आकर आदर करते हैं। इस प्रकार उनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो गयी है। इस श्लोक में मुनिराज ने भगवान की

www.vitragvani.com



पवित्रता और पुण्य दोनों की बात की है, क्योंकि भगवान के स्वरूप का ज्ञान कराना हो, तब दोनों बातें बतलायी जाती हैं।

**....और जगत् के जो अधीश ( नाथ ) हैं.....** भगवान को व्यवहार से जगत् का नाथ कहा जाता है अथवा वे जगत् के ज्ञाता हैं, इसलिए जगत् के नाथ हैं – ऐसा कहा जाता है।

**.....वे सुन्दर पद्मप्रभेश जयवन्त हैं।** ऐसे सुन्दर श्रीपद्मप्रभ भगवान जयवन्त हैं। देखो, यहाँ तो 'कान्त जिनका काय प्रदेश है' – ऐसा कहा है। उसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ पद्मप्रभ को अरहन्तरूप में स्मरण किया है, यूँ तो अभी वे सिद्ध हो गये हैं, सिद्ध हैं परन्तु यह स्तुति जब वे अरहन्तदशा में थे, उसे स्मरण करके की गयी है।

'लोगस्ससूत्र' में भी आता है कि 'तित्थयरा मे पसिअन्तु' तीर्थङ्कर मुझ पर प्रसन्न होओ। अब चौबीस तीर्थङ्कर तो सिद्ध हो गये हैं, मोक्ष पधार चुके हैं। अभी वे कोई तीर्थङ्कररूप में नहीं हैं, तथापि भूतकाल में वे तीर्थङ्कररूप में थे; अत: उनकी तीर्थङ्कररूप में अस्ति थी, उसे स्मरण करके वन्दन किया है तथा 'तीर्थङ्कर मुझ पर प्रसन्न होओ' ऐसा कहा – तो क्या वे प्रसन्न हो गये होंगे ? भाई ! अपना आत्मा अपने पर प्रसन्न होता है – ऐसी भावना है, उसे 'भगवान मुझ पर प्रसन्न होओ' – ऐसा कहा जाता है। ऐसी बात है भाई !

अहा ! सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा भगवान तो वीतराग है, इसलिए वे कहीं किसी पर प्रसन्न भी नहीं होते और अप्रसन्न भी नहीं होते, परन्तु अपने आत्मा में आनन्द-शान्तिरूप प्रसन्नता वर्तती है, इसलिए मानों कि भगवान प्रसन्न हैं, अर्थात् मैं स्वयं अपने ऊपर प्रसन्न हूँ, तो भगवान मुझ पर प्रसन्न हैं – ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार यह ७१ वीं गाथा हुई। इस गाथा में अरहन्त की बात थी। अब ७२ वीं गाथा में सिद्ध की बात करते हैं। यह व्यवहारचारित्र अधिकार है न ! इसलिए इसमें पञ्च परमेष्ठियों की बात की है तथा पाँच महाव्रत-पाँच समिति एवं व्यवहार और निश्चय इस प्रकार दोनों प्रकार की त्रिगुप्ति की बात भी की है। अब, सिद्ध की व्याख्या करते हैं। ●●

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

## गाथा ७२

**णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।**
**लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति॥ ७२॥**

**नष्टाष्टकर्मबन्धा अष्टमहागुणसमन्विताः परमाः।**
**लोकाग्रस्थिता नित्याः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति॥ ७२॥**

**हैं अष्ट गुण संयुक्त, आठों कर्म-बन्ध विनष्ट हैं।**
**लोकाग्र में जो हैं प्रतिष्ठित परम शाश्वत सिद्ध हैं॥ ७२॥**

**गाथार्थ :** आठ कर्मों के बन्ध को जिन्होंने नष्ट किया है, ऐसे आठ महागुणों सहित, परम, लोक के अग्र में स्थित और नित्य – ऐसे वे सिद्ध होते हैं।

**टीका :** सिद्धि के परम्पराहेतुभूत ऐसे भवगन्त सिद्धपरमेष्ठियों का स्वरूप यहाँ कहा है।

[भगवन्त सिद्ध कैसे होते हैं] (१) निरवशेषरूप[१] से अन्तर्मुखाकार, ध्यान-ध्येय के विकल्परहित निश्चय-परमशुक्लध्यान के बल से जिन्होंने आठ कर्म के बन्ध को नष्ट किया है ऐसे; (२) क्षायिक[२] सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों की पुष्टि से तुष्ट; (३) विशिष्ट गुणों के आधार होने से तत्त्व[३] के तीन स्वरूपों में परम; (४) तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोक के अग्र में स्थित; (५) व्यवहार से अभूतपूर्व पर्याय में से (पहले कभी नहीं हुई ऐसी सिद्धपर्याय में से) च्युत होने का अभाव होने के कारण नित्य – ऐसे वे भगवन्त परमेष्ठी होते हैं।

अब ७२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं —

---

१. निरवशेषरूप से = अशेषतः; कुछ शेष रखे बिना; सम्पूर्णरूप से; सर्वथा। [परमशुक्लध्यान का आकार अर्थात् स्वरूप सम्पूर्णतया अन्तर्मुख होता है।]

२. सिद्धभगवन्त क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध इन आठ गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट – आनन्दमय होते हैं।

३. सिद्ध भगवन्त विशिष्ट गुणों के आधार होने से बहिःतत्त्व और परमतत्त्व ऐसे तीन तत्त्वस्वरूपों में से परमतत्त्वस्वरूप हैं।

www.vitragvani.com



(मालिनी)

**व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजः स सिद्धः**
**त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणिः स्यात्।**
**सहजपरमचिच्चिन्तामणौ नित्यशुद्धे**
**निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः॥ १०१॥**

(वीरछन्द)

**वे सिद्धप्रभु व्यवहारनय से ज्ञान के घनपुञ्ज हैं।**
**त्रिभुवन शिखर की शिखा के चूड़ामणी घनरूप हैं॥**
**वे देव निश्चय से सहज चैतन्य चिंतामणि परम।**
**निज नित्य शुद्ध स्वरूप में ही वास करते हैं स्वयं॥**

**श्लोकार्थ :** व्यवहारनय से ज्ञानपुंज ऐसे वे सिद्ध भगवान त्रिभुवनशिखर की शिखा के (चैतन्यघनरूप) ठोस चूड़ामणि[१] हैं; निश्चय से वे देव सहजपरमचैतन्यचिन्तामणिस्वरूप नित्यशुद्ध निजरूप में ही वास करते हैं।

(स्त्रग्धरा)

**नीत्वास्तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता देहमुक्ताः**
**तान् सर्वान् सिद्धिसिद्ध्यै निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान्।**
**सिद्धान् नष्टाष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्**
**अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धिसीमन्तिनीशान्॥ १०२॥**

(वीरछन्द)

**सर्व दोष को नष्ट किया लोकाग्र शिखर पर जो थिर हैं।**
**देह मुक्त निरुपम निर्मल जो ज्ञान शक्ति से शोभित हैं॥**
**जो हैं अष्टकर्म की प्रकृति के समूह के नाशक जान।**
**नित्य शुद्ध हैं जो अनन्त हैं अव्याबाध त्रिलोक प्रधान॥**
**मुक्ति सुन्दरी के स्वामी हैं निर्मल गुण अनन्त की खान।**
**सिद्धि प्राप्ति के लिए अहो! मैं सब सिद्धों को करूँ नमन॥**

१. चूड़ामणि = शिखामणि; कलगी का रत्न; शिखर का रत्न।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



**श्लोकार्थ :** जो सर्व दोषों को नष्ट करके देहमुक्त होकर त्रिभुवनशिखर पर स्थित हैं, जो निरुपम विशद (निर्मल) ज्ञानदर्शनशक्ति से युक्त हैं, जिन्होंने आठ कर्मों की प्रकृति के समुदाय को नष्ट किया है, जो नित्यशुद्ध हैं, जो अनन्त हैं, अव्याबाध हैं, तीन लोक में प्रधान हैं और मुक्तिसुन्दरी के स्वामी हैं, उन सर्व सिद्धों को सिद्धि की प्राप्ति के हेतु मैं नमन करता हूँ।

(अनुष्टुभ्)

**स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपदः।**
**नष्टाष्टकर्मसंदोहन् सिद्धान् वंदे पुनः पुनः॥ १०३॥**

(वीरछन्द)

**निज स्वरूप में जो स्थित हैं और शुद्ध हैं सिद्ध महान्।**
**वसु गुण सम्पति प्राप्त हुए वसुकर्म विनाशक उन्हें नमन॥**

**श्लोकार्थ :** जो निज स्वरूप में स्थित हैं, जो शुद्ध हैं; जिन्होंने आठ गुणरूपी सम्पदा प्राप्त की है और जिन्होंने आठ कर्मों का समूह नष्ट किया है, उन सिद्धों को मैं पुनः पुनः वन्दन करता हूँ।

## गाथा – ७२ पर प्रवचन

हरिगीत में **णिच्चा,** अर्थात् **नित्य** शब्द का अर्थ शाश्वत् किया है।

**सिद्धि के परम्पराहेतुभूत – ऐसे भवगन्त सिद्धपरमेष्ठियों का स्वरूप यहाँ कहा है।** इस जीव की मुक्ति का साक्षात् हेतु तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, जबकि सिद्धभगवान, मुक्ति के परम्परा हेतु हैं। मुक्ति में सिद्ध निमित्त हैं, इसलिए उन्हें परम्पराहेतु कहा गया है। अहा! सिद्ध परमात्मा इस आत्मा की मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं है। इस आत्मा की मुक्ति का साक्षात् कारण तो स्वचैतन्य के आश्रय से प्रगट होनेवाला दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है परन्तु इस रत्नत्रय के साथ सिद्धभगवान की व्यवहारश्रद्धा भी होती है, इसलिए सिद्धभगवान को मुक्ति का परम्पराहेतु कहा गया है; अतः मुक्ति के परम्पराहेतु / निमित्त – ऐसे भगवन्त सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप यहाँ कहा गया है।

**[ भगवन्त सिद्ध कैसे होते हैं ]** अब, सिद्ध कैसे होते हैं ? यह बात कहते हैं और साथ ही वे सिद्ध कैसे हुए ? यह बात भी कहते हैं।

**( १ ) निरवशेषरूप से अन्तर्मुखाकार, ध्यान–ध्येय के विकल्परहित निश्चय –परमशुक्लध्यान के बल से जिन्होंने आठ कर्म के बन्ध को नष्ट किया है ऐसे;....** देखो, यहाँ तो यह कहा है कि निश्चय परमशुक्लध्यान के बल से आठ कर्म नष्ट किये हैं, उसका अर्थ यह है कि कोई उपवासादि करके अथवा शुभभाव करके सिद्ध भगवान ने आठ कर्मों का नाश किया है – ऐसा नहीं है, क्योंकि वह उपवासादि तो विकल्प है। नीचे फुटनोट में है कि 'निरवशेषरूप से = अशेषत:; कुछ शेष रखे बिना; सम्पूर्णरूप से; सर्वथा।' परमशुक्लध्यान का आकार, अर्थात् स्वरूप सम्पूर्णतया अन्तर्मुख होता है। अहा! अन्तर में आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है, उसमें एकाग्र हुआ शुक्लध्यान, अन्तर्मुखस्वरूप है, अन्तर में ढला हुआ है परन्तु बाह्य में नहीं है। तात्पर्य यह है कि शुक्लध्यान, निर्विशेषरूप से अन्तर्मुख है तथा वह शुक्लध्यान, ध्यान–ध्येय के विकल्प से रहित है। आशय यह है कि मैं ध्यान करनेवाला और यह भगवान आत्मा ध्येय – ऐसे भेद का विकल्प / राग भी उसमें नहीं है। अहा! ध्यान–ध्येय के विकल्प / राग से रहित अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है, वह शुक्लध्यान है।

अन्तर्मुख जिसका भाव है और जो किञ्चित्मात्र भी बहिर्मुख नहीं है – ऐसे निश्चय परमशुक्लध्यान के बल से... देखो, यहाँ 'परमशुक्लध्यान' कहा है। अहा! अन्तर में विराजमान शुद्ध आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में अन्तर्मुख होने पर जो परमशुक्लध्यान प्रगट हुआ, उसके बल से सिद्ध भगवान ने आठ कर्मों के बन्ध का नाश किया है। परमशुक्लध्यान के बल से पहले चार घातियाकर्म नष्ट किये थे, यह बात तो है ही परन्तु फिर चार अघातियाकर्म भी परमशुक्लध्यान के कारण से नष्ट किये हैं – ऐसा कहते हैं। अहा! चार घातियाकर्म और चार अघातियाकर्म का नाश अन्तर्मुख ध्यान द्वारा होता है। तात्पर्य यह है कि उन आठों कर्मों का नाश अन्तर्मुख परिणति के द्वारा होता है परन्तु बहिर्मुखता के किसी भी विकल्प द्वारा उन आठ कर्मों में से एक भी कर्म का नाश नहीं होता। अरे! दर्शनमोह का नाश भी अन्तर्मुख स्वरूप दृष्टि के बल से होता है।

**प्रश्न :** 'धवल' में जिनबिम्ब के दर्शन से निधत और निकाचित कर्म का नाश होता है – ऐसा कथन आता है न?

**उत्तर :** भाई! यह तो निमित्त की बात है। वस्तुत: जिनबिम्ब तो यह आत्मा है और उस अन्तर में विराजमान वीतराग मूर्ति प्रभु आत्मा में अन्तर्मुख होकर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। देखो, यहाँ अन्तर्मुखाकार ध्यान से आठों ही कर्मों का नाश कहा है न! तो पहला अन्तर्मुखाकार

www.vitragvani.com



ध्यान, धर्मध्यान है। आशय यह है कि धर्मध्यान भी अन्तर्मुखाकार है और यह परमशुक्लध्यान तो निर्विशेषरूप से, अर्थात् पूर्णरूप से अन्तर्मुखाकार है।

अहा! धर्मध्यान होने में – सम्यग्दर्शन होने में, अर्थात् दर्शनमोह का नाश होने में भी अन्तर्मुखस्वरूप का आश्रय है, अर्थात् पूर्णानन्दस्वरूप के आश्रय से ही दर्शनमोह का नाश होता है; इसलिए शुभोपयोग से शुद्धोपयोग होता है – ऐसा है ही नहीं। शुभोपयोग बाहर का, अर्थात् बहिर्मुख व्यापार है, जबकि शुद्धोपयोग अन्तर्मुख व्यापार है; इस प्रकार दोनों की दिशा में अन्तर है।

अहा! सिद्ध भगवान, निर्विशेषरूप से अन्तर्मुखाकार है। उन्होंने प्रथम स्वरूप में अन्तर्मुख होकर दर्शनमोह का नाश किया, फिर विशेष अन्तर्मुख होकर चारित्रमोह का नाश किया और फिर पूर्ण अन्तर्मुख हुए, जिससे आठों ही कर्मों का नाश हो गया। देखो, यद्यपि अरहन्त को अब कुछ करना, अर्थात् विशेष अन्तर्मुख होना नहीं है, तथापि यहाँ चार अघातियाकर्मों का नाश भी अन्तर्मुख होकर किया – ऐसा कहा है।

इस प्रकार यहाँ कहा है कि निश्चय परमशुक्लध्यान के बल से सिद्ध परमात्मा ने आठ कर्मों के बन्ध को नष्ट किया है। देखो, यह सिद्ध कैसे हुए? – उसकी पहचान करायी है कि सिद्धपद इस प्रकार परमशुक्लध्यान के बल से प्राप्त होता है परन्तु किसी बाहर के क्रियाकाण्ड से सिद्धपद प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार सिद्ध भगवन्त ने आठ कर्मों का नाश किया, उसकी बात कही गयी है। अब, '**अट्ठमहागुणसमण्णिया**' की बात करते हैं।

**( २ ) क्षायिक[२] सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों की पुष्टि से तुष्ट;**... सिद्ध भगवान आठ गुणों की पुष्टि से आनन्दमय हैं। नीचे फुटनोट में है 'सिद्धभगवन्त क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट – आनन्दमय होते हैं।' देखो, पहले समकित लिया है। आठ गुण में चारित्र नहीं आया, इसलिए कितने ही यह कहते हैं कि सिद्ध भगवान को चारित्र नहीं होता – परन्तु वह बात मिथ्या है। सिद्ध को पूर्ण चारित्र होता है। सिद्ध परमात्मा को अनन्त सुख है न! तो उसमें चारित्र आ गया है। समकित का सुख और चारित्र का सुख – यह दोनों मिलकर सिद्ध को अनन्त सुख प्रगट हुआ है; इसलिए सिद्ध भगवान को चारित्र होता है तथा आत्मा के स्वभावमय चारित्रगुण है, वह सिद्ध भगवान को पूर्ण प्रगट हो गया है; इसलिए उन्हें चारित्र है। हाँ, व्यवहारचारित्र के जो सामायिक, छेदोपस्थापना आदि भेद हैं, वे उन्हें नहीं हैं।

www.vitragvani.com



**प्रश्न :** क्या सिद्धदशा में भी चारित्र होता है?

**उत्तर :** अपने आनन्दमय स्वरूप में रमणता, वह चारित्र है और वह रमणता सिद्ध भगवान को पूर्ण प्रगट हो गयी है, इसलिए उन्हें पूर्ण चारित्र होता है।

यहाँ कहते हैं कि सिद्ध भगवान, आठ गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट हैं। अन्दर टीका में 'तुष्ट' शब्द है, उसका अर्थ फुटनोट में सन्तुष्ट किया है। अहा! सिद्ध भगवान आठ गुणों से तुष्ट... तुष्ट हैं, अर्थात् उन्हें सन्तोष-आनन्द है। श्रद्धा-ज्ञान के साथ अनन्त आनन्द भी है - ऐसा कहते हैं। देखो, यहाँ कहे हैं आठ गुण, परन्तु वे हैं पर्यायें।

**प्रश्न :** परन्तु उन्हें गुण कहा है न? क्षायिकसमकित आदि आठ गुण। इस प्रकार सिद्ध भगवान के आठ गुण कहे हैं और आप कहते हो कि वह पर्याय है?

**उत्तर :** भाई! सिद्ध भगवान को क्षायिकसमकित आदि पर्यायें प्रगट हुई हैं और उन पर्यायों को गुण कहा है। यदि वे क्षायिकसमकित गुण हों तो क्या गुण प्रगट होते हैं? नहीं, क्योंकि गुण तो त्रिकाल रहते हैं; जबकि यहाँ आनन्दसहित अष्ट गुण प्रगट हुए हैं और उनकी पुष्टि से सिद्ध भगवान तुष्ट हैं - ऐसा कहते हैं; इसलिए यह पर्याय की बात है। अहा! सिद्धदशा भी पर्याय है, गुण नहीं, कारण कि गुण तो त्रिकाल रहते हैं। गुण की विपरीत अवस्था, वह संसार है और पूर्ण सम्यक् अवस्था, वह मोक्ष है; इसलिए संसार और मोक्ष - यह दोनों पर्यायें हैं। इस प्रकार समकित भी पर्याय है, चारित्र भी पर्याय है और सिद्धदशा भी पर्याय है।

**( ३ ) विशिष्ट गुणों के आधार होने से तत्त्व के तीन स्वरूपों में परम;** ....फुटनोट देखो! - सिद्ध भगवन्त विशिष्ट गुणों के आधार होने से बहि:तत्त्व अन्त:तत्त्व और परमतत्त्व - ऐसे तीन तत्त्वस्वरूपों में से परमतत्त्वस्वरूप हैं। यहाँ गुण का आशय पर्याय है। सिद्धदशा स्वयं उत्कृष्ट पर्याय है और इसलिए परमतत्त्व है - ऐसा यहाँ कहना है। यहाँ ध्रुव आत्मा की बात नहीं है परन्तु सिद्ध भगवान विशिष्ट गुणों के आधार होने से; अर्थात्, सिद्ध भगवान को समस्त पर्यायें पूर्णरूप से प्रगट हुई होने से वे उन पर्यायों के आधार हैं और इस कारण वे तत्त्व के तीन स्वरूपों में से परम हैं - ऐसा कहते हैं। बहि: तत्त्व - अन्त:तत्त्व और परम तत्त्व - ये तीनों पर्यायें हैं और उनमें से सिद्ध भगवान परम तत्त्व है, अर्थात् सिद्धरूप पूर्ण पर्याय उत्कृष्ट है। देखो, तत्त्व के तीन स्वरूपों में परम कहने से सिद्ध भगवान को पूर्ण दशा प्रगट हुई है - ऐसा कहना है।

**( ४ ) तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोक के अग्र में स्थित;** ....सिद्ध भगवान लोकाग्र में विराजते हैं। सिद्ध भगवान तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोक के अग्र में स्थित हैं – ऐसा कहा है, वह व्यवहार से बात की है और वे स्वयं से लोक के अग्र में स्थित हैं – ऐसा कहना, वह यथार्थ निश्चय है। निश्चय, अर्थात् वे पर के कारण लोकाग्र में स्थित नहीं हैं परन्तु अपने कारण वहाँ स्थित हैं। वस्तुतः परमनिश्चय से तो वे स्वरूप में स्थित हैं, इसलिए अपने से लोक के अग्र में स्थित हैं – ऐसे कथन को भी व्यवहार कहा जाता है। इसलिए कहा कि सिद्ध भगवान तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोकाग्र में स्थित हैं।

**प्रश्न :** देखो, यहाँ कहते हैं कि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से सिद्धभगवान लोकाग्र में स्थित हैं ?

**उत्तर :** भाई! यह तो व्यवहार से बात है; निश्चय से सत्य बात तो यह है कि लोक के अग्र में ही रहने की सिद्ध की अवस्था की योग्यता है और उसे 'आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए सिद्ध लोकाग्र में हैं' – ऐसा कहा है।

कोई कहता है न कि सिद्ध भगवान कथञ्चित् स्वतन्त्र हैं और कथञ्चित् परतन्त्र हैं – परन्तु ऐसा नहीं है, वे पूर्ण स्वतन्त्र हैं। यदि वे कथञ्चित् परतन्त्र हों तो उन्हें किञ्चित् दुःख भी होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है। देखो न! अभी अज्ञानी जहाँ-तहाँ अनेकान्त लगाता है न! अनेकान्त के नाम पर विपरीतता का पोषण करता है कि धर्म कदाचित् शुभभाव से होता है और शुद्धभाव से भी होता है; समकित से कथञ्चित् बन्ध होता है और मुक्ति भी होती है, इसका नाम अनेकान्त है – ऐसा अज्ञानी कहता है।

**प्रश्न :** समकित से देवगति मिलती है न!

**उत्तर :** क्या समकित से गति मिलती है ? गति तो रागादिक से मिलती है।

**प्रश्न :** शास्त्र में लिखा है कि समकित से स्वर्गगति प्राप्त होती है ?

**उत्तर :** भाई! यह तो भाषा है। समकित के साथ राग है, उससे स्वर्ग प्राप्त होता है तो 'समकित से स्वर्ग प्राप्त होता है' – ऐसा कहा है। समकित तो निर्मलदशा है, तो क्या निर्मलदशा से स्वर्ग प्राप्त होता है ?

www.vitragvani.com



**प्रश्न :** क्या ऐसा नहीं कहा है कि समकिती को ही तीर्थङ्करप्रकृति बँधती है?

**उत्तर :** तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है, वह शुभभाव का अपराध है परन्तु समकित के कारण वह प्रकृति नहीं बँधती। ज्ञानी को तीर्थङ्करनामकर्म बँधे, मुनि को आहारक शरीर बँधे – इत्यादि बन्ध हो, वह सब शुभोपयोग का अपराध है। जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है, वह भाव भी अपराध है – ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थसिद्धियुपाय गाथा 220 में पाठ है। अहा! पञ्च महाव्रत का परिणाम भी अपराध है क्योंकि वह विकल्प-राग है।

**प्रश्न :** तीर्थङ्कर होना भी अपराध है? वे तो बहुत से जीवों का कल्याण करते हैं न?

**उत्तर :** भाई! दूसरों का कल्याण कौन करता था और समकिती अथवा मुनि को ऐसा तीर्थङ्करप्रकृति बँधने योग्य शुभभाव आवे तो वे मोक्ष जाने से रुक जाते हैं और दो भव करना पड़ते हैं – एक स्वर्ग का भव और दूसरा मनुष्य का भव। इस प्रकार दो भव अभी होंगे परन्तु इसी भव में केवलज्ञान नहीं ले सकते हैं। यह बात बहुत कठोर है।

**प्रश्न :** शुभभाव, मोक्ष का परम्परा हेतु है – ऐसा तो शास्त्रों में अनेक जगह आता है – उसका अर्थ क्या है?

**उत्तर :** उसका आशय यह है कि शुभभाव का अभाव करेगा, तब मुक्ति प्राप्त करेगा; अर्थात्, जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बाँधा था, उस शुभराग का भी अभाव करेगा, तब मुक्ति प्राप्त होगी – ऐसी बात है। बापू! यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। लोगों को सच्चा वस्तु स्वरूप सुनने नहीं मिलता और वाद-विवाद करते हैं, इसलिए कहीं वस्तुस्वरूप बदल जाएगा क्या? वह तो जो है, वही है और रहेगा। जगत् को बहुत कठिन काम है, उसने जो मान रखा हो, उसमें से छूटना बहुत कठिन काम है।

यहाँ कहते हैं कि 'तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से...' यह व्यवहार कारण होता है। अहा! व्यवहार से कहें तो लोक के आगे गति का निमित्त नहीं है, इसलिए सिद्धभगवान आगे नहीं जाते और निश्चय से कहें तो सिद्ध भगवान भी अपनी योग्यता लोक से आगे जाने की नहीं है और वे स्वयं अपने उपादान से लोक के अग्र में स्थित हैं, बस इतनी बात है।

अब, मूल गाथा में है कि **णिच्चा** उसका अर्थ –

**( ५ ) व्यवहार से अभूतपूर्व पर्याय में से ( पहले कभी नहीं हुई – ऐसी सिद्धपर्याय**

**में से ) च्युत होने का अभाव होने के कारण नित्य...** सिद्ध भगवान को व्यवहार से नित्य कहा जाता है, वे व्यवहार से नित्य हैं क्योंकि निश्चय से तो उन्हें भी प्रति समय परिणमन होता है, अर्थात् सिद्ध भगवान प्रति समय बदलते हैं। एक स्तुति में आता है कि 'प्रभु! आप तो प्रति समय बदलते हैं और मैं असंख्य समय में बदलता हूँ, मुझे तो सब अन्तर्मुहूर्त में बदलता है' - इसका अर्थ यह है कि अभी मेरे उपयोग की स्थूलता है, जबकि आपको ज्ञान की सूक्ष्मता प्रगट हो गयी है। छद्मस्थ को असंख्य समय में ख्याल आता है न! इसलिए ऐसा कहा है कि मैं असंख्य समय में बदलता हूँ, यों तो छद्मस्थ भी प्रति समय बदलता है।

यहाँ कहा है कि सिद्ध भगवान व्यवहार से नित्य हैं क्योंकि भगवान को अभूतपूर्व पर्याय में से, अर्थात् पूर्व में कभी नहीं प्रगट हुई - ऐसी सिद्धपर्याय में से च्युत होने का अभाव है। जो सिद्धपर्याय प्रगट हुई है, उसके नाश होने का अभाव होने से व्यवहार से सिद्ध भगवान को नित्य कहा जाता है। वह सिद्धपर्याय ऐसी की ऐसी रहनेवाली है, इस अपेक्षा से उसे नित्य कहा गया है। यद्यपि सिद्धपर्याय प्रति समय बदलती ही है तो भी उस सिद्धपर्याय में से च्युत होने का अभाव होने से भगवान को व्यवहार से नित्य कहा जाता है।

— **ऐसे वे भगवन्त परमेष्ठी होते हैं।** अरे! जैन में रहनेवाले को भी अपने जैनदर्शन में क्या वस्तुस्वरूप है? इसका पता नहीं होता और जहाँ-तहाँ डोलते रहते हैं।

(श्री महावीर भगवान के 2500 वाँ निर्वाण महोत्सव के सन्दर्भ में पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं।) अहा! महावीर भगवान तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर हैं, वे तो कृतकृत्य हो गये हैं, और पूर्णानन्द को प्राप्त हैं। उन्हें एक समय में पूर्णज्ञान प्रगट हुआ है। अहा! भगवान एक समय में तीन काल-तीन लोक को नहीं जानते परन्तु अपनी पर्याय को जानते हुए, वह तीन काल-तीन लोक ज्ञात हो जाता है। अरे! ऐसी बात की गन्ध भी अन्यत्र कहाँ है। देखो न! अभी तो मिथ्यादृष्टि का वर्ग, अर्थात् समूह ही बड़ा है। यद्यपि तीनों काल मिथ्यादृष्टियों का बड़ा समूह होता है परन्तु अभी मनुष्यपने में जरा विशेष-अधिक है।

अहा! वीतरागी भगवान को कोई पूजें या न पूजें अथवा थोड़े पूजें; उससे भगवान की महिमा कुछ घट जाती हो - ऐसा नहीं है। भगवान तो भगवान ही है। भगवान के महोत्सव की तैयारी अपन क्या कर सकते हैं? फिर भी अपने प्रसङ्ग आया है और लोगों का उत्साह है तो भले

www.vitragvani.com



ही जैन थोड़े हों तो भी सब मतभेद एक ओर रखकर सम्भव हो उतनी प्रभावना करो। यह भाव पुण्यबन्ध का कारण है क्योंकि वह शुभभाव है, शुद्धभाव नहीं। अहा! प्रभु का निर्वाण महोत्सव वास्तव में कौन मना सकता है ? जो अन्तर में आत्मअनुभव करके उसकी उग्रता प्रगट करे, वह प्रभु का निर्वाण महोत्सव मना सकता है और वही सच्चा महोत्सव है। इसके अतिरिक्त महावीर प्रभु अथवा अनन्त तीर्थङ्कर अथवा केवलियों के महोत्सव को पामर प्राणी क्या मना सकता है ?

अहा! आत्मा अनन्त गुणस्वरूप है। सिद्ध को उन समस्त गुणों का प्रगटरूप परिणमन पूर्ण हो गया है और एक समय में तीन काल-तीन लोक जानने में आता है। यह सब पूर्ण दशाएँ ऐसी की ऐसी सदा रहती है; इसलिए व्यवहार से उन्हें नित्य कहा जाता है। श्री पञ्चास्तिकाय संग्रह में भी सिद्धभगवान की पर्याय को कूटस्थ कहा है। सिद्धभगवान की पर्याय ऐसी की ऐसी रहती है, इस अपेक्षा से उसे कूटस्थ कहा है, वहाँ कूटस्थ का ऐसा अर्थ है। वैसे तो सिद्ध का ज्ञान, अर्थात् केवलज्ञान ही प्रति समय बदलता है क्योंकि केवलज्ञान भी पर्याय है, वह कोई गुण नहीं है, गुण तो त्रिकाल रहते हैं।

यहाँ कहा है कि सिद्ध की पर्याय ऐसी की ऐसी कायम रहती है, इसलिए व्यवहार से उसे नित्य कहा जाता है। अहा! त्रिकालीध्रुव तो नित्य है ही, परन्तु सिद्धपर्याय भी सदा ऐसी की ऐसी रहती है, इस अपेक्षा से नित्य कही जाती है। श्री समयसारजी की पहली गाथा में ध्रुव शब्द आता है न '**वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते**' सिद्ध भगवान ध्रुव हैं, यह पर्याय की बात है कि सिद्धपर्याय ध्रुव है। यद्यपि सिद्धपर्याय तो प्रति समय नष्ट होती है, तथापि वह ऐसी की ऐसी रहती है, इसलिए ध्रुव है – ऐसा कहा जाता है। अहा! इसने अनन्त काल में कभी 'यह आत्मा क्या वस्तु है, उसकी शक्ति क्या है, उसकी दशा क्या है ?' – यह जानने की और उसकी सम्हाल करने की दरकार नहीं की है। यह तो इस दुनिया की साज-सम्हाल, व्यापार-धन्धे और शुभराग की क्रिया में रुक गया है। यहाँ कहते हैं कि राग से भिन्न आत्मा, अनन्त सामर्थ्यवाला तत्त्व है, उसकी एक समय की सिद्धपर्याय में भी तीन काल-तीन लोक ज्ञात होता है और वह पर्याय ऐसी की ऐसी सदा रहा करती है।

## कलश १०१ पर प्रवचन

भगवान सिद्ध परमात्मा लोकाग्र में हैं, अर्थात् परक्षेत्र में हैं – ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



है, निश्चय से तो भगवान अपने स्वरूप में हैं। अहा! वे लोकाग्र में हैं – ऐसा कहना व्यवहार है क्योंकि लोक, पर / भिन्न है न! और पराश्रित, वह व्यवहार है; इसलिए वे लोकाग्र में रहते हैं – ऐसा कहना व्यवहार है।

वस्तुत: तो भगवान अपने गुण और पर्याय में वसते हैं, वे अपने भाव में और क्षेत्र में रहते हैं किन्तु परभाव और परक्षेत्र में नहीं वसते। जो अपना असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है और जो अपने अनन्त गुणों की पर्याय का परिणमन है, उसमें भगवान वसते हैं। इस प्रकार भगवान निजक्षेत्र में वसते हैं – ऐसा कहना, वह निश्चय है और लोकाग्र में रहते हैं – ऐसा कहना, वह व्यवहार है।

कोई उक्त कथन का ऐसा अर्थ करता है कि भगवान लोकाग्र में रहते हैं, उसे तुम व्यवहार कहते हो और व्यवहार तो अभूतार्थ है, अन्यथा कहता है तो क्या भगवान लोकाग्र में रहते हैं, यह कहना मिथ्या है। क्या वे लोकाग्र में नहीं रहते ? क्या अन्यत्र रहते हैं ? – ऐसे तर्क अभी बहुत लोग करते हैं।

अज्ञानी जहाँ–तहाँ ऐसे तर्क करता है, क्योंकि उसे तो किसी भी प्रकार से व्यवहार को सच्चा सिद्ध करना है न! भाई! सिद्ध भगवान व्यवहार से तो लोकाग्र में ही है परन्तु निश्चय से / वास्तव में वे लोकाग्र में नहीं हैं, परक्षेत्र में नहीं हैं, अपने स्वरूप में हैं। अपने द्रव्य–गुण–पर्याय में स्वयं सिद्धभगवान विराजमान हैं, तथापि वे परक्षेत्र में हैं – ऐसा कहना, वह व्यवहार है।

यहाँ कहते हैं कि **व्यवहारनय से....** इतना रखकर आगे पढ़ना कि **ज्ञानपुञ्ज ऐसे वे सिद्धभगवान, त्रिभुवनशिखर की शिखा के ( चैतन्यघनरूप ) ठोस चूड़ामणि हैं;** सिद्ध प्रभु अकेले ज्ञान के पुञ्ज हैं, उन्हें अकेली / पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट हुई है; इसलिए पूर्ण ज्ञानपुञ्ज हो गये हैं – ऐसा कहते हैं और यह आत्मा भी ऐसा ही है, अकेला ज्ञान का पुञ्ज है – ऐसा कहना है। चैतन्यघनपना, वह अपना / आत्मा का स्वभाव है, इसलिए सिद्धभगवान उसमें हैं – ऐसा कहना, वह निश्चय है और लोक शिखर पर है – ऐसा कहना, वह व्यवहार है।

सिद्धभगवान चैतन्यघनरूप ठोस चूड़ामणि हैं। अहा! चैतन्य में पोल / खाली जगह कहाँ है ? वह तो घन है। आत्मा के असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण का पिण्ड है कि जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं है तथा परक्षेत्र का भी प्रवेश नहीं है। सिद्धभगवान लोकाग्र में रहते हैं – ऐसा व्यवहार से भले ही कहो परन्तु उस लोकाग्र के क्षेत्र का सिद्धभगवान के आत्मा में प्रवेश नहीं है। अपने क्षेत्र में / आत्मा में सिद्धभगवान स्वयं ही है।

www.vitragvani.com



**निश्चय से वे देव, सहज परम चैतन्य–चिन्तामणिस्वरूप नित्यशुद्ध निजरूप में ही वास करते हैं।** सिद्धभगवान लोकाग्र में है, यह बात व्यवहार से थी। अब, कहते हैं कि निश्चय से वे देव / परमात्मा सिद्धभगवान सहज चैतन्य–चिन्तामणिस्वरूप, अर्थात् स्वाभाविक परम चैतन्यचिन्तामणिस्वरूप... अहा! 'क' बोलने में असंख्य समय व्यतीत होते हैं, उतने में तो एक समय जितने काल में समस्त लोकालोक ज्ञात हो जाएँ – ऐसी सामर्थ्यवाला चैतन्य–चिन्तामणि रत्न है और ऐसे सहज परम चैतन्य–चिन्तामणिस्वरूप नित्यशुद्ध निजरूप में ही निश्चय से वे देव वसते हैं, अर्थात् सिद्धभगवान की पर्याय, कायम नित्य स्वरूप में ही वसती है। निर्मल शुद्धस्वरूप है, उसमें वसती है – ऐसा कहते हैं।

दूसरे प्रकार से कहें तो सिद्धभगवान प्रति समय अपनी परम अनन्त अतीन्द्रिय आनन्ददशारूपी अमृत का भोजन करते हैं। देखो, उन्हें प्रति समय अतीन्द्रिय आनन्दामृत का भोग है – ऐसा कहते हैं। अज्ञानी बाहर में भगवान को भोग–थाल चढ़ाता है न! परन्तु वह भोग तो जड़ का है, यहाँ उसकी बात नहीं है; यहाँ तो अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभवरूप भोग सिद्ध परमात्मा को प्रगट हुआ है – ऐसा कहते हैं। ऐसे वे सिद्धभगवान नित्यशुद्ध निजरूप में ही वसते हैं। नित्यशुद्ध निजस्वरूप में ही सिद्धपरिणति वसती है।

इस प्रकार निश्चय से सिद्धभगवान निज स्वरूप में वसते हैं और व्यवहार से लोकाग्र में रहते हैं। व्यवहार से सिद्धभगवान लोकाग्र में है, यह कहना ठीक है क्योंकि वे लोकाग्र में है, परन्तु लोक में नीचे नहीं हैं; इसलिए व्यवहार अपेक्षा से यह बात सत्य है। इस प्रकार सिद्ध भगवान का आत्मा लोकाग्र में है – ऐसा कहना, वह व्यवहार है। निश्चय से तो वे अपने स्वरूप में ही है। निज अतीन्द्रिय मन्दिर में, अर्थात् अपनी निरावरण निर्मलदशा हुई, उसमें सिद्धभगवान वसते हैं।

अहा! आत्मा अरूपी होने पर भी महापदार्थ है। वह अरूपी तो उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है, इसलिए है; तथापि उस अरूपी आत्मा का अपना स्वरूप है, अर्थात् अरूपी आत्मा का रूप / स्वरूप है। देखो, अरूपी का भी रूप! परन्तु अरूपी होने पर भी आत्मा का कोई स्वरूप है या नहीं? जैसे, यह शरीर जड़स्वरूप है, उसी प्रकार इस अरूपी आत्मा का भी स्वरूप है, वह स्वरूपवाला पदार्थ है।

यहाँ कहा है कि विज्ञानघन चैतन्य–चिन्तामणि रत्न – ऐसे नित्य शुद्ध निजरूप में ही

www.vitragvani.com



सिद्धभगवान वसते हैं। यह उनका निश्चय क्षेत्र है और वे लोकाग्र में रहते हैं – ऐसा कहना, वह पर की अपेक्षा आने से व्यवहार है।

## कलश १०२ पर प्रवचन

**'अव्याबाधान्नमामि'** – अव्याबाध – ऐसे सिद्धभगवान के स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ।

**जो सर्व दोषों को नष्ट करके देहमुक्त होकर त्रिभुवनशिखर पर स्थित हैं....** देखो भाई! यहाँ तो सर्व सिद्धों को, सर्व दोषों का नाश करके सिद्ध हुए और अनादि से इसी प्रकार परम्परा चल रही है, यह कहते हैं।

**प्रश्न :** सिद्ध भगवान तो अनादि के हैं न? पहले सभी संसारी थे और फिर कोई सिद्ध हुए – ऐसे तो नहीं है न? तथापि यहाँ सिद्ध हुए – ऐसा क्यों कहा है?

**उत्तर :** भाई! एक-एक व्यक्ति की अपेक्षा तो यही कहा जाता है कि वे पहले संसारी थे और फिर सिद्ध हुए। उन्हें पहले संसारदशा थी ही नहीं – ऐसा नहीं है, परन्तु सामूहिक अपेक्षा से यह कहा जाता है कि अनन्त सिद्ध अनादि के हैं। पहले कोई सिद्ध नहीं थे और कोई पहले-पहले ही संसार का नाश सिद्ध करके सिद्ध हुए – ऐसा नहीं होता है। अनन्त सिद्ध भी अनादि के हैं और अनन्त संसारी भी अनादि के हैं। अनादि से ही संसारपना और सिद्धपना चला आया है; इस प्रकार 'कोई सिद्ध हुए' – ऐसा जब व्यक्तिगतरूप से कहें, तब तो यही कहा जाता है कि वे सर्व दोषों का नाश करके देहमुक्त हुए हैं। जो अन्तिम देह थी, उससे मुक्त होकर सिद्धभगवान त्रिभुवन शिखर पर स्थित हैं – तीन भुवन के शिखर पर स्थित हैं।

**जो निरुपम विशद (निर्मल) ज्ञान-दर्शनशक्ति से युक्त हैं....,** जिन्हें उपमा नहीं दी जा सकती – ऐसे निर्मल ज्ञान-दर्शन से सिद्धभगवान युक्त हैं / सहित हैं। अहा! सिद्धभगवान निरुपम विशद ज्ञान-दर्शन से सहित हैं परन्तु पर से सहित हैं – ऐसा नहीं हैं और देखो! निरुपम के उपरान्त निर्मल कहा है, अर्थात् जिसे उपमा नहीं प्राप्त हो – ऐसे निर्मल ज्ञान-दर्शन की शक्ति से सिद्धभगवान सहित हैं।

यह पर्याय की बात है। सामान्यरूप से ज्ञान-दर्शनरूप त्रिकाली शक्ति, वह गुण है परन्तु यहाँ ज्ञान-दर्शनशक्ति कही है, वह पर्याय की बात है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



**जिन्होंने आठ कर्मों की प्रकृति के समुदाय को नष्ट किया है...,**

**प्रश्न** – क्या भगवान कर्मों का नाश करते हैं ?

**उत्तर** – भाई ! व्यवहार से क्या कहा जाए ? उन्होंने आठ कर्मों की प्रकृति के समुदाय को, अर्थात् कर्म के स्वभाव के समुदाय को नष्ट किया है – ऐसा कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि सिद्ध भगवान ने अपना स्वभाव पूर्ण प्रगट किया है।

**जो नित्यशुद्ध हैं...,** देखो यहाँ भी फिर से आया कि सिद्धभगवान नित्यशुद्ध हैं। (कलश १०१ तथा गाथा ७२ में भी नित्यशुद्ध शब्द है।) सिद्धभगवान को निर्मलदशा प्रगट हुई है, वह कायम ऐसी की ऐसी रहती है; इसलिए नित्य शुद्ध है – यह कहा जाता है।

भाई ! '**व्ययरहित उत्पाद और उत्पादरहित व्यय**' – ऐसा श्रीप्रवचनसार गाथा १७ में आता है न! अहा! सिद्धपर्याय प्रगट हुई है, वह कैसी है ? वह 'व्ययरहित उत्पाद' है। जो सिद्धपर्याय प्रगट हुई, वह नित्य है क्योंकि वह उत्पाद, व्ययरहित है। अब, उस पर्याय का व्यय / नाश नहीं होगा तथा 'उत्पादरहित व्यय' है। संसार का नाश / व्यय हुआ, वह 'उत्पादरहित व्यय' है; इसलिए अब संसार का उत्पाद किस प्रकार होगा ? अब कभी संसार उत्पन्न नहीं होगा, अर्थात् संसार का उत्पाद नहीं होगा। अहा ! ऐसा हो तभी सिद्धपना कायम रहेगा न ! नित्य रहेगा न ! अहा ! ऐसे सिद्धभगवान हैं और तू भी सिद्धभगवान की जाति का है – ऐसा कहते हैं।

अरे ! ऐसा स्वरूप अन्यत्र कहाँ हैं ? अन्यत्र तो सब गप्प मारते हैं। कोई तो 'महावीर की वाणी और अन्य की वाणी' – ऐसा समन्वय करना चाहते हैं न! परन्तु भाई! जैनदर्शन कोई सम्प्रदाय नहीं है, अपितु विश्व-दर्शन है। जैसा विश्व का, अर्थात् आत्मा और जड़ का स्वरूप है – ऐसा उसने कहा है। यहाँ कहा है कि सिद्धभगवान को पर्याय प्रगट हुई, वह नित्यशुद्ध है।

**जो अनन्त हैं...** वह सिद्धपर्याय अनन्त है – ऐसी की ऐसी पर्याय अन्त आये बिना हुआ ही करेगी।

**अव्याबाध हैं....,** इस सिद्धपर्याय को कोई विघ्न करनेवाला नहीं है। देखो, सिद्धभगवान अव्याबाध है – ऐसा कहते हैं।

**प्रश्न –** सिद्ध को धर्मास्तिकाय ने रोका है या नहीं ?

**उत्तर –** नहीं; यदि सिद्ध को धर्मास्तिकाय ने रोका हो तो वे अव्याबाध नहीं रहेंगे।

**प्रश्न –** तो फिर वे लोकाग्र से आगे क्यों नहीं जाते?

**उत्तर –** भाई! सिद्धभगवान लोक का द्रव्य है, इसलिए लोक में ही रहते हैं। अलोक में किस प्रकार जाएँ। अहा! **लोकयन्ति इति लोकः** लोक ही उसे कहते हैं कि जहाँ छह द्रव्य दृष्टिगोचर होते हैं और जहाँ छह द्रव्य नहीं हैं, किन्तु एक आकाश है, उसका नाम अलोक है। तात्पर्य यह है कि सिद्धभगवान, लोक की वस्तु है, इसलिए लोक में रहती है परन्तु अलोक में नहीं जाती। अहा! ऐसी बात देखो तो सही! सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो वस्तु की स्थिति का वर्णन किया है – ऐसी वस्तुस्थिति अन्यत्र कहीं नहीं है। भले ही अज्ञानी बड़ी-बड़ी बातें करता है और लाखों मनुष्य इकट्ठे होते हैं तो भी उसमें कुछ भी नहीं है। अहा! सत्य तो यह है।

**'त्रिभुवनतिलकान्' – तीन लोक में प्रधान हैं** ...सिद्धभगवान तीन लोक के तिलक हैं, अर्थात् वे लोकाग्र में विराजमान हैं।

**'सिद्धिसीमन्तिनीशान्' – और मुक्तिसुन्दरी के स्वामी हैं...** मुक्तिरूपी सुन्दरी, अर्थात् पूर्ण पवित्र ज्ञान-आनन्द की दशा – ऐसी जो सिद्धपर्याय है, उसके सिद्धभगवान स्वामी हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्धभगवान अपनी निर्मलपर्याय के स्वामी हैं।

**प्रश्न –** सिद्धभगवान लोक के नाथ / स्वामी कहलाते हैं न?

**उत्तर –** भाई! यह तो सिद्धभगवान लोक को जानते हैं, इसलिए लोक के नाथ कहलाते हैं; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, अर्थात् वे वास्तव में लोक के नाथ नहीं हैं। 'नमोत्थुणं' में आता है कि '**लोगनहाणं लोग ही आणं, लोग पइवाणं, लोग पज्जोअगणां, अभेदयाणं, चक्खुवियाणं, मग्गदयाणं....**' इत्यादि बहुत विशेषण उसमें हैं। उसमें तो बहुत भरा है परन्तु उसके अर्थों का पता नहीं है। यद्यपि हम तो इन सबके अर्थ सम्प्रदाय में करते थे।

**उन सर्व सिद्धों को सिद्धि की प्राप्ति के हेतु मैं नमन करता हूँ।** देखो, कहते हैं कि मैं भगवान को नमस्कार करता हूँ, उससे मुझे सिद्धि प्राप्त होगी।

**प्रश्न –** सिद्ध को नमस्कार करना तो विकल्प है तो उससे सिद्धि किस प्रकार प्राप्त होगी?

**उत्तर –** भाई! यह बात तो व्यवहार से है। मोक्षशास्त्र के मङ्गलाचरण में भी आता है कि **वन्दे तद्गुणलब्ध्ये –** हे भगवान! आपके गुणों की प्राप्ति के लिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ – परन्तु यह तो व्यवहार से ऐसी ही बात करते हैं। वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि हे भगवान!

www.vitragvani.com



आपकी जो दशा है, वह मुझे अन्तर में से प्रगट करनी है। अहा! भगवान को वन्दन करने के विकल्प से कहीं निर्मलदशा प्रगट होती है – ऐसा नहीं है। भाई! यह तो श्रीसमयसार, कलश ३ में कहा है कि यह टीका करने से मेरी शुद्धि बढ़ जाओ। अब, टीका करने से शुद्धि बढ़ जाओ – ऐसा कहा तो है परन्तु यह टीका करने में तो विकल्प है, तो क्या विकल्प से शुद्धि बढ़ेगी? नहीं, परन्तु समझाना है तो वहाँ क्या लिखें? इसलिए आचार्यदेव जो लिखते हैं, वह सत्य है। आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि यह टीका लिखते समय भी मेरा आश्रय तो अन्तर में चैतन्य की तरफ ही है, मुझे चैतन्य का ही आश्रय वर्तता है, इसलिए चैतन्य के आश्रय की उग्रता में से अशुद्धता मिट जाओ और शुद्धता बढ़ जाओ।

लोगस्ससूत्र में चौबीस तीर्थङ्कर की स्तुति में भी '**सिद्धा सिद्धिं मम विसन्तु**' ऐसा आता है न। हे सिद्ध भगवान! मुझे सिद्धि प्रदान करो, इसका अर्थ यह है कि मैं केवलज्ञान प्रगट करूँगा, तब मुझे सिद्धि प्राप्त होगी।

यहाँ कहते हैं कि 'उन सर्व सिद्धों को सिद्धि की प्राप्ति के लिए / मुक्ति की प्राप्ति के लिए मैं नमस्कार करता हूँ' मैं वन्दन करता हूँ। मेरा प्रयोजन / मेरा हेतु यह कि अपने स्वभाव का आश्रय लेकर पूर्णता की प्राप्ति करूँ, परन्तु कहीं आपको वन्दन करने का विकल्प है, इससे मुझे पूर्णता होगी – यह मेरा हेतु / अभिप्राय नहीं है। भगवान को वन्दन के विकल्प के काल में भी मेरा आश्रय तो स्वचैतन्य पर ही है और वह आश्रय बढ़कर मुक्ति की प्राप्ति होगी – यह मेरा हेतु है और इसलिए मैं आपको वन्दन करता हूँ – ऐसा कहते हैं।

**शङ्का** – सिद्ध भगवान को नमस्कार तो परद्रव्य को नमस्कार है और परद्रव्य को नमस्कार तो विकल्प है तो फिर इससे मुक्ति कैसे होगी?

**समाधान** – भाई! सिद्ध को नमस्कार, वह विकल्प ही है, राग है परन्तु उस समय स्व के आश्रय का जोर करके मैं मुक्ति प्राप्त करूँ – यही मेरी अभिलाषा है। इसके अतिरिक्त कहीं राग में अटकूँ अथवा राग का फल मुझे प्राप्त हो – ऐसी अभिलाषा नहीं है, ऐसा मुनिराज कहते हैं। अहा! किसी को ऐसा लगता है कि यह वीतराग की वाणी तो अद्‌भुत है, व्यवहार से कुछ वर्णन और निश्चय से कुछ वर्णन करते हैं। भाई! तभी तो दो नय विरोधी हुए न! वरना दो नय ही नहीं रहेंगे।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

## कलश १०३ पर प्रवचन

**जो निज स्वरूप में स्थित हैं,** – सिद्ध भगवान अपने आनन्दादि अनन्त गुणों की निर्मल परिणति में स्थित हैं।

**जो शुद्ध हैं;** सिद्ध परमात्मा परिपूर्ण पवित्र है।

**जिन्होंने आठ गुणरूपी सम्पदा प्राप्त की है** – क्षायिकसमकित अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुणरूप पर्याय प्राप्त की हैं।

**और जिन्होंने आठ कर्मों का समूह नष्ट किया है, उन सिद्धों को मैं पुनः पुनः वन्दन करता हूँ।**

'णमो सिद्धाणं' – ऐसे सिद्ध भगवान को पहचान कर मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ – ऐसा टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं। ●●

## मुनिदशा का त्रैकालिक शाश्वत् नियम

अनादि-अनन्त सन्तों की ऐसी ही दशा है कि अन्तर में एकदम वीतरागता होती है और बाहर में वस्त्र का एक धागा भी नहीं होता। शरीर पर वस्त्र का एक धागा भी रखने का लक्ष्य हो और छठवें-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा टिकी रहे – ऐसा तीन काल, तीन लोक में नहीं हो सकता। यह मार्ग किसी की कल्पना नहीं है।

आत्मा के भानपूर्वक लंगोटीरहित (नग्न दिगम्बर) मुनिदशा हो – ऐसा सनातन अनादि वस्तु स्वभाव का/पर्याय का धर्म है। इस पर्याय को अन्यथा माननेवाले ने मुनिदशा अथवा वस्तुस्वभाव को नहीं जाना है। यद्यपि आत्मा, वस्त्र के ग्रहण-त्याग का कर्ता नहीं है, तथापि जब आत्मा में तीन कषाय चौकड़ी के नाशरूप वीतरागी चारित्रदशा प्रगट होती है, तब सहजरूप से राग और वस्त्र का अभाव हुए बिना नहीं रहता – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। *( - पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ २४८ )*

## गाथा ७३

**पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।**
**धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति॥ ७३॥**

**पंचाचारसमग्राः पंचेन्द्रियदंतिर्प्पनिर्दलनाः।**
**धीरा गुणगंभीरा आचार्य्या ईदृशा भवन्ति॥ ७३॥**

**हैं धीर गुण गंभीर अरु परिपूर्ण पंचाचार हैं।**
**पंचेन्द्रि-गज के दर्प-उन्मूलक निपुण आचार्य हैं॥ ७३॥**

**गाथार्थ :** पञ्चाचारों से परिपूर्ण, पञ्चेन्द्रियरूपी हाथी के मद का दलन करनेवाले, धीर और गुणगम्भीर – ऐसे आचार्य होते हैं।

**टीका :** यहाँ आचार्य का स्वरूप कहा है।

[भगवन्त आचार्य कैसे होते हैं ?] (१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य नामक पाँच आचारों से परिपूर्ण; (२) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नाम की पाँच इन्द्रियोंरूपी मदान्ध हाथी के दर्प का दलन करने में दक्ष (पञ्चेन्द्रियरूपी मदमत्त हाथी के मद को चूरचूर करने में निपुण); (३-४) समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते हैं, इसलिए धीर और गुणगम्भीर – ऐसे लक्षणों से लक्षित, वे भगवन्त आचार्य होते हैं।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री वादिराजदेव ने कहा है कि —

(शार्दूलविक्रीडित)

**पंचाचारपरान्नकिंचनपतीन्नष्टकषायाश्रमान्**
**चंचज्ज्ञानबलप्रपंचितमहापंचास्तिकायस्थितीन्**
**स्फाराचंचलयोगचंचुरधियः सूरीनुदंचद्गुणान्**
**अंचामो भवदुःखसंचयभिदे भक्तिक्रियाचंचवः॥**

www.vitragvani.com



(वीरछन्द)

**पञ्चाचार परायण नष्ट कषायस्थान, अकिञ्चन हैं।**
**ज्ञान परिणमन द्वारा जो पञ्चास्तिकाय समझाते हैं॥**
**विपुल अचंचल योग निपणुमति आचार्यों को गुण उछलें।**
**भक्ति क्रिया में कुशल हुए हम भवभय भेदन को पूजें॥**

**श्लोकार्थ :** जो पञ्चाचारपरायण हैं, जो अकिंचनता के स्वामी हैं, जिन्होंने कषायस्थानों को नष्ट किया है, परिणमित ज्ञान के बल द्वारा जो महा पञ्चास्तिकाय की स्थिति को समझाते हैं, विपुल अचञ्चल योग में (विकसित स्थिर समाधि में) जिनकी बुद्धि निपुण है और जिनको गुण उछलते हैं, उन आचार्यों को भक्तिक्रिया में कुशल ऐसे हम, भवदुःखराशि को भेदने के लिये पूजते हैं।

और इस ७३ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(हरिणी)

**सकलकरणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं**
**स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम्।**
**शमदमयमावासं मैत्रीदयादममंदिरं**
**निरुपममिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः॥ १०४॥**

(हरिगीतिका)

**जो सकल इन्द्रियग्राम के आलम्बनों से मुक्त हैं।**
**जो हैं अनाकुल स्वहितरत निर्वाण कारण हेतु हैं॥**
**शम दम दया मैत्री तथा यम आदि गुण जिसमें रहें।**
**श्री चन्द्रकीर्ति मुनीश का निरुपम हृदय मम वन्द्य है॥**

**श्लोकार्थ :** सकल इन्द्रियसमूह के आलम्बनरहित, अनाकुल, स्वहित में लीन, शुद्ध, निर्वाण के कारण का कारण (मुक्ति के कारणभूत शुक्लध्यान का कारण), शम-दम-यम[१] का निवासस्थान, मैत्री-दया-दम का मन्दिर (घर) - ऐसा यह श्रीचन्द्रकीर्तिमुनि का निरुपम मन (चैतन्यपरिणमन) वन्द्य है।

१. शम = शान्ति; उपशम। दम = इन्द्रियादि का दमन; जितेन्द्रियता। यम = संयम।

www.vitragvani.com



## गाथा ७३ पर प्रवचन

यह नियमसार सिद्धान्त शास्त्र है। इसमें व्यवहारचारित्र अधिकार चल रहा है। जैनदर्शन में / वीतरागमार्ग में पञ्च परमेष्ठी कैसे होते हैं ? उनका यह वर्णन है। उसमें अरहन्त और सिद्ध का वर्णन आ गया है। अब, इस ७३ वीं गाथा में आचार्य का वर्णन करते हैं।

**यहाँ आचार्य का स्वरूप कहा है।**

**[ भगवन्त आचार्य कैसे होते हैं ? ]** जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव के शासन में आचार्य का स्वरूप कैसा होता है ? – उसका यहाँ वर्णन करते हैं।

**( १ ) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य नामक पाँच आचारों से परिपूर्ण...** यह ज्ञान, अर्थात् निश्चय ज्ञान। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपी है, उसका ज्ञान होना, अर्थात् अन्तर से ज्ञान का शुद्ध परिणमन प्रगट होना, वह ज्ञानाचार है। दर्शनाचार, अर्थात् सम्यग्दर्शन का शुद्ध परिणमन प्रगट होना। चारित्राचार, अर्थात् आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में रमणतारूप चारित्र। आत्मा की अन्तर रमणतारूप चारित्र प्रगट होना, वह चारित्राचार है। तपाचार, अर्थात् शुद्ध आनन्दादि की विशेष शोभित निर्मलदशा / परिणति होना। वीर्याचार, अर्थात् जो बल आचाररूप परिणमित हो रहा है। जो वीर्य पुण्य-पाप के रागरहित शुद्धस्वरूप की रचना करता है, अर्थात् शुद्ध शक्ति के सत्व का परिणमन करने में जो वीर्य समर्थ हुआ है, वह वीर्याचार है। इन पाँच आचारों से आचार्य परिपूर्ण होते हैं।

देखो, जैनदर्शन में आचार्यों का अन्तरङ्ग स्वरूप ऐसा होता है। बाह्य में भी उन्हें पञ्चाचाररूप विकल्प होता है, उनकी दशा नग्न-दिगम्बर होती है और वे जङ्गल में बसते हैं – ऐसा तीनों काल में जिनशासन के आचार्यों का अन्तर और बाह्य स्वरूप है।

**( २ ) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नाम की पाँच इन्द्रियोंरूपी मदान्ध हाथी के दर्प का दलन करने में दक्ष ( पञ्चेन्द्रियरूपी मदमत्त हाथी के मद को चूरचूर करने में निपुण )...** मानों कि हाथी मद में आया हो, इसी प्रकार अज्ञानी को पाँच इन्द्रियों का मद होता है। उस मद का दलन करने में आचार्य दक्ष है, अर्थात् मद को चूर-चूर करने में निपुण हैं। अहा ! आचार्य को अतीन्द्रिय आनन्द उग्ररूप से परिणमित हुआ है, उसके द्वारा वे पाँच इन्द्रियों के विषय को जीतते हैं, अर्थात् विषयों की ओर की विकल्पदशा उत्पन्न नहीं होती और उसे ही

www.vitragvani.com



पाँच इन्द्रियोंरूपी मदान्ध हाथी के मद का चूर-चूर करने में निपुण कहा जाता है। दूसरे प्रकार से कहें तो रागरहित निर्विकल्प आनन्द की दशा में रमते-रमते, अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति में झूलते-झूलते आचार्य ने पाँचों इन्द्रिय के मद का नाश किया है।

अहा! आत्मा को इस शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह तो जड़-मिट्टी है परन्तु अन्दर भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्दस्वरूप है। उसका जिसे परिणमन हुआ है, अर्थात् जिसे अतीन्द्रिय आनन्द की अवस्था उग्ररूप से परिणमित हुई है, वे आचार्य उस परिणमन से पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतते हैं - ऐसा कहते हैं।

**( ३-४ ) समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते हैं, इसलिए धीर और गुणगम्भीर...** समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते होने से धीर हैं - यह तीसरा बोल है। आचार्य की आत्मा में इतनी शान्ति, अविकारी दशा और निर्दोष पवित्रता प्रगट हुई है कि वे घोर उपसर्ग पर भी विजय प्राप्त करते हैं।

अरे! प्रतिकूलता के अनन्त समूह आवें तो भी उनके प्रति 'यह ठीक नहीं है' - ऐसा विकल्प उन्हें नहीं होता और वे आनन्द में रमते हैं। देखो, इन्हें आचार्य कहते हैं। **णमो आयरियाणं** - ऐसा नमस्कार मन्त्र में आता है न! यद्यपि वास्तव में तो **णमो लोए सव्व आयरियाणं** है, अर्थात् ढाई द्वीप में जैनदर्शन के आचार्य ऐसे ही होते हैं, उन्हें नमस्कार।

अब चौथा बोल — आचार्य गुण-गम्भीर हैं। उनके गुण की दशा इतनी गम्भीर है कि साधारण जीव उसका माप नहीं कर सकता - ऐसी आचार्य की दशा है। अतीन्द्रिय आनन्दपूर्वक निर्मल ज्ञान, श्रद्धा, शान्ति इत्यादि ऐसी दशाएँ प्रगट हुई हैं, उनके कारण वे गुण-गम्भीर हैं। देखो, जैनदर्शन के आचार्य का ऐसा स्वरूप है।

— **ऐसे लक्षणों से लक्षित, वे भगवन्त आचार्य होते हैं।** टीका में आचार्य के लिए भगवन्त शब्द का प्रयोग किया है। टीका के प्रारम्भ में भगवन्त शब्द कोष्ठक में डाला था, परन्तु यह तो टीका के पाठ में ही भगवन्त शब्द आया है कि 'वे भगवन्त आचार्य होते हैं।'

अब, श्री वादिराजदेव का आधार देते हैं —

कैसे होते हैं जैन के आचार्य? **जो पञ्चाचारपरायण हैं...** अन्तर के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य - इन पाँच आचारों में, अर्थात् पुण्य-पाप के रागरहित अन्दर के शुद्ध आचरण में

www.vitragvani.com



जो तत्पर हैं। आनन्द के धाम – ऐसे भगवान आत्मा के पञ्च आचार में आचार्य तत्पर हैं। देखो, पञ्चाचार, वह आत्मा का आचरण है और उसमें आचार्य तत्पर हैं, अर्थात् वीतरागी परिणति में तत्पर हैं, यह कहना है।

**.... जो अकिञ्चनता के स्वामी हैं....** जिन्हें परिग्रह का एक अंश-राग का अंश अथवा वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं है – ऐसे जैन के आचार्य भगवान, भगवान ने वर्णन किया है। अहा! अकिञ्चितता के स्वामी कहने से उन्हें बाह्य में नग्नदशा होती है और अन्दर में राग का कण भी नहीं होता है।

**.... जिन्होंने कषायस्थानों को नष्ट किया है....** शुभ-अशुभरागरूप कषाय, अर्थात् विकारभाव है, उसका जिन्होंने नाश कर दिया है और जो वीतरागपरिणति में झूलते हैं।

**....परिणमित ज्ञान के बल द्वारा जो महा पञ्चास्तिकाय की स्थिति को समझाते हैं....** कहते हैं कि इस जगत् में पञ्चास्तिकाय हैं। एक काल द्रव्य के अतिरिक्त जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश – ऐसे पाँच अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य की अस्ति है परन्तु काय (बहुप्रदेशी) नहीं है। तात्पर्य यह है कि अस्तिकाय में कालद्रव्य को नहीं गिना है। ऐसे पञ्चास्तिकाय का स्वरूप, परिणमते हुए ज्ञान के बल से आचार्य समझाते हैं, अर्थात् वे अकेली धारणा से नहीं समझाते हैं – ऐसा कहते हैं।

अहा! आचार्यदेव को भगवान आत्मा के आश्रय से अन्दर ज्ञान में वीतरागी परिणमन हो गया है और उस परिणमते हुए ज्ञान के बल से वे पञ्चास्तिकाय का स्वरूप समझाते हैं। वे कोई अकेली बात करने बैठे हैं – ऐसा नहीं है तथा जिस प्रकार भगवान ने पञ्चास्तिकाय कहे हैं, उनकी अकेली धारणा की है और आचार्यदेव कहते हैं – ऐसा भी नहीं है, परन्तु जगत् में पञ्चास्तिकाय हैं – ऐसा अन्दर ज्ञान में परिणमन हो गया है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप, चिदानन्दस्वरूप आत्मा के ज्ञान का परिणमन अन्दर हो गया है और उस परिणमन के बल से आचार्यदेव, पञ्चास्तिकाय का कथन करते हैं – ऐसा कहते हैं। देखो, उन्होंने भगवान से सुना है परन्तु मात्र सुनकर ही कहते हैं – ऐसा नहीं है परन्तु शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा के अवलम्बन से उनकी दशा पवित्र हो गयी है और उस दशा के परिणमनपूर्वक वे पञ्चास्तिकाय का कथन करते हैं।

देखो, 'महा पञ्चास्तिकाय' – ऐसी भाषा का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि जिसका

www.vitragvani.com



कहीं अन्त नहीं है - ऐसा लोकालोकमय आकाश, वह आकाश अस्तिकाय है। एक-एक जीव असंख्य प्रदेशी है और ऐसे अनन्त आत्माएँ, वे जीवास्तिकाय हैं; जीव से अनन्तगुणे परमाणु हैं, वे पुद्गलास्तिकाय हैं तथा धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय हैं - ऐसी महा पञ्चास्तिकाय की मर्यादा / स्थिति है और उसे आचार्यदेव समझाते हैं। अहा! जगत् में एक ही आत्मा है अथवा अनन्त आत्माएँ ही हैं - ऐसा नहीं है परन्तु जगत् में अनन्त आत्माएँ हैं, अनन्त परमाणु हैं, एक धर्मास्तिकाय है, एक अधर्मास्तिकाय है और एक आकाश है - ऐसे पाँच अस्तिकाय जगत् में हैं। अस्ति, अर्थात् है और काय, अर्थात् बहुत प्रदेशों का समूह। अरे! लौकिक से यह भाषा भी अलग प्रकार की है - ऐसा स्वरूप है।

यहाँ कहा है कि जिनका ज्ञानस्वरूप अन्दर वीतरागभावरूप परिणमित हो गया है, वे आचार्यदेव, ज्ञान के परिणमन के बल से आकाशादि महा पञ्चास्तिकाय की स्थिति समझाते हैं, क्योंकि वे आचार्य हैं न!

**....विपुल अचञ्चल योग में ( विकसित स्थिर समाधि में ) जिनकी बुद्धि निपुण है....** विपुल अचञ्चल योग कहने से विकसित स्थिर आनन्दमय समाधि, अर्थात् अकषाय शान्ति। कहते हैं कि वीतरागभाव में / शान्ति के परिणमनरूप समाधि में / आनन्दमय शान्तिरूप समाधि में जिनकी बुद्धि निपुण है.... यह समाधि, अर्थात् बाहर के बाबा और जोगी समाधि लगाते हैं, उसकी बात नहीं है। लोगस्ससूत्र में भी आता है कि 'समाहिवरमुत्तं विन्तु' - परन्तु इसका अर्थ किसे आता है? क्रियाकाण्डी तो कहते हैं कि अर्थ भगवान जाने। 'समाहिवरमुत्तं विन्तु' का अर्थ क्या है? कि हे भगवान! मुझे उत्तम समाधि प्रदान करो।

वह कौन-सी समाधि? बाहर के बाबा करते हैं वह समाधि? नहीं; यहाँ तो आधि-व्याधि-उपाधि से रहित आत्मा की वीतराग शान्ति को समाधि कहते हैं। आधि, अर्थात् मन के सङ्कल्प-विकल्प; व्याधि, अर्थात् शरीर के रोग और उपाधि, अर्थात् संयोग - इन तीनों से ही रहित आत्मा में शान्त... शान्त... शान्त... दशा प्रगट हो तो उसे समाधि कहते हैं। समाधि प्रगट होने पर तो आत्मा में शान्ति का समुद्र उछलता है - ऐसा कहते हैं। इसलिए तो देखो न! विकसित अचञ्चल योग हुआ - यह कहा है।

अहा! विपुल, अर्थात् विकसित स्थिर समाधि में आचार्य की बुद्धि निपुण है। तात्पर्य यह है कि ऐसी समाधि में आचार्य चतुर हैं, निपुण हैं और वे परम आनन्दमय शान्ति में झूलते हैं।

www.vitragvani.com



**.... और जिनको गुण उछलते हैं....** आचार्य को आत्मा के अनन्त गुण हैं, वे उछलते हैं, पर्याय में परिणमित होते हैं। जिस प्रकार समुद्र में अन्दर से पानी उछल कर ज्वार आता है, उसी प्रकार आचार्य को अन्तर में अनन्त गुणरूपी समुद्र भरा है, वह उछलता है। अन्तर अनुभव के - दृष्टि के जोर से अनन्त-अनन्त आनन्दादि गुणों की दशाएँ उछलती है। भाई! अद्‌भुत बात है!

अहा! आचार्य को गुणरूपी समुद्र उछलता है। प्रत्येक भगवान आत्मा में अनन्तानन्त गुण हैं और वे अनन्तानन्त गुण, आचार्य को उछलते हैं। आचार्य की पर्याय में अनन्त गुणों की बाढ़ आती है। यह क्या होगा? - ऐसा अज्ञानी को लगता है - परन्तु भाई! तुझे अनादि से वस्तुस्वरूप का पता नहीं है।

यह चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, अनन्त ज्ञान-आनन्द और शान्ति से भरपूर तत्त्व है - ऐसे तत्त्व का जहाँ अनुभव किया और उसमें एकाग्र हुआ तो अनन्त शक्तियाँ / गुण, पर्याय में उछलते हैं। देखो, ऐसी बातें हैं। अहा! एक ज्ञानमात्र भाव में दूसरी अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं - ऐसा सैतालीस शक्तियों की चर्चा में आता है। शुद्ध चैतन्यद्रव्य का आश्रय लेने पर ज्ञान का सम्यक् परिणमन हुआ, वहाँ, अर्थात् सम्यग्ज्ञान का परिणमन होने पर अनन्त गुणों की पर्याय, ज्ञान की पर्याय के साथ उछलती है, अर्थात् आती हैं, परन्तु धर्मी को पुण्य-पाप का राग नहीं आता, नहीं उछलता।

अहा! आचार्य को गुण उछलते हैं, जबकि अज्ञानी को विकार उछलता है। उसे पुण्य-पाप के भाव उछाला मारते हैं और उनमें अन्धा होकर पड़ा है।

**प्रश्न** - पड़ा है, अर्थात् क्या?

**उत्तर** - पड़ा है, अर्थात् अज्ञानी, रागादि में जुड़ता है, एकाकार होता है; जबकि ज्ञानी अन्दर आनन्द में एकाकार होता है।

**उन आचार्यों को भक्तिक्रिया में कुशल ऐसे हम भवदुःखराशि को भेदने के लिए पूजते हैं।** वीतरागमार्ग में ऐसे आत्म-अनुभवी आचार्यों को भक्तिक्रिया में कुशल ऐसे हम पूजते हैं। यह टीका करनेवाले श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं मुनि हैं, वे भी श्री वादिराजदेव के साथ कहते हैं कि ऐसे जैन के आचार्य होते हैं, उन्हें भक्तिक्रिया में कुशल ऐसे हम पूजते हैं। देखो, यह कहते हैं कि भक्ति क्रिया में कुशल ऐसे हम.... आशय यह है कि ऐसे आचार्यों की भक्ति करने में हम

www.vitragvani.com



कुशल हैं। मुनिराज कहते हैं कि हमें पता है कि आचार्य ऐसे होते हैं और उनका बहुमान करने में हम कुशल हैं, चतुर हैं, निपुण हैं।

**प्रश्न** – मुनिराज, राग में चतुर हैं ?

**उत्तर** – उस समय भले ही बहुमान–भक्ति का विकल्प–राग हो, परन्तु हम तो आचार्य के गुण को वन्दन करने में चतुर हैं – ऐसा मुनिराज को कहना है। अहा! आचार्य की भक्ति करनेवाले यह मुनि श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव हैं, वे भी भावलिङ्गी सन्त हैं, उन्हें प्रचुर आनन्द उछल रहा है। अहा! सच्चा मुनि तो उन्हें कहते हैं कि जिन्हें प्रचुर आनन्द उछल रहा है। इसके अतिरिक्त कोई वस्त्र बदलकर बैठ जाए, इसलिए मुनि हो गया – ऐसा नहीं है। भाई! सूक्ष्म बात है। यह मुनि स्वयं कहते हैं कि अहो! जैन में ऐसे आचार्य हैं।

**प्रश्न** – श्री वादिराजदेव आचार्य हैं, इसलिए आचार्य, आचार्य के विषय में कहेंगे ही न ?

**उत्तर** – हाँ; परन्तु यह तो मुनिराज, आचार्य के विषय में कहते हैं – ऐसा कहना है, क्योंकि टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो मुनि हैं न! यद्यपि यह श्री वादिराजदेव आचार्य हैं, तथापि इस शास्त्र के टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं, वे स्वयं आधार देते हैं, इसलिए मुनिराज, आचार्य के विषय में कहते हैं – यह कहना है। मुनिराज, आचार्य का आधार देकर कहते हैं कि हम भी आचार्य को वन्दन करते हैं; जो पूर्व में हो गये हैं – ऐसे श्री वादिराजदेव आचार्य भी आचार्यों को वन्दन करते हैं तो हम (मुनि भी) आचार्य को वन्दन करते हैं।

'हम भवदु:खराशि को भेदने के लिए पूजते हैं...।'

**प्रश्न** – क्या भक्ति से भवदु:ख का भेदन होता है ?

**उत्तर** – व्यवहार कथन में तो ऐसा ही आता है, व्यवहार से कथन क्या आयेगा ? अहा! मुनि, आचार्य के विषय में अथवा आचार्य, आचार्य के विषय में कहते हैं कि ऐसे सन्तों को भवदु:खराशि का भेदन करने के लिए हम पूजते हैं। यह भव के दु:ख, अर्थात् सम्पूर्ण संसार की चारों गति की जाल... स्वर्ग और नरकादि के भव भी दु:खजाल है, उसे नष्ट करने के लिए हम आचार्यों को वन्दन करते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं। 'भवदु:खराशि को भेदन करने के लिए' – ऐसा कहने से कहीं नरक और तिर्यञ्च के भवदु:खराशि को भेदने के लिए – ऐसा अर्थ नहीं है परन्तु सम्पूर्ण चारों गति के भवदु:ख की राशि का अभाव करने के लिए हम पूजते हैं।

अहा! भवदु:खराशि, अर्थात् भव के दु:ख का ढेर। चौरासी लाख योनि के अवतार में दु:ख है। भाई! देव भी दु:खी हैं, राजा भी दु:खी हैं और ये सेठिया भी दु:खी हैं। सभी राग के भिखारी / विकार के अभिलाषी दु:खी हैं, सुखी तो एक वीतराग मुनि है। 'एकान्त होई सुखी मुनि वीतरागी' – ऐसा आता है न! परन्तु वे वीतरागी मुनि हों।

**प्रश्न** – इसमें ऐसा लिखा है ?

**उत्तर** – हाँ, यहाँ भी यही बात आती है। देखो, यह क्या कहा है ? कि आचार्य अकिञ्चिनता के स्वामी हैं। अन्तर में भी अकिञ्चनता और बाहर में भी अकिञ्चनता – दोनों प्रकार से अकिञ्चिनता है। अहो! उनका धन्य अवतार है, उन्होंने अवतार सफल किया है। अहा! जिन्होंने अन्तर में चारित्रस्वरूप प्रगट किया है, अर्थात् जिन्हें अन्तर में चारित्र परिणमित हो गया है और बाह्य में नग्नदशा हुई है तथा जिन्हें सम्पूर्ण दुनिया की दरकार नहीं है, उन्होंने अवतार सफल किया है। भक्त कहते हैं कि ऐसे आत्मा को हम पूजते हैं।

देखो, आचार्यश्री वादिराजदेव भी आचार्य के भक्त हैं तथा मुनिश्री पद्मप्रभमलधारिदेव भी आचार्य के भक्त हैं। वे कहते हैं कि भवदु:खराशि को भेदने के लिए हम आचार्य को पूजते हैं। अहा! भाषा तो यही आयेगी न! देखो न! **वन्दे तदगुणलब्ध्ये** में भी यह आता है कि आपके गुणों की प्राप्ति के लिए मैं वन्दन करता हूँ। इसका अर्थ यह है कि अन्दर में हमारा भाव, गुण की प्राप्ति का है। भले ही उस समय अन्दर में विकल्प है परन्तु उसे प्राप्त नहीं करना है। इस प्रकार श्रीवादिराज आचार्य ने स्वयं अपनी बात की और साथ ही यह भी कहा कि ऐसे आचार्य हों, उन्हें मैं वन्दन करता हूँ।

## कलश १०४ पर प्रवचन

आधार के श्लोक में आचार्य ने आचार्य को नमन किया। अब, टीकाकार मुनि स्वयं 'मेरे गुरु को वन्दन करता हूँ' – ऐसा कहकर अपने गुरु को – आचार्य को वन्दन करते हैं। देखो, इसका अर्थ यह हुआ कि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव को अपने गुरु, जो कि आचार्य हैं, वे ऐसे हैं; इस प्रकार ज्ञान में निश्चित हो गया है। अन्दर कलश में ही है कि **'वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः'।** मनः, अर्थात् चैतन्य परिणति। मेरे गुरु को / आचार्य को वीतरागपरिणति परिणमित हो गयी है – ऐसा ज्ञान में निश्चित करके ऐसे मेरे गुरु को–आचार्य को मैं वन्दन करता हूँ, यह कहते हैं। अहो! देखो मुनि भी कैसे पके हैं ? कि उनके आचार्य ऐसे हैं। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि कहते हैं कि हमने

www.vitragvani.com



अपने गुरु को पहचाना है, उन्हें चैतन्य का परिणमन हुआ है, वीतरागदशा प्रगट हुई है। अहा! वह दशा कैसी है? तो कहते हैं कि —

**सकल इन्द्रियसमूह के आलम्बनरहित.....** श्री पद्मप्रभमलधारिदेव अपने गुरु / आचार्य श्रीचन्द्रकीर्तिदेव के विषय में कहते हैं कि सकल इन्द्रियसमूह के आलम्बनरहित उनका परिणमन है, अर्थात् उन्हें अन्तर में वीतरागी निर्दोष आनन्द का परिणमन है। अहा! जिस अवस्था को इन्द्रिय समूह के अवलम्बन का अभाव है - ऐसी अतीन्द्रिय स्वभाव के अवलम्बनरूपी दशा-–अवस्था हमारे गुरु को प्रगट हुई है।

कैसा है हमारे गुरु का परिणमन? वे **.... अनाकुल...** हैं - आनन्दरूप हैं।

**प्रश्न** – क्या श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने दूसरे मुनि / गुरु के ज्ञान की बात जान ली?

**उत्तर** – हाँ; दूसरे मुनि की ज्ञान परिणति ज्ञात होती है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

**प्रश्न** – वह तो केवलज्ञान हो, तब ज्ञात होती है न?

**उत्तर** – यहाँ तो अभी जानते हैं, यह कहते हैं।

**प्रश्न** – अभी, अर्थात् क्या पञ्चम काल में जानते हैं?

**उत्तर** – हाँ, पञ्चम काल में जानते हैं। देखो, हमारे गुरु की परिणति शुद्ध है - ऐसा हमने जान लिया है, यह यहाँ कहते हैं क्योंकि अन्दर स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुए स्व-परप्रकाशक ज्ञान का बल है; इसलिए उस बल के द्वारा हमारे आचार्य महाराज ऐसे थे, उनका परिणमन ऐसा चैतन्यमय था, यह हमने जान लिया है और उनका ऐसा चैतन्यमय परिणमन है, उसे मैं वन्दन करता हूँ। जबकि पञ्च महाव्रतादि का विकल्प राग है, वह कोई मुनिपना नहीं है, चारित्र नहीं है; इसलिए वह वन्दन करने योग्य नहीं है, वन्दनीय नहीं है। अद्भुत बात है!

अहा! भगवान आत्मा, शुद्ध और आनन्दमय परिणमनरूप - अवस्थारूप उग्ररूप से परिणमित हो, वह चारित्र है और वह चारित्र, वन्दनीय है। इसके अतिरिक्त बाह्य में नग्नपना हो, वह कोई वन्दनीय है। हाँ, निमित्तरूप से ऐसी वस्तु, अर्थात् नग्नपना हो परन्तु वह जड़ की दशा होने से वन्दनीय नहीं है।

यहाँ कहा है कि जो अन्तर में उतरे हुए हैं, अर्थात् गहरे-गहरे अन्तर में जाकर जिन्होंने

www.vitragvani.com



चैतन्य का पता लगा लिया है, उनकी वीतरागी परिणति / दशा अनाकुल है, अर्थात् उसमें बिल्कुल आकुलता नहीं है, वह तो आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्दमय है।

**....स्वहित में लीन....** हैं। हमारे गुरु / आचार्य की परिणति अपने हित में लीन है। देखो, पर का हित कैसे होता है ? ऐसे विकल्प में वह परिणति लीन नहीं होती परन्तु स्वहित में लीन है। आत्मा का शुद्ध आनन्दरूप जो स्वहित है, उसमें वह परिणति लीन है।

**.... शुद्ध....** हमारे गुरु का परिणमन, वीतरागीदशा, इन्द्रियों के अवलम्बनरहित है, अनाकुल है, स्वहित में लीनतावाली है और शुद्ध है। पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभभाव तो अशुद्ध है, जबकि यह परिणति, शुद्ध है।

**....निर्वाण के कारण का कारण ( मुक्ति के कारणभूत शुक्लध्यान का कारण ).....** है। हमारी मुक्ति का कारण तो हमारा अपना शुक्लध्यान है परन्तु उस शुक्लध्यान का निमित्त हमारे गुरु का यह चैतन्यपरिणमन है। अहा! हमारे गुरु आचार्य भगवान का, जो कि वीतरागी हैं, उनका वीतरागी परिणमन, हमारी मुक्ति के कारणरूप शुक्लध्यान का कारण है। देखो, यह कहकर जो वीतरागी हों, वे ही हमारे आचार्य - गुरु हैं, यह कहते हैं। इसके अतिरिक्त अकेले राग से और पुण्य से धर्म माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है। वह धर्मी भी नहीं है, साधु भी नहीं है और आचार्य भी नहीं है। देखो, यह पञ्चम काल के मुनि कहते हैं कि हमारे गुरु वीतरागी हैं और उनकी परिणति निर्वाण के कारण का कारण है।

अहा! मोक्ष, अर्थात् आत्मा की पूर्ण आनन्ददशा; उसका कारण शुक्लध्यान है, उस शुक्लध्यान का आश्रय त्रिकाली आत्मद्रव्य है; इसलिए उसका उपादानकारण आत्मद्रव्य है, जबकि उसका बाह्य निमित्तकारण हमारे गुरु का चैतन्यपरिणमन है। देखो, इस नियमसार की ५३ वीं गाथा में भी ज्ञानी का अभिप्राय अन्तरङ्ग कारण है - यह कहा है। यद्यपि ज्ञानी का अभिप्राय भी है तो बाह्य कारण, तथापि वाणी की अपेक्षा से अन्तरङ्ग कारण है - ऐसा कहा है। यहाँ उस अन्तरङ्ग कारण की ही बात ली गयी है कि वह हमारे गुरु की परिणति, निर्वाण के कारण का कारण है।

**....शम-दम-यम का निवासस्थान....** है। शम, अर्थात् शान्ति; उपशम। वीतरागी भगवान आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई वीतरागी दशा शान्ति... शान्ति... शान्ति का निवासस्थान है,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



शान्ति के रहने का घर है। अहा! हमारे गुरु का चैतन्यपरिणमन आत्मा की शान्ति को, अकषाय परिणति को रहने का निवासस्थान है। दम अर्थात् इन्द्रियों का दमन, जितेन्द्रियता। हमारे गुरु का परिणमन, जितेन्द्रिय का निवासस्थान है। यम अर्थात् संयम। हमारे गुरु का परिणमन भावसंयम का निवासस्थान है। देखो, श्री पद्मप्रभमलधारिदेव के गुरु ऐसे थे तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय, अर्थात् सात सौ वर्ष पहले ऐसे मुनि (आचार्य) होंगे न!

यहाँ कहते हैं कि हमारे गुरु का भगवान आत्मा अन्तर के शुद्धस्वभावरूप से परिणति होकर उछल रहा है और वह परिणति शम-दम-यम का निवासस्थान है, रहने का घर है।

**....मैत्री-दया-दम का मन्दिर ( घर )....** है। ऊपर के बोल में भी 'दम' शब्द है और इस बोल में भी 'दम' शब्द है। ऊपर के बोल में 'निवासस्थान' शब्द है, जबकि इस बोल में 'मन्दिर / घर' है - ऐसा कहते हैं। अहा! निर्विकल्प शुद्धपरिणति / धर्म की दशा मैत्री-दया और दम का घर है।

**.... ऐसा यह श्रीचन्द्रकीर्तिमुनि का निरुपम मन ( चैतन्यपरिणमन ) वन्द्य है।** यहाँ मन की व्याख्या, चैतन्यपरिणमन की है क्योंकि मन, अर्थात् मनन है न! अर्थात् भाव मनन। अहा! मुनियों की ऐसी निर्विकल्प वीतरागीदशा हमें व्यवहार से वन्दनीय है, आदरणीय है परन्तु उनके पञ्च महाव्रत का विकल्प और नग्नपना हमें वन्द्य नहीं है।

देखो, वीतरागमार्ग में वीतराग परमेश्वर तीर्थङ्करदेव के शासन में ऐसे आचार्य होते हैं और ऐसे ही आचार्य, आचार्य के रूप में माने गये हैं। अरे! ऐसे आचार्य के दर्शन प्राप्त होना भी दुर्लभ हो गया है। अहा! कोई अकेला बाह्य क्रियाकाण्ड करता हो और उसे पञ्च महाव्रत का विकल्प हो, उस विकल्प को धर्म मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है, वह जैन का साधु भी नहीं है और आचार्य भी नहीं है।

**प्रश्न** – वह जैनधर्म में तो है न?

**उत्तर** – वह मिथ्यादृष्टि है तो जैनधर्म में भी कहाँ रहा? वह तो अज्ञानधर्म में है। अहा! जैनधर्म तो पुण्य-पाप के राग से रहित, स्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाली शुद्धपरिणति है, वह जैनधर्म है परन्तु कोई जैनधर्म आत्मा की शुद्धपरिणति से दूर नहीं है, अर्थात् शुद्धपरिणति स्वयं ही जैनधर्म-जैनशासन है। श्रीसमयसारजी की पन्द्रहवीं गाथा में आता है कि परम आनन्द का धाम,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



शुद्ध चैतन्यघन आत्मा में से प्रगट हुई शुद्ध और वीतरागी दशा को जैनशासन कहा जाता है – ऐसा जैनशासन का परिणमन हमें वन्दनीय है।

कोई अज्ञानी कहता है कि इसमें तो बहुत कठिन बात है, बाहर में कुछ करने की सूझ पड़े – ऐसा तो इसमें नहीं है। यह सब बाहर की क्रिया करते हैं, इसका नाम भी इसमें नहीं आता।

भगवान! तू बाहर का क्या करता है? यह शरीर तो मिट्टी जड़ है; इसलिए इसका हिलना –चलना तो जड़ के कारण होता है। इसी प्रकार बोलना भी जड़ के कारण होता है, वह तेरा काम नहीं है तथा इसकी दया पालन करूँ और यह व्रत पालन करूँ – ऐसा विकल्प उत्पन्न होता है, वह सब राग है, परन्तु धर्म नहीं है, जैनशासन नहीं है।

देखो, अपने गुरु श्री चन्द्रकीर्ति मुनि का स्मरण करके श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने कैसी बात की है? कि उनका चैतन्य परिणमन वन्दनीय है।

**प्रश्न** – क्या श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने अपने गुरु का परिणमन जान लिया कि जिससे ऐसी बात करते हैं? क्या छद्मस्थ, छद्मस्थ का परिणमन जान सकता है तथा इस काल में छद्मस्थ, छद्मस्थ के परिणाम को जानता है या नहीं? – यह प्रश्न है।

**उत्तर** – छद्मस्थ, छद्मस्थ के परिणाम को इस काल में भी जानता है। देखो, यहाँ किसकी बात करते हैं? यह पञ्चम काल की तो बात है, स्वयं टीकाकार पञ्चम काल के मुनि हैं और पञ्चम काल के गुरु को पहचान कर वन्दन करते हैं। इस प्रकार गुरु और शिष्य दोनों पञ्चम काल के हैं।

इस प्रकार अरहन्त, सिद्ध और आचार्य की व्याख्या हो गयी। ●●

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

## गाथा ७४

**रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।**
**णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति॥ ७४॥**

**रत्नत्रयसंयुक्ताः जिनकथितपदार्थदेशकाः शूराः।**
**निःकांक्षभावसहिताः उपाध्याया ईदृशा भवन्ति॥ ७४॥**

**जो रत्नत्रय से युक्त निकांक्षित्व से भरपूर हैं।**
**उवझाय वे जिनवर–कथित तत्वोपदेष्टा शूर हैं॥ ७४॥**

**गाथार्थ :** रत्नत्रय से संयुक्त, जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक और निःकाँक्षभावसहित – ऐसे उपाध्याय होते हैं।

**टीका :** यह अध्यापक (अर्थात् उपाध्याय) नाम के परमगुरु के स्वरूप का कथन है।

[उपाध्याय कैसे होते हैं ?] (१) अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप[१] शुद्ध निश्चय–स्वभावरत्नत्रयवाले; (२) जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थसमूह का उपदेश देने में शूरवीर; (३) समस्त परिग्रह के परित्यागस्वरूप जो निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व, उसकी भावना से उत्पन्न होनेवाले परम वीतराग सुखामृत के पान में सन्मुख होने से ही निष्काँक्षभावनासहित – ऐसे लक्षणों से लक्षित, वे जैनों के उपाध्याय होते हैं।

अब ७४ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(अनुष्टुभ्)

**रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान्।**
**उपदेष्टृनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः॥ १०५॥**

१. अनुष्ठान = आचरण; चारित्र; विधान; कार्यरूप में परिणत करना।

www.vitragvani.com



(दोहा)

**रत्नत्रयमय शुद्ध जो भव्य कमल को सूर्य।**
**उपदेशक उवझाय को पुनः पुनः वन्दूँ॥**

**श्लोकार्थ :** रत्नत्रयमय, शुद्ध, भव्यकमल के सूर्य और (जिनकथित पदार्थों के), उपदेशक – ऐसे उपाध्यायों को मैं नित्य पुनः पुनः वन्दन करता हूँ।

### गाथा ७४ पर प्रवचन

अब, उपाध्याय की व्याख्या है। जैन के उपाध्याय कैसे होते हैं? – उनकी व्याख्या है।

नमस्कार मन्त्र में **णमो उवज्झायाणं** आता है परन्तु वस्तुतः तो **णमो लोए सव्व उवज्झायाणं** 'लोए सव्व' यह अन्तिम पद में है, वह सबमें लगा लेना चाहिए। **णमो लोए सव्व साहूणं** ऐसा अन्तिम पद है न? तो 'लोए सव्व' यह शब्द सब में लगाना चाहिए।

**णमो लोए सव्व अरिहंताणं,**
**णमो लोए सव्व सिद्धाणं,**
**णमो लोए सव्व आयरियाणं,**
**णमो लोए सव्व उवज्झायाणं,**
**णमो लोए सव्वसाहूणं।**

इस प्रकार 'लोए सव्व' सबको लागू पड़ता है।

**यह अध्यापक (अर्थात् उपाध्याय) नाम के परमगुरु के स्वरूप का कथन है।**

**[उपाध्याय कैसे होते हैं?] (१) अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्ध निश्चय-स्वभावरत्नत्रयवाले** होते हैं। अन्दर त्रिकाली भव्य भगवान आत्मा अविचलित है, अखण्ड है, अद्वैत है, गुण-गुणी के भेद भी उसमें नहीं हैं और परमचिद्रूप है / त्रिकाली ज्ञानरूप है – ऐसा आत्मस्वरूप है, उसका श्रद्धान होना, अर्थात् आत्मा की श्रद्धा होना, वह समकित है। देखो, नव तत्त्व की श्रद्धा अथवा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, वह समकित नहीं है क्योंकि वह तो विकल्प है, राग है परन्तु अविचलित, अखण्ड, अद्वैत, परमचिद्रूप की, अर्थात् पूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की श्रद्धा, वह समकित है। आत्मा के सन्मुख होकर निर्विकल्प प्रतीति करने का नाम समकित है।

www.vitragvani.com



अविचलित अखण्ड, अद्वैत परमचिद्रूप का ध्यान, वह सम्यग्ज्ञान है। देखो, आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है – ऐसा कहते हैं, अर्थात् शास्त्र के पठनरूप ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। अरे! अज्ञानी तो शास्त्र की थोड़ी बात कण्ठस्थ होने पर अपने को ज्ञानी मान लेता है।

अविचलित अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप का अनुष्ठान, अर्थात् आत्मा के स्वरूप में रमना, वह चारित्र है। अहा! आत्मस्वरूप में रमणता, वह अनुष्ठान है, चारित्र है, विधान है और उसने स्थिरता को प्राप्त किया है। इस स्थिरता को–रमणता को अनुष्ठान कहते हैं।

इस प्रकार अविचलित, अखण्ड, अभेद, परमचिद्रूप की, अर्थात् त्रिकाली चैतन्यबिम्ब परमस्वभावभाव प्रभु आत्मा की अन्तर–श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें अनुष्ठान, वह सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्र है और ऐसे.... भाषा देखो! सारा वजन यहाँ है.... शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले उपाध्याय होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ व्यवहाररत्नत्रय से इन्कार करते हैं कि उपाध्याय व्यवहाररत्नत्रयवाले नहीं परन्तु शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले हैं। देखो, यहाँ निश्चयरत्नत्रय को शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रय कहा है; इसलिए व्यवहाररत्नत्रय, विभावरत्नत्रय सिद्ध हुआ, अर्थात् व्यवहारसमकित, व्यवहारज्ञान और व्यवहारचारित्र, यह विभावरत्नत्रय है, क्योंकि यह राग है।

इस प्रकार यहाँ कहा है कि उपाध्याय शुद्ध निश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले हैं।

अहा! अज्ञानी को शास्त्र की थोड़ी बात कण्ठस्थ हो जाए और बोलने लगे तो अभिमान हो जाता है और कुगुरु उससे कहते हैं कि अब तुम दीक्षा लो तो हमसे लेना क्योंकि हम तुम्हें सिखाते हैं। अरे! कोई तो अभिग्रह / प्रतिज्ञा भी दिलाते हैं कि दीक्षा लेना तो यहीं लेना – इस प्रकार बाड़ा –बँधी हो जाती है। यहाँ कहते हैं कि वीतरागमार्ग में ऐसा नहीं हो सकता। कारण कि वह गुरु / उपाध्याय स्वयं शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले हैं, इसलिए उन्हें काँक्षा / इच्छा ही नहीं है कि हम प्ररूपणा करते हैं, दूसरों को समझाते हैं, इसलिए दूसरा हमारा शिष्य होता है।

देखो! यहाँ उपाध्याय की व्याख्या में निःकाँक्षभाव डाला है, इसमें क्या हेतु है। हेतु यह है कि उपाध्याय प्ररूपणा करते हैं, इससे 'यह मेरे शिष्य होंगे और मुझे मानेंगे' – ऐसी काँक्षा उन्हें नहीं होती – यह कहना है, इसलिए यहाँ निःकाँक्षभाव डाला गया है। उपाध्याय पढ़ाते हैं न! इसलिए इतने जीव मेरे पास पढ़ते हैं तो इतने जीव तो मुझे मानते होंगे, मेरे शिष्य होंगे – ऐसी काँक्षा जैनदर्शन के उपाध्याय को नहीं होती है।

www.vitragvani.com



**( २ ) जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थसमूह का उपदेश देने में शूरवीर....** देखो! किसी ने कल्पना से शास्त्र / सूत्र लिखें हों, वे नहीं परन्तु जिनेन्द्र के मुखरूपी अरविन्द / कमल है, उसमें से निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थसमूह को, अर्थात् जीव –अजीव, पुण्य–पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – इन नव तत्त्वों का उपदेश करने में उपाध्याय शूरवीर हैं, फिर भी उन्हें काँक्षा नहीं होती। इसीलिए तो 'निःकाँक्षभावसहित' ऐसा शब्द है न! तात्पर्य यह है कि अपन कहते हैं, बोलना आता है, सिखाना आता है, इसलिए अपने माननेवाले तो होंगे, अपना पक्ष तो करेंगे, ऐसी काँक्षा धर्मात्मा उपाध्याय को नहीं होती – ऐसा कहते हैं। **अहा! ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्रीभगवान।** अरे! भगवान के द्वारा कथित वीतरागमार्ग दुनिया को सुनने नहीं मिलता है। उसे तो इससे उलटा मार्ग सुनने मिलता है और उसे सत्य मान लेते हैं। अरे रे! जिन्दगी चली जा रही है भाई! बाह्य में कोई शरण नहीं है। यदि कोई शरण हो तो भगवान आत्मा का, अर्थात् अपना स्वरूप है तथा उसके आश्रय से प्रगट हुए, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप स्वभावरत्नत्रय शरण है।

यहाँ कहते हैं कि उपाध्याय प्रगट स्वभावरत्नत्रयवाले हैं और भगवान के मुखारविन्द में से निकले हुए नव पदार्थ के उपदेश में शूरवीर हैं परन्तु ऐसे स्वभावरत्नत्रयवाले हों, वे उपाध्याय उपदेश में शूरवीर हैं – ऐसा कहना है। तात्पर्य यह है कि उपाध्याय निश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले नहीं होते और मात्र उपदेश देने में ही समर्थ होते हैं – ऐसा नहीं है। इसीलिए तो पहले यह कहा है कि वे शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले हैं। देखो, यहाँ पाठ में ही कहा है कि 'रयणत्तयसंजुत्ता' और फिर कहा कि '**जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।**'

अहा! शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले उपाध्याय – ऐसा पहले लिया और फिर यह लिया कि वे जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थ समूह का उपदेश करने में शूरवीर हैं। यद्यपि उपाध्याय का उपदेश, अर्थात् वाणी तो वाणी के कारण निकलती है परन्तु उपाध्याय के ज्ञान के क्षयोपशम में इतनी शूरवीरता है कि उनके ज्ञान का क्षयोपशम इतना है कि वे भगवान के द्वारा कहे गये पदार्थों को समझाने में समर्थ हैं – यह कहना है। अहा! भाषा तो भाषा के कारण निकलती है परन्तु उपाध्याय के ज्ञान के क्षयोपशम में ऐसी दशा आती है कि वे इस प्रकार शूरवीररूप से समझाते हैं परन्तु जो शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले होते हैं, वे उपाध्याय समझाने में समर्थ हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



**( ३ ) समस्त परिग्रह के परित्यागस्वरूप जो निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व, उसकी भावना से उत्पन्न होनेवाले परम वीतराग सुखामृत के पान में सन्मुख होने से ही निष्काँक्षभावना सहित....** देखो, उपाध्याय निःकाँक्ष क्यों हैं ? यह बात करते हैं। अहा! त्रिकाली परम तत्त्व आत्मा का स्वरूप समस्त परिग्रह के परित्यागस्वरूप है, अर्थात् विकल्प का भी उसमें त्याग है। ऐसा निरञ्जन निज परमार्थ तत्त्व है – त्रिकाली शुद्ध ध्रुव नित्यानन्द प्रभु आत्मा है। अहा! जो विकल्प के भी परित्यागस्वरूप है तथा जिसमें मञ्जन-मैल नहीं है – ऐसा निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व है... देखो! भगवान का तत्त्व – ऐसा नहीं कहा परन्तु 'निज परमात्मतत्त्व' कहा है और उसकी भावना कही है। देखो, यहाँ भावना कही है, वह भावना, अर्थात् आनन्दस्वरूप ध्रुव प्रभु आत्मा में एकाग्रता इसके अतिरिक्त कोई कल्पना करे अथवा चिन्तवन करे, वह भावना नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि जिसमें पर का बिल्कुल अभाव है – ऐसे निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न होनेवाले, अर्थात् स्वयं आनन्दस्वरूप ध्रुव भगवान आत्मा है, उसकी एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाले परमवीतराग सुखामृत के पान में उपाध्याय सन्मुख है। अहा! उपाध्याय तो परम वीतराग सुखरूपी अमृत के निर्विकल्प पान के सन्मुख है। तात्पर्य यह है कि वे अतीन्द्रिय आनन्द को पीने में / अनुभव करने में सन्मुख है और इसीलिए निःकाँक्षभावसहित है, अर्थात् उन्हें काँक्षा नहीं होती। भाई! बहुत अद्‌भुत बात है!

**प्रश्न –** आपके एक घण्टे के प्रवचन में यह नहीं आया कि भगवान की भक्ति करना, पूजा करना, दया पालना, व्रत करना – ऐसा कुछ तो इसमें आया ही नहीं ?

**उत्तर –** भाई! यह आत्मवस्तु है, इसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता होने के पश्चात् उसमें लीन नहीं रह सके, तब ऐसा शुभविकल्प आता है, परन्तु उस शुभविकल्प की बात का यहाँ काम नहीं है क्योंकि यहाँ तो परम वीतराग सुखामृत के पान में सन्मुख ऐसे सन्त-उपाध्याय की बात है। वे निर्विकल्प आनन्दरस के पान में तत्पर हैं, सन्मुख हैं और इच्छा से विमुख हैं।

अरे! अज्ञानी को तो थोड़ा बोलना और कहना आ जाए, वहाँ उपाध्यायपने के ठिकाने न होने पर भी उपाध्याय का पद ले लेता है, परन्तु भाई! ऐसी वस्तुस्थिति, अर्थात् उपाध्याय का स्वरूप नहीं है। बापू! वस्तुस्थिति तो यहाँ कही गयी, वही है। यह वीतराग मार्ग है, इसमें विपरीतता नहीं चल सकती है।

www.vitragvani.com



यहाँ कहते हैं कि – १. जिसे अन्तर में वीतरागता प्रगट हुई है, अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्ररूप स्वभावरत्नत्रय प्रगट हुआ है और २. जो भगवान के द्वारा कथित पदार्थों के कथन में शूरवीर है तथा ३. जो निज परमात्मतत्त्व में / त्रिकालीध्रुव शुद्ध अपने आत्मा में एकाग्र होता है, वह उपाध्याय है।

अहा! 'निज परमात्म तत्त्व' यह त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है और उसकी भावना अर्थात् उसमें एकाग्र होना, वह पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि निज परमात्म तत्त्व की भावना से, अर्थात् एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाला वीतरागी सुखामृत.... देखो! यह कहते हैं कि निज परमात्म तत्त्व की वीतराग की एकाग्रता से यह परम वीतराग सुखामृत उत्पन्न होता है। परम वीतराग सुखरूपी अमृत अन्तर में से प्रगट होता है और उपाध्याय की यही दशा होती है, अर्थात् ऐसी दशावाले को ही उपाध्याय कहा जाता है।

परम वीतराग सुखामृत के पान में, अर्थात् परम वीतराग सुखरूपी अमृत के पान में सन्मुख होने से.... आशय यह है कि उपाध्याय आनन्द के पान में सन्मुख हैं और इसीलिए ही .... यह कहकर कारण बतलाते हैं कि इस कारण ही उपाध्याय निःकाँक्षभाव से सहित हैं। देखो! उपाध्याय निष्काँक्षभावनासहित हैं – ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपाध्याय, इच्छारहित एवं भावनासहित हैं, यह कहना है। उपाध्याय उपदेश देते हैं तो उन्हें इच्छा नहीं होती कि हम ऐसा उपदेश करते हैं, इसलिए विशाल सभा भर जाती है और मार्ग में हमारा नाम प्रसिद्ध होता है। अरे भगवान! नाम किसका प्रसिद्ध होता है। अरे! आत्मा का नाम ही कहाँ है कि जो प्रसिद्ध हो। यहाँ कहा है कि उपाध्याय अन्दर आनन्द के पान में सन्मुख होने से ही निष्काँक्षभावना सहित हैं।

**....ऐसे लक्षणों से लक्षित, वे जैनों के उपाध्याय होते हैं।** देखो, वीतरागमार्ग में / जैन ऐसे उपाध्याय होते हैं। अहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अन्य में तो कोई सच्चा उपाध्याय है ही नहीं, परन्तु जैन में भी ऐसे उपाध्याय होते हैं।

## कलश १०५ पर प्रवचन

उपाध्याय कैसे होते हैं? उसकी व्याख्या गाथा ७४ में हो गयी है। अब, उसका कलश है।

**रत्नत्रयमय....** जैन के उपाध्याय उन्हें कहते हैं कि जिन्हें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



तीन रत्नमय अभेद परिणति हुई है। उन आनन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा का आश्रय लेकर जिन्हें निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय अभेद परिणति हुई है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं। यद्यपि साधु को भी वह रत्नत्रय होता है परन्तु उपाध्याय में विशेषता इतनी है कि वे भव्य कमल के सूर्य हैं और जिन कथित पदार्थों के उपदेशक हैं।

**....शुद्ध....** उपाध्याय शुद्ध हैं, अर्थात् उन्हें शुद्धरूप रत्नत्रयमय वीतरागी परिणति प्रगट हुई है। **भव्यकमल के सूर्य....** उपाध्याय योग्य प्राणीरूपी कमल के सूर्य हैं। जिन्हें अन्तर में चैतन्य प्रकाश प्रगट करने की योग्यता है, उन भव्यरूपी कमलों के लिए उपाध्याय सूर्य के समान हैं। **...और ( जिनकथित पदार्थों के ), उपदेशक....** उपाध्याय, वीतराग द्वारा कथित पदार्थों के उपदेशक हैं। सर्वज्ञ परमात्मा / परमेश्वर ने जो पदार्थ कहे हैं, उनका उपदेश करने में उपाध्याय समर्थ हैं।

**....ऐसे उपाध्यायों को मैं नित्य पुनः पुनः वन्दन करता हूँ।** मैं अर्थात् टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि कहते हैं कि ऐसी दशावन्त को अर्थात् —

१. जिन्हें वीतरागदशा / परिणति प्रगट हुई है,

२. जो शुद्ध हैं,

३. जो भव्य कमल के सूर्य हैं, और

४. जो जिन कथित पदार्थों के उपदेशक हैं,

उन उपाध्यायों को बारम्बार वन्दन करता हूँ।

यह व्यवहारचारित्र अधिकार है न! इसलिए यहाँ उपाध्याय को नमन करते हैं। ●●

## गाथा ७५

**वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।**
**णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति॥ ७५॥**

**व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनासदारक्ताः।**
**निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति॥ ७५॥**

**निर्ग्रन्थ हैं निर्मोह हैं व्यापार से प्रविमुक्त हैं।**
**हैं साधु, चउआराधना में जो सदा अनुरक्त हैं॥ ७५॥**

**गाथार्थ :** व्यापार से विमुक्त (समस्त व्यापाररहित), चतुर्विध आराधना में सदा रक्त, निर्ग्रन्थ और निर्मोह – ऐसे साधु होते हैं।

**टीका :** यह, निरन्तर अखण्डित परम तपश्चरण में निरत (लीन) ऐसे सर्व साधुओं के स्वरूप का कथन है।

[साधु कैसे होते हैं?] (१) परमसंयमी महापुरुष होने से त्रिकाल-निरावरण निरञ्जन परम पञ्चम भाव की भावना में परिणमित होने के कारण ही समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त; (२) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और परम तप नाम की चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त; (३) बाह्य-अभ्यन्तर समस्त परिग्रह के ग्रहण–रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ; तथा (४) सदा निरञ्जन निज कारणसमयसार के स्वरूप के सम्यक्, श्रद्धान, सम्यक् परिज्ञान और सम्यक् आचरण से प्रतिपक्ष ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने के कारण निर्मोह – ऐसे परमनिर्वाणसुन्दरी की सुन्दर माँग की शोभारूप कोमल केशर के रज-पुञ्ज के सुवर्णरङ्गी अलङ्कार को (केशर-रज की कनकरङ्गी शोभा को) देखने में कौतूहलबुद्धिवाले वे समस्त साधु होते हैं (अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणवाले, मुक्तिसुन्दरी की अनुपमता का अवलोकन करने में आतुर बुद्धिवाले समस्त साधु होते हैं)।

अब ७५ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

(आर्या)

**भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबंधात्।**
**मंक्षु विप्रंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मनः साधोः॥ १०६॥**

(वीरछन्द)

**संसारी के भव-सुख से जो विमुख, संग सम्बन्ध विहीन।**
**मुनिमन है वह वन्द्य हमें, हे मुनि! मन करो निजात्म विलीन॥**

**श्लोकार्थ :** भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख है और सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से जो मुक्त है, ऐसा वह साधु का मन हमें वंद्य है। हे साधु! उस मन को शीघ्र निजात्मा में मग्न करो।

**गाथा ७५ पर प्रवचन**

अब, जैन साधु किसे कहना – यह बात इस ७५वीं गाथा में करते हैं।

**प्रश्न –** क्या अन्य धर्म में (सच्चे) साधु होते हैं?

**उत्तर –** (नहीं;) फिर भी लोग अन्य धर्म में भी सच्चे साधु होना कहते हैं न! '**णमो लोए सव्वसाहूणं**'; अर्थात्, जगत के समस्त / अन्य मत के साधु भी इसमें आते हैं – ऐसा कोई कहते हैं न! (परन्तु यह सत्य नहीं है।) जैन साधु ही सच्चे साधु हैं; इसके अतिरिक्त अन्य मत में कोई सच्चा साधु है ही नहीं।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जैसा वीतरागस्वरूप आत्मा कहा है, वैसे वीतरागस्वरूप आत्मा में जिसकी अन्तर्मुखदृष्टि है, उसका ज्ञान है, और अनुभवरूप स्थिरता है, उन्हें सच्चे साधु कहते हैं। जैन परमेश्वर के अलावा दूसरे अन्य मत में ऐसे साधु होते ही नहीं। इस कारण '**णमो लोए सव्व साहूणं**' में जो ऐसे (सच्चे जैन) साधु होते हैं, वे ही आते हैं परन्तु इनके अतिरिक्त चाहे कैसा भी वेष धारण किया हो, वे नहीं आते। तथा जो पुण्य से धर्म माननेवाले और अपने को व्यवहार की क्रिया का कर्ता माननेवाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि भी जैन साधु में नहीं आते।

**प्रश्न –** पुण्य को धर्म तो नहीं माने, परन्तु उपादेय माने तो.... ?

**उत्तर –** वह तो एक ही बात हुई। वीतरागमूर्ति आनन्दमय आत्मा ही उपादेय है। इसके अतिरिक्त जो विकल्प-राग है, वह हेय है। ऐसा नहीं माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और उसे जैन साधु

में नहीं गिना जाता। यहाँ गाथा में पहला शब्द ही यह है कि **वावारविप्पमुक्का**; अर्थात्, साधु व्यापार से विमुक्त है, और ऐसे साधु वीतरागमार्ग में ही होते हैं।

**यह, निरन्तर अखण्डित परम तपश्चरण में निरत ( लीन ) ऐसे सर्व साधुओं के स्वरूप का कथन है।**

देखों, यहाँ कहते हैं कि साधु निरन्तर अखण्डित परम तपश्चर्या / चारित्र में लीन हैं। जो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा में उग्र पुरुषार्थ से एकाग्र हुए, वे साधु हैं। अहा! निरन्तर अखण्डित परम तपश्चर्या में निरत कहने से आशय यह है कि इच्छा से रहित अमृतस्वरूप भगवान आत्मा में लीन हैं। देखो! साधु, पञ्च महाव्रत में अथवा अट्ठाईस मूलगुणों में लीन है – ऐसा नहीं कहा है क्योंकि पञ्च महाव्रतादि तो विकल्प है, आस्रव है; इसलिए साधु उनमें लीन नहीं होते। ऐसी बहुत कड़क बात है भाई! यह तो वस्तु की स्थिति है; यह कोई सम्प्रदाय नहीं है।

अहा! आत्मा वीतरागमूर्ति है। उसके स्वरूप में जिन्हें निरन्तर अखण्डित परम स्थिरता / लीनता हुई है, यहाँ उन सर्व साधुओं के स्वरूप का कथन है।

**साधु कैसे होते हैं ?**

**परम संयमी महापुरुष होने से त्रिकाल-निरावरण निरञ्जन परम पञ्चमभाव की भावना में परिणमित होने के कारण ही समस्त बाह्यव्यापार से विमुक्त।**

अब, व्यापार से परिमुक्त की व्याख्या करते हैं। साधु को विकल्प का व्यापार भी छूट गया है। अहा! साधु परमेष्ठी महापुरुष होने के कारण, अपना त्रिकाली परम पञ्चमभाव / ध्रुवभाव की भावना में; अर्थात्, भगवान आत्मा का जो त्रिकाली नित्यस्वभाव है, उस परम पञ्चमभाव की भावना में परिणमित होने के कारण....।

यहाँ भावना शब्द का आशय एकाग्रता है; विकल्प नहीं। तात्पर्य यह है कि परम पञ्चमभाव की अकेली विकल्पमय भावना, साधु को है – ऐसा नहीं है परन्तु साधु, परम पञ्चमभाव की भावना में परिणमित हैं – ऐसा कहना है और यहाँ ऐसे साधु को लिया है। पञ्चमभाव, यह त्रिकालीभाव (द्रव्य) है और उसकी भावना, वह वर्तमान पर्याय है।

अहा! साधु तो त्रिकाल आनन्द का धाम ध्रुव शुद्ध चैतन्यद्रव्य, ऐसे परम पञ्चमभाव की / वस्तु की अस्ति के त्रिकालीभाव की भावना में परिणमित हैं और इसी कारण वे समस्त बाह्य

www.vitragvani.com



व्यापार से विमुक्त हैं। जैन परमेश्वर तीर्थङ्करदेव त्रिलोकनाथ के शासन में ऐसे साधु होते हैं और उन्हें ही सच्चा साधु कहा जाता है।

**प्रश्न** – साधु, समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त क्यों हैं ?

**उत्तर** – वे निर्विकल्प अखण्ड त्रिकाली पञ्चमभाव की भावना में परिणमित हैं; अर्थात्, उस अवस्थारूप हुए हैं। इसी कारण साधु के समस्त बाह्य व्यापार छूट गया है। उनके विकल्प का व्यापार भी छूट गया है, इस कारण वस्तुतः तो वे पञ्च महाव्रत के विकल्प से भी विमुक्त हैं। वीतराग द्वारा कथित साधु का यह स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। अहा! स्वयं नित्य ध्रुव अलौकिक परमात्मा है, उसकी भावना में परिणति को परिणमाते हुए; अर्थात्, भगवान आत्मा नित्य ध्रुव है, उसकी भावना में / एकाग्रता में वर्तमानदशा को परिणमित करते हुए साधु, बाह्य व्यापार से छूट गये हैं। देखो, यहाँ अस्ति-नास्ति से बात की है कि ऐसी निर्मलपरिणति प्रगट हुई; इसलिए बाह्य विकल्प का व्यापार बन्द हो गया। लो, इसे साधु कहते हैं।

अहा! जिसे परमानन्द की पूर्ण प्राप्ति करना है, उसे तो ऐसी आराधना करना पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि त्रिकाल आनन्दस्वरूप आत्मा में लीन होनेवाले को परमानन्द की प्राप्ति होती है – उसकी मुक्ति होती है।

देखो! यहाँ ऐसा कहते हैं कि 'समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त'। गाथा में भी **वावारविप्पमुक्का** शब्द है। टीका में '**प्प**' शब्द में से 'समस्त' शब्द निकाला है। अहा! मुनिराज समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त हैं। उनके तो उपदेश का भी (नियमरूप) व्यापार नहीं है। उपदेश तो आचार्य और उपाध्याय के होता है, जबकि मुनि तो अपने स्वरूप को साधते हैं और उनको, मात्र वीतरागभाव का परिणमन है – ऐसा कहते हैं।

अब, यह बताते हैं कि मुनि, आराधना में लीन हैं – **ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और परम तप नामकी चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त।**

भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान, शान्तिरूप चारित्र और इच्छा निरोधरूप तप – इन चार आराधना में मुनिराज लीन है; अर्थात्, वे अमृतस्वरूप भगवान आत्मा की आराधना में लीन है; इसलिए दुनिया धर्म प्राप्त करे या न करे – ऐसा विकल्प मुनि के है ही नहीं। वे साधु तो आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन, आत्मचारित्र और आत्मा में विशेष उग्र पुरुषार्थ से लीनता (तप), – ऐसी चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त हैं। देखो, गाथा में ही न **चउव्विहाराहणासयारत्ता।**

www.vitragvani.com



**प्रश्न** – यदि साधु सदा आराधना में अनुरक्त होते हैं, तो आहार-पानी कब लेते हैं ?

**उत्तर** – वे खाते भी नहीं और पीते भी नहीं। खाने-पीने का विकल्प आवे और उस सम्बन्धी क्रिया हो, वे तो उसके भी ज्ञाता ही रहते हैं। यह **णमो लोए सव्व साहूणं** की व्याख्या चलती है। इसमें कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप – इन चार प्रकार की आराधना में, इनके सेवन में जो लीन हैं, वे साधु हैं। **साधयति इति साधु;** अर्थात्, जो अन्दर में पूर्ण स्वरूप की साधना करते हैं, वे साधु हैं परन्तु ऐसा पूर्णस्वरूप और पूर्णस्वरूप की शक्ति का धारक आत्मा, सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग में ही होता है; इसलिए उसकी साधना करनेवाले सच्चे साधु भी सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग में ही होते हैं। यहाँ कहा गया है कि साधु पूर्णस्वरूप की आराधना में तत्पर हैं, जिससे पर्याय में पूर्ण स्वरूप की प्रगति होती है।

अब, कहते हैं कि साधु निर्ग्रन्थ हैं – **बाह्य-अभ्यन्तर, समस्त परिग्रह के ग्रहण से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ** – मुनिराज को बाह्य में वस्त्र का एक टुकड़ा... अरे! एक धागा भी... नहीं होता। अष्टपाहुड़ (सूत्रपाहुड़, गाथा १८ व बोधपाहुड़, गाथा ५५ में) कहा है न **तिलतुसमितं;** अर्थात्, किसी को तिल के तुषमात्र भी परिग्रह हो, तो वह मुनि नहीं है और यदि वह अपने को मुनि मानता है तो निगोद में जाता है – ऐसी वस्तु की स्थिति है। अहा! मुनिदशा में वस्त्र-पात्र के ग्रहण का विकल्प ही नहीं होता।

**मुनि किसे कहते हैं ? धन्य दशा! धन्य अवतार!! कि जिसने केवलज्ञान को हथेली में लेने की तैयारी की है – ऐसे मुनि को बाह्य में वस्त्र नहीं होता और अन्तरङ्ग में राग का कण भी नहीं होता। – इस कारण मुनि निर्ग्रन्थ हैं – ऐसा कहते हैं।**

मुनि निर्ग्रन्थ क्यों है ? क्योंकि उनके बाह्य-अभ्यन्तर ग्रन्थ का राग छूट गया है, इस कारण साधु को निर्ग्रन्थ कहा गया है।

अब, साधु, निर्मोह हैं, ऐसा कहते हैं – सदा निरञ्जन निज कारण समयसार के स्वरूप के सम्यक्, श्रद्धान, सम्यक् परिज्ञान और सम्यक् आचरण से प्रतिपक्ष, ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने के कारण निर्मोह है।

यहाँ कहते हैं कि साधु निर्मोह होते हैं। सदा निरञ्जन; अर्थात्, त्रिकाल शुद्ध। आत्मा त्रिकाल शुद्ध है। अहा! सदा निरञ्जन निज कारणप्रभु के स्वरूप का; अर्थात्, त्रिकाल परमात्मस्वरूप

www.vitragvani.com



ध्रुव निज कारण समयसार के स्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन है। सदा निरञ्जन निज कारण समयसार के स्वरूप का परिज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है और सदा निरञ्जन त्रिकाली भगवान आत्मा के स्वरूप का सम्यक् आचरण, वह सम्यक्चारित्र है। ये तीनों; अर्थात्, नित्य (त्रिकाली) भगवान आत्मा के स्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्परिज्ञान और सम्यक्आचरण – यह परिणमनरूप है। आत्मा का ध्रुव वीतरागी स्वरूप है, उसका सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्परिज्ञान और सम्यक्आचरण से प्रतिपक्षरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने से, साधु को निर्मोह कहा जाता है।

देखो! यहाँ यह कहा है कि सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र से प्रतिपक्ष मिथ्यादर्शन-ज्ञान -चारित्र है; इसलिए निश्चय का प्रतिपक्ष व्यवहार नहीं, अपितु मिथ्याश्रद्धादि है परन्तु भाई! यहाँ कही गयी बात दूसरी है और गाथा ०३ (तीन) में **विपरीत के परिहार के लिए सार शब्द जोड़ा गया है** – ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ यह है कि प्रतिपक्षरूप व्यवहार से निश्चय, रहित है। व्यवहार का फल और व्यवहार – इन दोनों से निश्चय प्रतिपक्ष है – ऐसा जो कहा गया है, वह दूसरी बात है। वहाँ तीसरी गाथा में तो व्यवहार के विकल्प का अभाव बताकर, निश्चय बतलाना है; जबकि यहाँ तो साधु ने निर्मोहदशा प्रगट की है तो उसको मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रभाव का अभाव हुआ है – ऐसा कहना है। अहा! क्या करें? (अर्थात्, जिसे विरोध ही करना है, उसे कैसे समझाया जा सकता है?)

अज्ञानी को अन्तरङ्ग में ऐसा मिथ्या आग्रह हो जाता है कि वह उसे नहीं छोड़ता तथा उसे निश्चय का भान नहीं होने से वह व्यवहार को ही सर्वस्व मान लेता है कि यह सब क्रिया पालन करते हैं, वह हमारा साधुपना / मुनिपना है और यही मोक्ष का मार्ग है परन्तु भाई! ऐसी बाह्यक्रिया से कहीं मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षमार्ग तो उपशमरसमय / शान्तरसमय है। भगवान आत्मा शान्तरसस्वरूप / अकषायरसस्वरूप है, उस अकषायरूप का पर्याय में परिणमन होना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके अतिरिक्त बीच में (भूमिकानुसार) यह व्यवहार / कषाय आता है, वह कहीं मोक्ष का मार्ग नहीं है।

इस नियमसार की तीसरी गाथा में 'नियमसार' की व्याख्या में कहा है कि 'नियम' के साथ 'सार' शब्द विपरीतता के परिहार के लिए लगाया गया है। वहाँ विपरीत का आशय व्यवहाररत्नत्रय है। जैसे, 'समयसार' में 'समय'; अर्थात्, आत्मा और 'सार'; अर्थात्, द्रव्यकर्म, भावकर्म और

www.vitragvani.com



नोकर्म रहित – यह आशय है। वहाँ भावकर्म कहने से पुण्य-पाप के दोनों विकल्प समाहित हैं और उनसे रहित, वह समयसार है। इसी प्रकार 'नियमसार' में 'नियम' अर्थात्, आत्मा के स्वाभाविक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो कि स्वाश्रय से निर्मलरूप प्रगट हुए हैं और 'सार'; अर्थात्, निश्चयरत्नत्रय से विरुद्ध व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से रहित। अहा! जिस प्रकार समयसार में 'सार' शब्द क्यों कहा? क्योंकि समय / आत्मा, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है; इसलिए सार शब्द कहा है। इसी प्रकार यहाँ नियमसार में 'सार' शब्द क्यों कहा? क्योंकि निश्चयरत्नत्रय, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से रहित है; इसलिए 'सार' शब्द कहा है। परन्तु यहाँ ७५वीं गाथा में उक्त अर्थ नहीं है। यहाँ तो साधु को निर्मोह कहना है (इसलिए सम्यग्दर्शनादि से प्रतिपक्ष मिथ्यादर्शनादि है – ऐसा कहा है।) अरे! शास्त्र का अर्थ करने में अपना पक्ष / स्वार्थ का पोषण करना; अर्थात्, अन्य अर्थ करना तो अरे रे! महान अनर्थ है। ऐसी विपरीतता से जीव अपना क्या नुकसान करता है – इसका अज्ञानी को पता नहीं है।

**परमनिर्वाणसुन्दरी की सुन्दर माँग की शोभारूप कोमल केशर के रज-पुञ्ज के सुवर्णरङ्गी अलङ्कार को (केशररज की कनकरङ्गी शोभा को) देखने में कौतूहलबुद्धिवाले, वे समस्त साधु होते हैं।**

पूर्ण आनन्द की दशा को अवलोकन करने में / प्राप्त करने में आतुर बुद्धिवाले मुनि होते हैं; अर्थात्, समस्त साधु पूर्ण आनन्द की प्राप्तिरूप मुक्ति के अवलोकन करने में कौतूहल बुद्धिवाले होते हैं। मुनि को ऐसी भावना नहीं होती कि कुछ पुण्य होगा और हम स्वर्ग में जायेंगे अथवा लोग हमें मानेंगे / पूजेगें। जैन के सभी सच्चे साधु ऐसे होते हैं और अन्यत्र तो ऐसे साधु होते ही नहीं। इसलिए **णमो लोए सव्व साहूणं** में समस्त; अर्थात्, अन्य मत के साधु भी आ जाते हैं – ऐसा नहीं है।

**प्रश्न – णमो लोए सव्व साहूणं** में अन्य मत के साधुओं को भी गिनने पर ही तो साधु की संख्या पूर्ण होगी न?

**उत्तर –** अन्य मती साधु तो मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें साधुपने में कैसे गिना जा सकता है? यहाँ तो चौथे अथवा पाँचवें गुणस्थानवाले भी इस पद में / साधुपद में नहीं आते – ऐसा कहना है; तब जो मिथ्यादृष्टि हैं, उन अन्य मती साधुओं की तो बात ही कहाँ रही?

www.vitragvani.com



अहा! साधु तो अतीन्द्रिय आनन्द की सेवा / स्वरूप की आराधना करते हैं, उसकी आराधना में ही तत्पर / लीन हैं और यहाँ उन्हें ही सच्चा साधु कहा गया है। देखो! पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि जितने साधु के भाव / गुण कहे गये हैं, उन सबका एक देश भाग (अंश) श्रावक को भी लागू पड़ता है, इस कारण श्रावक को भी निश्चयरत्नत्रय एक देश प्रगट हुआ है – ऐसा मुझे (पूज्य गुरुदेवश्री को) कहना है। भले ही श्रावक को निश्चयरत्नत्रय प्रगट तो हुआ है न? और उसमें भी श्रावक को श्रद्धा का एक देश अंश प्रगट हुआ है – ऐसा नहीं है; आचरण का एक देश प्रगट हुआ है, क्योंकि एक देश और सर्व देश – ये आचरण के भाग (भेद) हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन के (–श्रद्धा के) भाग नहीं हैं। मुनि को सर्व देश समकित है और श्रावक को एक देश / एक अंश समकित है – क्या ऐसा है? (नहीं, क्योंकि समकित के ऐसे भेद नहीं हैं।)

## कलश १०६ पर प्रवचन

**भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख है....** देखो! भववाले जीवों के भवसुख – ऐसा कहा है। आशय यह है कि इन्द्रिय के विषयों में सुख है, मान–प्रतिष्ठा में सुख है – ऐसा भव में रहनेवाले अज्ञानी जीवों को भव–सुख की कल्पना है, उससे मुनि विमुख हैं। पाँच इन्द्रिय के विषयों में, राग में अथवा पुण्य में भी कहीं सुख नहीं है – ऐसा मुनिराज मानते हैं।

**...और सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से जो मुक्त है...** यह साधु की बात है न! इसीलिए उन्हें सर्व सङ्ग छूट गया है, यह कहते हैं। असङ्ग भगवान आत्मा के सङ्ग में स्थित मुनि को समस्त पर का सङ्ग छूट गया है।

**प्रश्न –** शास्त्र का सङ्ग तो होता है न?

**उत्तर –** वस्तुतः वह भी अन्तर में नहीं है। शास्त्र वाँचन का विकल्प है, उससे भी साधु छूटे हुए हैं, क्योंकि वे व्यवहार से मुक्त हैं। अरे! चौथे गुणस्थान में समकिती भी राग से, व्यवहार से मुक्त है, अर्थात् देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा के विकल्प से मुक्त है तो फिर मुनि की क्या बात करना? सम्यग्दर्शन होने पर समकिती को भी विकल्प से मुक्तदशा है। हाँ; अस्थिरता की अपेक्षा विकल्प हो, फिर भी दृष्टि की अपेक्षा से तो विकल्प से मुक्त हैं। राग, दृष्टि का विषय नहीं है और दृष्टि के परिणमन में राग नहीं आता; इसलिए सम्यग्दर्शन होने पर समकिती भी शास्त्र–पठन आदि के विकल्प से छूटा हुआ है और मुनि भी उन विकल्पों से छूटे हुए हैं – ऐसा कहते हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



दूसरे प्रकार से कहें तो सम्यग्दर्शन होने पर वीतरागरस से परिणमित हुआ भगवान आत्मा, रागरस से पृथक् पड़ गया है, यह बात जगत् को पकड़ना बहुत कठिन है; इसलिए अन्तर की पकड़ / समझ के बिना बाह्य की क्रिया करके साधु होकर चल निकलते हैं – परन्तु भाई! मार्ग तो ऐसा है, यह तेरे स्वभाव के लाभ की बात है, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

यहाँ कहते हैं कि मुनि, सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से मुक्त है। अहो! इसमें क्या सङ्ग बाकी रहा? अहा! जिनवाणी की तरह देव, गुरु भी पर हैं, इसलिए उनका सङ्ग भी मुनि को अन्तरङ्ग से छूट गया है। बापू! मोक्ष का मार्ग कोई अलौकिक है, वह अन्तर अवलोकन के बिना बाह्य से प्राप्त हो – ऐसा नहीं है। देखो, कलश में **'त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबंधात्'** – ऐसा है न! तात्पर्य यह है कि मुनि को कोई सङ्ग है ही नहीं। यद्यपि चौथे गुणस्थान में समकिती को दृष्टि की अपेक्षा से विकल्प का सङ्ग नहीं है, वह विकल्प से मुक्त है; तथापि अस्थिरता की अपेक्षा राग है, परन्तु अब तो उस अस्थिरता के राग से भी मुनि छूट गये हैं – ऐसा कहते हैं। अहा! अकेली वीतराग धारा, वह साधुपद है। जबकि बीच में पञ्च महाव्रतादि का विकल्प आता है, वह कर्मधारा है और वह स्वरूप में है ही नहीं।

**.....ऐसा वह साधु का मन हमें वंद्य है।** मन, अर्थात् चैतन्य परिणमन। मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं कहते हैं कि ऐसा उस साधु का चैतन्य परिणमन हमें वन्द्य है। अहा! भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख हैं, अर्थात् आत्मा के आनन्द-सुख के जो सन्मुख हैं तथा जो सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से मुक्त हैं, अर्थात् असङ्ग भगवान आत्मा के सङ्ग में जो लीन हैं, ऐसा साधु का चैतन्य परिणमन हमें वन्द्य है – ऐसा मुनिराज कहते हैं। देखो, टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव अन्य मुनि के लिए यह कहते हैं।

**.... हे साधु! उस मन को शीघ्र निजात्मा में मग्न करो।** शुद्धपरिणति को अत्यन्त अन्तर निमग्न करो, उग्ररूप से अन्तर में स्थिर होओ – ऐसा कहते हैं। जहाँ पूर्णानन्दस्वरूप स्वयं प्रभु भगवान आत्मा विराजमान है, वहाँ लीन होओ, यह साधु का कर्तव्य / कार्य है। अरे! अन्यत्र तो इस बात की गन्ध भी सुनने को नहीं मिलती, वहाँ तो यह करो, वह करो – यह बात मिलती है। अरे रे! जीवन चला जाता है।

इस प्रकार कलश १०६ हुआ। अब, व्यवहारचारित्र की अन्तिम गाथा है। ●●

## गाथा ७६

**एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।**
**णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि॥ ७६ ॥**

**ईदृग्भावनायां व्यवहारनयस्य भवति चारित्रम्।**
**निश्चयनयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि॥ ७६ ॥**

**इस भावना में जानिये चारित्र नय व्यवहार से।**
**निश्चय-चरण अब मैं कहूँ निश्चयनयात्मक द्वार से॥ ७६ ॥**

**गाथार्थ :** ऐसी (पूर्वोक्त), भावना में व्यवहारनय के अभिप्राय से चारित्र है; निश्चयनय के अभिप्राय से चारित्र इसके पश्चात् कहूँगा।

**टीका :** यह, व्यवहारचारित्र-अधिकार का जो व्याख्यान, उसके उपसंहार का और निश्चयचारित्र की सूचना का कथन है।

ऐसी जो पूर्वोक्त पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, निश्चय-व्यवहार त्रिगुप्ति तथा पञ्च परमेष्ठी के ध्यान से संयुक्त, अतिप्रशस्त शुभभावना, उसमें व्यवहारनय के अभिप्राय से परम चारित्र है; अब कहे जानेवाले पाँचवें अधिकार में, परम पञ्चम भाव में लीन, पञ्चम गति के हेतुभूत, शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र द्रष्टव्य (देखनेयोग्य) है।

इसी प्रकार मार्गप्रकाश में (श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(वंशस्थ)

**कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम्।**
**तदेव देवासुरमानवस्तुतं नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः॥**

(वीरछन्द)

**जिस बिन सम्यग्दर्शन-ज्ञान सुबीज पड़ा कोठार समान।**
**देव असुर मानव वन्दित उस जैनचरण को पुनः नमन॥**

www.vitragvani.com



**श्लोकार्थ :** जिसके बिना (जिस चारित्र के बिना) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार के भीतर पड़े हुए बीज (अनाज) समान हैं, उसी देव-असुर-मानव से स्तवन किये गये जैन चरण को (ऐसा जो सुर-असुर मनुष्यों से स्तवन किया गया जिनोक्त चारित्र उसे) मैं पुनः-पुनः नमन करता हूँ।

और (इस व्यवहारचारित्र अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) —

(आर्या)

**शीलमपवर्गयोषिदनंगसुखस्यापि मूलमाचार्याः।**
**प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परंपरा हेतुः॥ १०७॥**

(वीरछन्द)

**मुक्ति सुन्दरी का अनंग सुख-मूल शील कहते आचार्य।**
**उसका परम्परा कारण है कहा गया चारित व्यवहार॥**

**श्लोकार्थ :** आचार्यों ने शील को (निश्चयचारित्र को) मुक्ति सुन्दरी के अनङ्ग (अशरीरी) सुख का मूल कहा है; व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्परा कारण है।

**गाथा ७६ पर प्रवचन**

**यह, व्यवहारचारित्र-अधिकार का जो व्याख्यान, उसके उपसंहार का और निश्चयचारित्र की सूचना का कथन है।** यहाँ व्यवहारचारित्र अधिकार का व्याख्यान पूर्ण किया जाता है और अब निश्चयचारित्र की व्याख्या आएगी – ऐसा कहते हैं।

**ऐसी जो पूर्वोक्त पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, निश्चय-व्यवहार त्रिगुप्ति तथा पञ्च परमेष्ठी के ध्यान से संयुक्त, अतिप्रशस्त शुभ भावना, उसमें व्यवहारनय के अभिप्राय से परम चारित्र है....** निश्चयगुप्ति में शुद्धता है, इसलिए वह यहाँ नहीं लेना परन्तु निश्चय-व्यवहार गुप्ति में से व्यवहारगुप्ति का शुभभाव है, वही यहाँ लेना क्योंकि व्यवहारचारित्र की बात करना है। यहाँ कहते हैं कि पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, निश्चय-व्यवहारगुप्ति में से शुभभावरूप व्यवहारगुप्ति और पञ्च परमेष्ठी का ध्यान – यह सब शुभभाव है। देखो, पञ्च परमेष्ठी का ध्यान भी शुभभाव है, उसमें शुद्धता नहीं है और इन सबको व्यवहारनय से परम चारित्र

www.vitragvani.com



कहा जाता है। निश्चयनय से शुद्धता ही परम चारित्र है और व्यवहार से शुभभाव को परमचारित्र का आरोप किया जाता है परन्तु वह भी जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रसहित हैं, उनके शुभभाव को परमचारित्र का आरोप किया जाता है। इसके अतिरिक्त यहाँ अज्ञानी के शुभभाव की यहाँ बात नहीं है।

अहा! जिसे अन्तर में निश्चय आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ है, अर्थात् जिसे आनन्दस्वरूप की श्रद्धा, आनन्दस्वरूप का ज्ञान और आनन्दस्वरूप में रमणता हुई है, उसे उस रमणता में न्यूनता है, पूर्ण वीतरागता नहीं है, इसलिए बीच में ऐसा शुभभाव आता है–होता है। उस शुभभाव को व्यवहारनय से चारित्र कहा जाता है परन्तु अज्ञानी के शुभभाव की यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो कहा है कि जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है, उसे ऐसा शुभभाव होता है और उस शुभभाव को व्यवहार से चारित्र कहा जाता है।

**.....अब कहे जानेवाले पाँचवें अधिकार में, परम पञ्चम भाव में लीन, पञ्चम गति के हेतुभूत, शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र द्रष्टव्य ( देखनेयोग्य ) है।**

चार अधिकार पूर्ण हुए। अब पाँचवाँ अधिकार आएगा और उसमें निश्चयचारित्र कहा जाएगा। अहा! परम पञ्चम भाव में लीनता, वह निश्चयचारित्र है। अपना त्रिकाली परमात्मस्वरूप है, उसमें लीनता जमना, वह निश्चयचारित्र है और वह पञ्चम गति के हेतुभूत है।

देखो, व्यवहारचारित्र की बात में पञ्चम गति के हेतुभूत – ऐसे शब्द नहीं थे, जबकि यह निश्चयचारित्र, पञ्चम गति का हेतुभूत है–मोक्ष का कारण है – ऐसा कहते हैं। अन्दर परम पञ्चम भावमय ध्रुवस्वभाव है, उसमें लीनता होना, वह निर्विकारी–निर्विकल्पदशा / वीतराग परिणति है और वह निश्चयचारित्र है, जो कि पञ्चम गति का / मोक्ष का कारण है। परम पञ्चम भाव में, ध्रुव वह द्रव्य है और उसमें लीनता, वह वर्तमान वीतरागी परिणति है।

यहाँ देखो, परम चारित्र शुद्ध निश्चयनय का विषय है – ऐसा भेद से नहीं कहकर, वह परम चारित्र शुद्ध निश्चयनय स्वरूप है – ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि परम चारित्र की परिणति को भी शुद्ध निश्चयनयस्वरूप कहा है – ऐसा परम चारित्र देखने योग्य है, अनुभव करने योग्य है तथा ऐसी स्थिरता करने योग्य है और उसकी बात पाँचवें अधिकार में कहूँगा – ऐसा कहते हैं।

स्वरूप की रमणता, वह चारित्र है और उस चारित्र की प्रधानता इस मार्गप्रकाश ग्रन्थ के श्लोक में बतलाते हैं —

www.vitragvani.com



**जिसके बिना ( जिस चारित्र के बिना ) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार के भीतर पड़े हुए बीज ( अनाज ) समान हैं.....** जिस प्रकार कोठार में रहा हुआ बीज उगता नहीं है, पकता नहीं है; उसी प्रकार चारित्र के बिना मात्र अकेले सम्यग्दर्शन-ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती परन्तु चारित्र का परिणमन हो, तब मुक्ति होती है, यह कहते हैं। देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान को अनाज जैसा तो कहा परन्तु मात्र उससे ही मुक्तिरूपी फल नहीं आता - यह सिद्ध करते हैं। मुक्ति के लिए तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के साथ चारित्र की भी परिणति चाहिए। वह चारित्र न हो, तब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान कोठार में रहनेवाले अनाज / बीज जैसे हैं।

**.....उसी देव-असुर-मानव से स्तवन किये गये जैन चरण को ( ऐसा जो सुर -असुर मनुष्यों से स्तवन किया गया जिनोक्त चारित्र उसे ) मैं पुनः पुनः नमन करता हूँ।** जिसके बिना सम्यग्दर्शन और ज्ञान कोठार में रहे हुए बीज के समान है, उस चारित्र का स्वर्ग के देव, असुरदेव और मानव भी स्तवन करते हैं। यहाँ पशु और नारकी नहीं लिए गये हैं। यहाँ कहते हैं कि देव, अर्थात् वैमानिक देव; असुर, अर्थात् नीचे भवनों में रहनेवाले देव; और मानव इन सबसे स्तवन किये जानेवाले और परमेश्वर के द्वारा कथित जैन चारित्र है, उसे मैं पुनः-पुनः नमन करता हूँ।

अन्दर आनन्दस्वरूप में रमणतारूप चारित्र, वह जैन चारित्र है - ऐसा परमेश्वर ने कहा है और उसे मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ। स्वयं श्री पद्मप्रभमलधारिदेव भी चारित्रवन्त मुनि हैं और वे इस श्लोक का आधार देकर कहते हैं कि ऐसे चारित्र को मेरा बारम्बार नमन है, स्तवन है। यद्यपि मुझे (मुनि को) चारित्र का परिणमन तो है परन्तु अब विशेषरूप से उसमें रमण करता हूँ, स्थिरता प्रगट करता हूँ।

अहा! करने योग्य तो यह है। मार्ग / वस्तु तो यह है परन्तु अरे! अभी जो करना है, वह रह जाता है और जो नहीं करना है, वह अज्ञानी करता है। इस प्रकार अमूल्य भव गँवा देता है। अरे! अभी तो ऐसा वस्तुस्वरूप है - ऐसी श्रद्धा करने में भी उसे पसीना उतरता है। नहीं... नहीं... अभी तो व्यवहार ही होता है, शुद्धता नहीं होती - ऐसा अज्ञानी कहता है। परन्तु भाई! यदि अभी शुद्धता, अर्थात् निश्चय नहीं हो तो शुद्ध-निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हो तो शुभभाव को व्यवहार भी नहीं कहा जाता। निश्चय होने पर ही शुभभाव को व्यवहार कहा जाता है। अरे! अज्ञानी स्वयं

www.vitragvani.com



अपने को ठगता है और फिर भी मानता है कि हम कुछ लाभ में हैं। क्या हो सकता है? उसे कौन समझा सकता है? जगत् यूँ ही अनादि से लुटता चला आ रहा है।

यहाँ कहते हैं कि ऐसा जैन का चारित्र है और उस जैन चरण को, अर्थात् भगवान के द्वारा कथित चारित्र को, अहो! मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

## कलश १०७ पर प्रवचन

उपरोक्त श्लोक मार्गप्रकाश का था, उसका आधार देकर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा कि मार्गप्रकाश के कर्ता भी चारित्र को नमस्कार करते हैं और मैं भी चारित्र को नमस्कार करता हूँ। अब, मुनिराजश्री पद्मप्रभमलधारिदेव का अपना श्लोक —

**आचार्यों ने शील को ( निश्चयचारित्र को ) मुक्ति सुन्दरी के अनङ्ग ( अशरीरी ) सुख का मूल कहा है......** आचार्यों ने आत्मा के आनन्दस्वरूप में रमणतारूप चारित्र को परमानन्द की प्राप्ति ऐसी मुक्ति का अङ्गरहित–अशरीरी–आत्मिक–सुख का मूल कहा है। देखो, चारित्र का फल मुक्ति है – यह कहते हैं। स्वरूप का सम्यग्दर्शन, स्वरूप का ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होने के पश्चात् आनन्दस्वरूप में लीनता होना – ऐसा चारित्र, मोक्षरूपी सुन्दरी के अशरीरी सुख का मूल है – ऐसा आचार्यों ने कहा है।

**.....व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्परा कारण है।** देखो, व्यवहारचारित्र, मोक्ष का परम्परा कारण है, यह कहते हैं परन्तु यह किसके लिए है? जिसे निश्चयचारित्र है, उसके लिए है। अहा! व्यवहारस्वरूप चारित्र, मुक्ति का परम्परा कारण है, अर्थात् व्यवहारचारित्र को छोड़कर जब अन्दर स्थिर होगा, तब मुक्ति होगी – ऐसा स्वरूप है। भाई! अद्भुत बात है। अरे! पक्ष का व्यामोह बहुत हानिकारक है, जिसे पक्ष का व्यामोह है, वह अपने पक्ष की पुष्टि हो, तद्नुसार शास्त्र के अर्थ करता है और फिर भी कहता है कि हम भगवान के कहे अनुसार सही अर्थ करते हैं। भाई! ऐसे मिथ्या अभिप्राय से तुझे हानि होगी।

यहाँ कहते हैं कि व्यवहारस्वरूप चारित्र उसका परम्परा कारण है – किसका? मुक्तिरूपी सुन्दरी के अनङ्ग, अर्थात् अशरीरी सुख का व्यवहारचारित्र परम्परा कारण है परन्तु साक्षात् कारण नहीं है। मुक्ति के सुख का साक्षात् कारण तो यह निश्चयचारित्र है। अहा! व्यवहारचारित्र छूट कर फिर उग्र स्थिरता होगी, तब पूर्णानन्द की प्राप्तिरूप मुक्ति प्राप्त होगी और इसीलिए व्यवहारचारित्र को मुक्ति का परम्परा कारण कहा गया है। ●●

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.